MAPS-511

राजनीति विज्ञान के मूल सिद्धांत

(Fundamental Principles of Political Science)

राजनीति विज्ञान विभाग

(समाज विज्ञान विद्याशाखा)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्याल

MAPS-511

राजनीति विज्ञान के मूल सिद्धांत

(Fundamental Principles of Political Science)

समाज विज्ञान विद्या शाखा

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठयक्रम समिति

प्रो. गिरिजा प्रसाद पाण्डे, निदेशक –समाज विज्ञान विद्या शाखा, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल	**प्रो.मदन मोहन जोशी, निदेशक (कार्यवाहक) –समाज विज्ञान विद्या शाखा,**उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी
प्रो.एम.एम सेमवाल राजनीति विज्ञान विभाग हेमवती नंदन बहुगुणा केन्द्रीय गढ़वाल विश्वविद्यालय श्रीनगर, गढ़वाल	**प्रो.दुर्गाकान्त चौधरी** राजनीति विज्ञान विभाग श्रीदेव सुमन विश्वविद्यालय, ऋषिकेश परिसर, ऋषिकेश
प्रो. सतीश कुमार राजनीति विज्ञान विभाग, इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली	**डॉ. घनश्याम जोशी** असिस्टेंट प्रोफेसर लोक प्रशासन , उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल
डॉ. लता जोशी , असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	**डॉ. आरूशी,** असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल

पाठ्यक्रम संयोजन एवं सम्पादन

डॉ. लता जोशी, असिस्टेन्ट प्रोफेसर (एसी), राजनीति विज्ञान , उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल

इकाई लेखक **इकाई संख्या**

डॉ. घनश्याम जोशी, लोकप्रशासन विभाग, असिस्टेंट प्रोफेसर लोक प्रशासन, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल.	6,7,10, 11,
डॉ. लता जोशी, राजनीति विज्ञान, असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान ,उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी	12,13,14
डॉ आरुशी, राजनीति विज्ञान, असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान ,उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी	8, 9
नियति रावत ,राजनीति विज्ञान, असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान ,उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी	3, 4
हिमांशु पुनेठा , राजनीति विज्ञान, असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान ,उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी	1, 2
दिग्विजय सिंह पठनी, राजनीति विज्ञान, असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान ,UOU, हल्द्वानी, नैनीताल	5

आई.एस.बी.एन. -----------

कापीराइट @उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,प्रकाशन वर्ष -2025

Published by : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी, नैनीताल 263139

Printed at :-----------------------------------

संस्करण:2025, सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन की प्रति।

सर्वाधिकार सुरक्षित | इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए विना मिमियोग्रफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है

मुद्रित प्रतियां

इकाई संख्या	**इकाई का नाम**	**पेज संख्या**
1	राजनीति विज्ञान : अर्थ, परिभाषा,क्षेत्र एवं प्रकृति	1-22
2	राजनीति विज्ञान : सिद्धांत एवं लक्ष्य	23-40
3	राजनीति विज्ञान के अध्ययन के उपागम	41-54
4	राजनीति विज्ञान के आधुनिक उपागम	55-66
5	राज्य की प्रकृति व उत्पत्ति का सिद्धांत	67-86
6	राज्य के कार्य का सिद्धांत	87-107
7	संप्रभुता की संकल्पना व सिद्धांत	108-126
8	स्वतंत्रता	127-152
9	समानता	153-174
10	अधिकार	175-193
11	कानून एवं न्याय	194-209
12	शक्ति, सत्ता और वैधता	210-230
13	लोकतन्त्र का अर्थ, परिभाषा एवं औचित्य	231-256
14	लोकतंत्र की विविध अवधारणाएं	257-278

इकाई 1 राजनीतिक विज्ञान की परिभाषा, क्षेत्र एंव प्रकृति

इकाई संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 राजनीति विज्ञान: अर्थ एवं परिभाषा

1.4 राजनीति विज्ञान: प्रकृति

1.5 राजनीति विज्ञान: क्षेत्र

1.6 नाम-विभेद

1.7 राजनीति विज्ञान के उपागम और पद्धति

1.8 निष्कर्ष

1.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

राजनीति विज्ञान की प्राचीनता एक निर्विवाद सत्य है। यह ऐसा विषय है जिसने मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ निरंतर रूप से अपने स्वरूप, दृष्टिकोण और अध्ययन पद्धतियों में परिवर्तन किया है। यूनान के महान दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू ने इस विषय को जो वैचारिक नींव प्रदान की, वह आज भी राजनीतिक चिंतन की आधारशिला मानी जाती है। यूनानी सभ्यता में पोलिस (*Polis)* अर्थात नगर-राज्य, राजनीतिक क्रियाओं के केंद्र हुआ करते थे और वहीं से पॉलिटिक्स (*Politics)* शब्द जन्मा। यही कारण है कि यूनानियों को राजनीति विज्ञान का जन्मदाता कहा जाता है।

जैसे-जैसे समाज का स्वरूप बदला, राजनीतिक संरचनाएं भी बदलीं। नगर-राज्यों की अवधारणा धीरे-धीरे विलुप्त हो गई और उनके स्थान पर राष्ट्र-राज्यों का उदय हुआ। इस परिवर्तन ने राजनीति विज्ञान को भी एक व्यापक और अधिक व्यवस्थित शैक्षणिक अनुशासन के रूप में विकसित किया।

राजनीति विज्ञान के अध्ययन को अधिक सुव्यवस्थित रूप देने के लिए विद्वानों ने इसके विकास को दो प्रमुख चरणों में विभाजित किया है - परम्परागत राजनीति विज्ञान और आधुनिक राजनीति विज्ञान। सामान्यतः 1903 ई. को इस विभाजन की एक रूपरेखा के रूप में देखा जाता है, जब राजनीति विज्ञान में *व्यवहारवादी दृष्टिकोण (Behavioural Approach* के बीज पड़ने लगे और विषय की प्रकृति में निर्णायक परिवर्तन दिखाई देने लगे।

परम्परागत राजनीति विज्ञान मुख्यतः आदर्शवाद, संस्थागत अध्ययन और ऐतिहासिक पद्धति पर आधारित था। यह 'क्या होना चाहिए' की दृष्टि से राजनीतिक मूल्यों, विचारधाराओं और संस्थाओं का विवेचन करता था। इसमें तुलनात्मकता और अनुभवजन्यता की अपेक्षा सीमित थी। इसके विपरीत, आधुनिक राजनीति विज्ञान ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण, तुलनात्मक अध्ययन, अनुभवजन्य पद्धति, सांख्यिकीय विश्लेषण और व्यवहारवादी प्रवृत्तियों को महत्व दिया।

1903 ई. के बाद विषय के स्वरूप में जो परिवर्तन आए, वे केवल पद्धति तक सीमित नहीं थे, बल्कि उन्होंने राजनीति विज्ञान की प्रकृति, परिभाषा, अनुसंधान क्षेत्र और अध्ययन की दिशा को भी बदल दिया। यही कारण है कि परम्परागत और आधुनिक राजनीति विज्ञान के बीच केवल एक काल-रेखा नहीं, बल्कि दृष्टिकोण और विधियों का स्पष्ट वैचारिक अंतर देखा जाता है।

यह इकाई राजनीति विज्ञान के इसी ऐतिहासिक और बौद्धिक विकास को समझने की एक गंभीर कोशिश है। यह न केवल राजनीति विज्ञान की वैचारिक नींव को समझने का अवसर प्रदान करेगी, बल्कि यह भी स्पष्ट करेगी कि किसी भी शैक्षणिक अनुशासन का विकास समय, समाज और विधियों के साथ कैसे और क्यों बदलता है। इकाई का उद्देश्य केवल विषय की ऐतिहासिक जानकारी देना नहीं है, बल्कि विद्यार्थियों को यह भी सिखाना है कि राजनीतिक विचारों का क्रमिक विकास किस प्रकार समकालीन विश्व की राजनीतिक जटिलताओं को समझने में मदद करता है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हम -

- राजनीति विज्ञान की मूल अवधारणा को समझ सकेंगे और यह कैसे अन्य सामाजिक विज्ञानों से भिन्न और जुड़ा हुआ है जान सकेंगे।
- राजनीति विज्ञान की प्रकृति, क्षेत्र तथा व्यवहारिक पहलुओं को समझ सकेंगे।
- राजनीति विज्ञान में प्रयुक्त प्रमुख उपागमों को जान सकेंगें।
- विभिन्न उपागमों की विशेषताएं, सीमाएं और प्रासंगिकता का विश्लेषण कर सकेंगे।

1.3 राजनीति विज्ञान : अर्थ एवं परिभाषा

राजनीति विज्ञान की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा तय करना कठिन है। इसका प्रमुख कारण दो बातें हैं - एक, एकरूप शब्दावली का अभाव और दूसरा, इस विषय को परिभाषित करने वाले विद्वानों के दृष्टिकोणों में गहराई से निहित भिन्नताएँ। गार्नर ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिकल साइंस एंड गवर्नमेंट' (*Political Science and Government,*1928) में इस भ्रम की ओर इशारा करते हुए लिखा कि, "यह खेद जनक है कि राजनीति विज्ञान में अब तक कोई सुनिश्चित शब्दावली नहीं बन पाई है, जिससे अक्सर भ्रम और गलतफहमी उत्पन्न होती है, जबकि अन्य विज्ञानों में यह स्पष्ट होती है।"
राजनीति विज्ञान को समझने के लिए उसकी परिभाषाओं को दो व्यापक धाराओं में बाँटा जाता है - परम्परागत परिभाषाएँ एवं आधुनिक परिभाषाएँ ।

1. परम्परागत परिभाषाएँ - बीसवीं सदी से पहले का राजनीति विज्ञान 'परम्परागत' माना जाता है। परम्परागत दृष्टिकोण में राजनीति विज्ञान का अध्ययन मुख्यतः राज्य, सरकार, संविधान, राजनीतिक संस्थानों पर केन्द्रित थी। इसीलिए इसे राज्य-केंद्रित दृष्टिकोण भी कहा जाता है। इसके अध्ययन के मुख्य प्रश्न इस प्रकार होते हैं जैसे राज्य क्या है? सरकार क्या है? राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई? सरकार का संगठन कैसा होना चाहिए? राज्य के उद्देश्य क्या हैं? इन प्रश्नों के उत्तर अधिकतर मानक (Normative) और आदर्शवादी दृष्टिकोण से दिए जाते थे। इस दौर में राजनीति को दर्शन, आचारशास्त्र और कानूनी संस्थाओं के अध्ययन से जोड़कर देखा गया। इसलिए इसमें केवल राजनीतिक संस्थाओं की वास्तविक संरचना का अध्ययन ही नहीं, बल्कि यह विचार करना भी महत्वपूर्ण था कि एक आदर्श राज्य कैसा होना चाहिए, न्यायपूर्ण शासन किसे कहते हैं और शासकों

को किस प्रकार शासन करना चाहिए। प्लेटो की ‘द रिपब्लिक’(The Republic), अरस्तू की ‘पॉलिटिक्स’(Politics), सेंट थॉमस एक्वीनास की 'डी रेजिमाइन प्रिन्सिपम'(De Regimine Principum), इमैनुअल कांट की प्रसिद्ध रचना ‘परपेचुअल पीस’(Perpetual Peace), और हीगल की 'एलीमेंट्स ऑफ द फिलॉसफी ऑफ राइट' (Elements of the Philosophy of Right) 1821 इस परंपरा की प्रमुख दार्शनिक कृतियाँ हैं।

परम्परागत दृष्टिकोण की तीन प्रमुख परिभाषात्मक धाराएँ उभरती हैं-

i) राज्य का अध्ययन:

- गार्नर (*Introduction to Political Science*, 1910): “राजनीति विज्ञान की शुरुआत और अंत राज्य -से होता है।”
- ब्लंटशली: "यह राज्य के स्वरूप, स्वरचना और विकास का अध्ययन है।"
- गैरीज: “यह राज्य की उत्पत्ति, उद्देश्य और समस्याओं का विवेचन करता है।”

ii) सरकार का अध्ययन:

- सीले (*Introduction to Political Science*, 1896): “जैसे जीवविज्ञान जीवन का अध्ययन है, वैसे ही राजनीति विज्ञान सरकार का।”
- लीकॉक (*Elements of Political Science*, 1921): “यह सरकार की संरचना और क्रियावली से संबंधित अध्ययन है।”

iii) राज्य और सरकार दोनों का अध्ययन:

- गिलक्राइस्ट (*Principles of Political Science*, 1939): “राजनीति विज्ञान वस्तुतः राज्य और सरकार दोनों की समस्याओं का अध्ययन करता है।”
- डिमॉक और प्रो. आशिर्वादम भी इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।
- लॉस्की ‘ग्रामर ऑफ़ पोलिटिक्स’(*Grammar of Politics*, 1925): “राज्य और सरकार की परस्पर क्रियाशीलता को समझे बिना राजनीतिक प्रक्रिया का सम्यक ज्ञान संभव नहीं।”

2. आधुनिक परिभाषाएँ

आधुनिक राजनीति विज्ञान का उदय 20वीं सदी की शुरुआत में अनुभवजन्य और व्यवहारिक दृष्टिकोणों के साथ हुआ।'अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस एसोसिएशन' (*American Political Science Association)* की स्थापना (1903), और'अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यु' (*American Political Science Review)* (1906) का प्रकाशन इस बदलाव के संकेतक थे।

चार्ल्स मेरियम की'न्यू आस्पेक्ट्स ऑफ़ पॉलिटिक्स' (*New Aspects of Politics* (1925), लॉवेल की'पब्लिक ओपिनियन एंड पोपुलर गवर्नमेंट' (*Public Opinion and Popular Government* (1913), और बेंटले की'द प्रोसेस ऑफ़ गवर्नमेंट' (*The Process of Government* (1908) जैसी कृतियों ने परंपरागत पद्धतियों को चुनौती दी और राजनीति को 'वर्तमान में कार्यरत व्यवस्था' के रूप में देखने का आग्रह किया।

आधुनिक परिभाषाएँ चार धाराओं में रखी जा सकती हैं-

i) मानवीय क्रियाओं का अध्ययन:

- कैटलिन (*The Science and Method of Politics*, 1930): "यह संगठित मानव समाज के राजनीतिक पहलुओं का अध्ययन है।"
- हर्ड और हटिंगटन जैसे व्यवहारवादियों ने भी राजनीति को सामाजिक-राजनीतिक क्रियाओं की वैज्ञानिक पड़ताल कहा।

ii) शक्ति का अध्ययन:

लॉस्वेल (*Politics: Who Gets What, When, How*, 1936): "राजनीति शक्ति के वितरण की प्रक्रिया है।"

- मैक्स वेबर: "यह शक्ति के लिए संघर्ष है।"
- मार्गेन्थाऊ (*Politics Among Nations*, 1948): "राजनीति शक्ति के प्रयोग का शास्त्र है।"

iii) राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन:

- डेविड ईस्टन (*A Framework for Political Analysis*, 1965): “राजनीतिक व्यवस्था मूल्य वितरण की वैध प्रक्रिया है।”
- गैब्रियल आमण्ड (*The Civic Culture*, 1963): "राजनीतिक व्यवस्था वह संरचना है जो समाज में एकीकरण सुनिश्चित करती है।"

iv) निर्णय-निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन:

- हर्बर्ट साइमन (*Administrative Behaviour*, 1947), स्नाइडर और वक्र जैसे विद्वानों ने निर्णय प्रक्रिया को राजनीतिक व्यवहार की केंद्रीय धुरी माना।

राजनीति विज्ञान की परिभाषाएँ इस विषय की बहुआयामी प्रकृति को उजागर करती हैं। परम्परागत परिभाषाएँ जहाँ राज्य और संस्थाओं पर केंद्रित थीं, वहीं आधुनिक दृष्टिकोणों ने शक्ति, प्रक्रिया, व्यवहार और निर्णय जैसे पहलुओं को केंद्र में रखा।

इन दोनों धाराओं का समुचित अध्ययन शिक्षार्थियों को यह समझने में सहायक होता है कि राजनीति विज्ञान एक स्थिर विषय नहीं, बल्कि बदलते सामाजिक, आर्थिक और वैश्विक संदर्भों में निरंतर विकसित होने वाला जीवंत अनुशासन है।

1.4 राजनीति विज्ञान : प्रकृति

राजनीति विज्ञान की प्रकृति को लेकर लंबे समय से यह बहस जारी है कि यह **कला है या विज्ञान**, या दोनों। परम्परागत राजनीति विज्ञान में इसे मुख्यतः एक **कला** माना गया, जबकि आधुनिक राजनीति विज्ञान में इसके**विज्ञान**स्वरूप पर ज़ोर दिया गया।

1. परम्परागत परिप्रेक्ष्य में राजनीति विज्ञान की प्रकृति:

परम्परागत दृष्टिकोण में राजनीति विज्ञान को एक मूल्यप्रधान, व्यवहारिक और कौशल आधारित कलाके रूप में देखा गया। प्लेटो, अरस्तू, गैटल, ब्लंटशली आदि ने इसे राज्य संचालन की एक कला माना।

कला मानने के आधार:

- यह मानव व्यवहार से जुड़ा विषय है, जो अनुभव और व्यावहारिकता पर आधारित है।
- इसमें स्थायी सिद्धांत नहीं, बल्कि परिस्थितियों के अनुसार बदलते नियम होते हैं।
- शक्ति पृथक्करण, दलीय व्यवस्था, लोकमत जैसे सर्वमान्य ढांचे इसी सोच का परिणाम हैं।
- यह आदर्शों पर आधारित है - जैसे प्लेटो का न्याय राज्य या रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धांत।

परम्परागत राजनीति विज्ञान में तर्क कम, मूल्य अधिक, और अनुभव अधिक महत्वपूर्ण माने गए, जिससे यह विज्ञान की अपेक्षा कला अधिक रहा।

2. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में राजनीति विज्ञान की प्रकृति:

1903 के बाद, खास कर व्यवहारवाद के आगमन के साथ राजनीति विज्ञान के स्वरूप में वैज्ञानिकता आई। डेविड ईस्टन, गेब्रियल आलमंड, कार्ल डॉयच, हेरोल्ड लास्की आदि ने इसे सामाजिक विज्ञान के रूप में विकसित किया।

विज्ञान मानने के तर्क:

- राजनीतिक घटनाओं का अध्ययन अनुभवजन्य (empirical) और व्यवस्थित तरीकों से किया जाने लगा।
- आमण्ड का संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक मॉडल या ईस्टन का इनपुट-आउटपुट मॉडल इसके उदाहरण हैं।
- राजनीतिक संस्कृति, समाजीकरण, आधुनिकीकरण जैसे विषयों में मापन और विश्लेषण संभव हुआ।
- सांख्यिकीय विधियों, सर्वेक्षणों और डेटा विश्लेषण का उपयोग बढ़ा।

फिर भी कुछ सीमाएँ बनी रहीं:

- राजनीति विज्ञान की शब्दावली अस्पष्ट है (जैसे न्याय, स्वतंत्रता)।
- सार्वभौमिक सिद्धांतों की कमी है - कोई एक व्यवस्था सभी समाजों पर लागू नहीं होती।

- प्रयोगशाला परीक्षण की संभावनाएँ सीमित हैं, और पूर्ण भविष्यवाणी संभव नहीं।

आधुनिक राजनीति विज्ञान**कला से अधिक विज्ञान है**, लेकिन यह**प्राकृतिक विज्ञान**जैसा नहीं, बल्कि**सामाजिक विज्ञान**की श्रेणी में आता है - जहाँ नियम कठोर नहीं, संदर्भ आधारित होते हैं।

राजनीति विज्ञान की प्रकृति समय और दृष्टिकोण के साथ बदली है।

- **परम्परागत दृष्टिकोण**में यह**मूल्य आधारित कला**थी - आदर्श और सिद्धांत प्रधान।
- **आधुनिक दृष्टिकोण**में यह**आँकड़ों और तथ्यों पर आधारित सामाजिक विज्ञान**है - अधिक वस्तुनिष्ठ और विश्लेषणपरक।

इसलिए कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान न तो पूरी तरह कला है, न ही शुद्ध विज्ञान - यह एक**व्यवहारिक, अनुभवजन्य और संदर्भ-निर्भर सामाजिक विज्ञान**है, जिसमें कला और विज्ञान दोनों के तत्व मिलते हैं, लेकिन समय के साथ विज्ञान की ओर उसका झुकाव बढ़ा है।

1.5 राजनीति विज्ञान : क्षेत्र (SCOPE OF POLITICAL SCIENCE)

किसी भी अनुशासन के अध्ययन-क्षेत्र का निर्धारण यह स्पष्ट करता है कि उस विषय में क्या-क्या पढ़ा जाएगा, किस सीमा तक, और किन उद्देश्यों के साथ। राजनीति विज्ञान का क्षेत्र निश्चित करना अपेक्षाकृत जटिल कार्य है, क्योंकि यह अनुशासन समय के साथ लगातार बदलता रहा है-कभी संकुचित हुआ, कभी अत्यन्त व्यापक।

अध्ययन की सुविधा के लिए इसके क्षेत्र को**दो दृष्टिकोणों**में बाँटा जा सकता है:

(अ) परम्परागत दृष्टिकोण में राजनीति विज्ञान का क्षेत्र

प्राचीन यूनानी दर्शन में राजनीति विज्ञान का स्वरूप व्यापक था, क्योंकि उस समय राज्य केवल एक राजनीतिक संस्था नहीं, बल्कि नैतिक और सामाजिक संस्था भी था। राज्य और समाज के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं था। इसलिए राजनीति विज्ञान मानव जीवन के लगभग हर पहलू को समाहित करता था।

प्रमुख बिंदु:

- **अरस्तू**ने इसे "सर्वोच्च विज्ञान" (Master Science) कहा, क्योंकि यह अन्य सभी सामाजिक विषयों को निर्देशित करता था।
- *गैटिल*, *गार्नर*, *गिलक्राइस्ट*जैसे विचारकों ने राज्य को इसकी अध्ययन इकाई माना।
- *कैटलिन*के अनुसार, अरस्तू ने राज्य के साथ-साथ दास प्रथा, धार्मिक संगठन, आर्थिक संस्थानों और यहां तक कि कर्मचारियों के संगठनों तक को इसके क्षेत्र में शामिल किया।
- *बोदें*ने सम्प्रभुता की अवधारणा को जोड़कर राजनीति विज्ञान को कानूनी रूप से परिभाषित किया।

फ्रेडरिक पोलकने परम्परागत राजनीति विज्ञान को दो भागों में बाँटा:

1. **सैद्धांतिक राजनीति**: राज्य, संप्रभुता, अधिकार जैसे अमूर्त सिद्धांतों का अध्ययन।
2. **व्यावहारिक राजनीति**: सरकारों की संस्थागत संरचना और कार्यप्रणाली का अध्ययन।

मुख्य विषय क्षेत्र (परम्परागत):

1. राज्य की उत्पत्ति, तत्व, उद्देश्य और कार्य
2. सरकार के विभिन्न स्वरूप (संसदीय, राष्ट्रपति, संघीय आदि)
3. राजनीतिक विचारधाराएँ (उदारवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद आदि)
4. अंतर्राष्ट्रीय विधि व संगठन
5. राष्ट्रीय और स्थानीय शासन तथा समसामयिक समस्याएँ

परम्परागत दृष्टिकोण में राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अपेक्षाकृत **नियत, संस्था-केंद्रित और मूल्यप्रधान** था।

(ब) आधुनिक दृष्टिकोण में राजनीति विज्ञान का क्षेत्र

द्वितीय विश्व युद्धके बाद राजनीति विज्ञान की प्रकृति और क्षेत्र, दोनों में उल्लेखनीय परिवर्तन आया। इसका मुख्य कारण था**व्यवहारवादी क्रांति** (Behavioral Revolution), जिसने

राजनीति को केवल राज्य और सरकार तक सीमित न रखकर, मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार और निर्णय-प्रक्रियाओं तक विस्तारित कर दिया।

प्रमुख बिंदु:

- *डेविड ईस्टन*ने राजनीति को एक 'राजनीतिक व्यवस्था' के रूप में देखा, जो समाज की अन्य व्यवस्थाओं के समान ही एक गतिशील इकाई है।
- *रॉबर्ट डहल*, *ग्रहाम वालास*और*हरबर्ट साइमन*जैसे विद्वानों ने राजनीतिक प्रक्रिया, नीति-निर्माण और राजनीतिक सहभागिता को अध्ययन के केंद्र में रखा।
- राजनीति विज्ञान अब अंतःअनुशासनात्मक हो गया है - समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि से इसका गहन संवाद है।

मुख्य विषय क्षेत्र (आधुनिक):

1. राजनीतिक व्यवस्था और उसकी कार्यप्रणाली
2. मानवीय व्यवहार, चुनाव, जनमत और नेतृत्व की मनोवैज्ञानिक समझ
3. सत्ता, प्रभुत्व और वैधता की अवधारणाएँ
4. दबाव समूह, मीडिया, NGOs जैसे गैर-राजनीतिक संस्थाओं की भूमिका
5. नीति-निर्माण, क्रियान्वयन और मूल्यांकन की प्रक्रिया
6. तुलनात्मक राजनीति और अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
7. राजनीतिक संस्कृति, समाजीकरण और आधुनिकीकरण

आधुनिक दृष्टिकोण में राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अधिक**व्यवहारिक, अनुभवजन्य (empirical) और प्रक्रिया-केंद्रित**हो गया है।

राजनीति विज्ञान का क्षेत्र स्थिर नहीं है; यह समय, समाज और तकनीकी विकास के साथ बदलता रहा है।

पक्ष	परम्परागत दृष्टिकोण	आधुनिक दृष्टिकोण
इकाई	राज्य और सरकार	राजनीतिक व्यवस्था और व्यवहार
दृष्टिकोण	मानवीय मूल्य, आदर्श	वैज्ञानिक, अनुभवजन्य
विधियाँ	वर्णनात्मक, ऐतिहासिक	तुलनात्मक, सांख्यिकीय
सीमा	सीमित, संस्थागत	व्यापक, अंतःअनुशासनात्मक
प्रमुख विचारक	प्लेटो, अरस्तू, बोदें	ईस्टन, डहल, आलमंड

आज के दौर में राजनीति विज्ञान न तो केवल सत्ता की पड़ताल है और न ही सिर्फ आदर्शों का विवेचन। यह उन सभी प्रक्रियाओं का विश्लेषण है जिनके माध्यम से निर्णय लिए जाते हैं, लागू होते हैं, और जनता उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करती है। यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता और चुनौती दोनों है।

1.6 नाम-विभेद (Terminological Distinction)

राजनीति विज्ञान की प्रकृति और परिभाषा के साथ-साथ उसके*नामकरण*को लेकर भी विद्वानों के बीच मतभेद रहा है। समय, संदर्भ और विचारधारा के अनुसार इस विषय को अलग-अलग नाम दिए गए हैं-जैसे**राजनीति**, **राजनीतिक दर्शन**, और**राजनीति विज्ञान**। ये नाम केवल शब्द नहीं हैं, बल्कि वे इस विषय को देखने-समझने के अलग-अलग ढंग को दर्शाते हैं।

1. राजनीति (Politics)

'राजनीति' शब्द सबसे पहले अरस्तू ने उपयोग में लिया। यह यूनानी शब्द*Polis* (नगर-राज्य) से निकला है। अरस्तू ने इसे **'मास्टर साइंस'** कहा, क्योंकि उस समय सभी सामाजिक गतिविधियाँ राज्य के दायरे में आती थीं।

आधुनिक विद्वान-जैसे सिडविक, लास्की, और विल्सन-भी 'राजनीति' शब्द को मान्यता देते हैं और इसे राज्य और व्यक्ति के संबंधों के व्यवहारिक तथा सैद्धांतिक अध्ययन के रूप में देखते हैं।

फ्रेडरिक पोलक ने इसे दो भागों में बाँटा:

- **Theoretical Politics** - जिसमें राज्य, संप्रभुता, अधिकार जैसे विचार आते हैं
- **Applied Politics** - जिसमें लोकतंत्र, प्रतिनिधित्व, चुनाव, न्यायिक प्रक्रिया जैसे व्यावहारिक पक्ष शामिल होते हैं

हालांकि, कुछ विद्वानों (जैसे गार्नर) का मानना है कि 'राजनीति' शब्द व्यवहारिक घटनाओं तक सीमित है और यह विषय की वैज्ञानिक और सैद्धांतिक प्रकृति को सही ढंग से नहीं दर्शाता। इसके अलावा, आज 'राजनीति' शब्द आमतौर पर नकारात्मक अर्थों (जैसे जोड़-तोड़, षड्यंत्र) में इस्तेमाल होता है, जिससे इसे एक अकादमिक अनुशासन के रूप में स्वीकार करना जटिल हो गया है।

2. राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy)

यह नाम उन चिंतनधाराओं को सामने लाता है जो राजनीति को **मूल्यपरक और आदर्शों** से जोड़कर देखती हैं। प्लेटो, रूसो, लॉक, मार्क्स जैसे चिंतकों ने स्वतंत्रता, समानता, न्याय, दायित्व जैसे अवधारणाओं को राजनीति के केन्द्र में रखा।

ग्रिलक्राइस्ट जैसे विद्वानों के अनुसार, दर्शन राजनीति की नींव है क्योंकि यह 'क्या होना चाहिए' का प्रश्न उठाता है।

लेकिन आलोचकों का मत है कि दर्शन केवल **आदर्शों की खोज** है और इसमें व्यवहारिक यथार्थ का अभाव होता है। दर्शन में वैज्ञानिकता, प्रमाणिकता और अनुभवजन्य विश्लेषण की कमी मानी जाती है, जिससे यह नाम आधुनिक राजनीति विज्ञान की प्रकृति के साथ मेल नहीं खाता।

3. राजनीति विज्ञान (Political Science)

आज सबसे व्यापक और स्वीकार्य नाम **राजनीति विज्ञान** है। इस नाम ने न केवल राजनीति के सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों पहलुओं को समेटा है, बल्कि इसे एक**सामाजिक विज्ञान** के रूप में व्यवस्थित अध्ययन का दर्जा भी दिया है।

इस नाम को लोकप्रिय बनाने में विलियम गॉडविन और मेरी वोल्स्टनक्राफ्ट का योगदान रहा। साथ ही गार्नर, ग्रिलक्राइस्ट और सीले जैसे विद्वानों ने भी इसे सर्वाधिक उपयुक्त माना।

इस नाम के अंतर्गत राजनीति का अध्ययन **तार्किक, क्रमबद्ध, अनुभवजन्य और विश्लेषणात्मक** दृष्टिकोण से किया जाता है। यह दृष्टिकोण इसे अन्य सामाजिक विज्ञानों (जैसे समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान) के समकक्ष स्थापित करता है।

तीनों नाम-'राजनीति', 'राजनीतिक दर्शन' और 'राजनीति विज्ञान'-अपने-अपने ऐतिहासिक और वैचारिक संदर्भों में उपयोगी हैं, लेकिन समकालीन शैक्षणिक और शोधपरक दृष्टिकोण से *'राजनीति विज्ञान'* नाम सबसे उपयुक्त माना जाता है। यह न केवल विषय की व्यापकता और वैज्ञानिक प्रकृति को दर्शाता है, बल्कि इसे एक स्वतंत्र और सम्मानित अनुशासन के रूप में भी स्थापित करता है।

1.7 राजनीति विज्ञान के उपागम और पद्धति (Approaches and Methods of Political Science)

राजनीति विज्ञान का अध्ययन कोई एकरेखीय या स्थिर प्रक्रिया नहीं है। यह एक ऐसा विषय है जो सत्ता, राज्य, सरकार, संस्थाएँ, विचारधाराएँ और मानव व्यवहार-इन सबके जटिल अंतर्संबंधों को समझने का प्रयास करता है। समय, समाज और संस्कृति के बदलावों के साथ इस विषय को समझने के तरीकों में भी परिवर्तन आता रहा है। इन तरीकों या दृष्टिकोणों को हम**उपागम**

(Approaches)कहते हैं। उपागम न केवल अध्ययन की दिशा तय करते हैं, बल्कि यह भी प्रभावित करते हैं कि हम किन प्रश्नों को महत्त्व देंगे और किन्हें उपेक्षित करेंगे।

उपागम क्या होता है?

उपागम एक वैचारिक ढाँचा या सोचने की प्रविधि है, जिसके माध्यम से किसी विषय-वस्तु को देखा और समझा जाता है। यह वैसा ही है जैसे हाथी को छूने वाले अंधों की कहानी-हर कोई अपनी स्थिति से कुछ सच बता रहा होता है, पर पूर्ण सत्य तब ही सामने आता है जब सारे दृष्टिकोणों को समग्रता में लिया जाए। राजनीति विज्ञान में भी विभिन्न उपागम कुछ पक्षों को उजागर करते हैं, पर संपूर्णता एक समन्वयवादी दृष्टिकोण से ही संभव होती है।

नीचे परम्परागत और आधुनिक उपागमों को उनके योगदान, सीमाओं और दृष्टिकोण के आधार पर विस्तार से प्रस्तुत किया गया है:

I. परम्परागत उपागम (Traditional Approaches)

ये उपागम मुख्यतः**मूल्यपरक, आदर्शवादी और संस्थागत**प्रकृति के होते हैं। इनका जोर इस बात पर होता है कि राजनीति कैसी होनी चाहिए। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक यही उपागम मुख्यधारा में थे।

1. दार्शनिक उपागम (Philosophical Approach)

- **दृष्टिकोण:**राजनीति को नैतिक मूल्यों और आदर्शों के माध्यम से समझने की कोशिश।
- **प्रमुख चिंतक:**प्लेटो, अरस्तू, कांट, हीगेल, रूसो
- **केंद्र:**न्याय, स्वतंत्रता, समानता जैसे आदर्शों की खोज
- **सीमा:**अत्यधिक आदर्शवाद; व्यवहारिक राजनीति की अनदेखी

2. ऐतिहासिक उपागम (Historical Approach)

- **दृष्टिकोण:**संस्थाओं और विचारों के विकासक्रम को इतिहास की पृष्ठभूमि में समझना।
- **प्रमुख नाम:**मैकियावेली, बर्क, टॉयनबी

- **योगदान:**संस्थाओं के उद्भव और परिवर्तन की प्रक्रिया स्पष्ट करता है।
- **सीमा:**वर्तमान की समस्याओं को सीधे हल नहीं कर पाता।

3. कानूनी-संस्थात्मक उपागम (Legal-Institutional Approach)

- **दृष्टिकोण:** राज्य, संविधान, विधि, कार्यपालिका, न्यायपालिका आदि की औपचारिक संरचना का अध्ययन।
- **प्रमुख कृतियाँ:** प्लेटो की *Laws*, अरस्तू की *Politics*, ऑस्टिन का *Sovereignty*
- **सीमा:** अनौपचारिक शक्तियों, व्यवहारिक राजनीति और सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ की उपेक्षा

II. आधुनिक उपागम (Modern Approaches)

बीसवीं शताब्दी के मध्य से राजनीतिक अध्ययन में बदलाव आया और राजनीति विज्ञान को एक **अनुभवसिद्ध, यथार्थवादी और वैज्ञानिक अनुशासन** के रूप में पुनर्परिभाषित किया गया। अब ज़ोर इस पर था कि राजनीति जैसी "है", उसका वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया जाए।

1. व्यवहारवादी उपागम (Behavioural Approach)

- **प्रवर्तक:**डेविड ईस्टन, बेल्टले, कैटलिन
- **लक्ष्य:**राजनीति के व्यवहारिक पक्ष का अनुभवजन्य अध्ययन
- **विधियाँ:**सर्वेक्षण, सांख्यिकी, साक्षात्कार
- **सीमा:**अत्यधिक वैज्ञानिकता की होड़ में नैतिक मूल्यों की उपेक्षा

2. उत्तर-व्यवहारवादी उपागम (Post-Behavioural Approach)

- **प्रवर्तक:**डेविड ईस्टन (1969 के बाद)
- **दृष्टिकोण:**राजनीति में सामाजिक प्रासंगिकता और नैतिक उत्तरदायित्व की वापसी
- **विशेषता:** 'प्रासंगिकता का नारा' (Relevance), 'सक्रियता का आग्रह'

3. मनोवैज्ञानिक उपागम (Psychological Approach)

- **चिंतक:** ग्राहम वालास, मैकडुगल
- **दृष्टिकोण:** मतदाता, नेता और सामाजिक समूहों के राजनीतिक निर्णयों के पीछे की मानसिक प्रवृत्तियाँ
- **सीमा:** सभी राजनीतिक क्रियाओं को केवल मनोवैज्ञानिक कारणों से नहीं समझा जा सकता

4. तुलनात्मक उपागम (Comparative Approach)

- **प्रवर्तक:**अरस्तू, आधुनिक युग में गेब्रियल आल्मंड
- **लक्ष्य:**विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों और व्यवहारों की तुलना
- **सीमा:**तुलनीय संदर्भों की अनुपस्थिति

5. समाजशास्त्रीय उपागम (Sociological Approach)

- **दृष्टिकोण:**जाति, धर्म, वर्ग, लिंग जैसे सामाजिक कारकों का राजनीति पर प्रभाव
- **प्रमुख चिंतक:**आमंड, पॉवेल
- **योगदान:**सत्ता और समाज के संबंधों की गहराई से पड़ताल

6. प्रणाली उपागम (Systems Approach)

- **प्रवर्तक:**डेविड ईस्टन
- **दृष्टिकोण:**राजनीति को एक 'इनपुट-आउटपुट' प्रक्रिया के रूप में देखना
- **विशेषता:**राजनीति की पारिस्थितिक (Ecological) समझ

7. संरचनात्मक-कार्यात्मक उपागम (Structural-Functional Approach)

- **प्रवर्तक:**गेब्रियल आल्मंड, टाल्कोट पार्सन्स
- **दृष्टिकोण:**हर संस्था की एक विशिष्ट भूमिका होती है, जो व्यापक व्यवस्था को बनाए रखती है

- **सीमा:**यह मानकर चलता है कि सभी समाजों में एक जैसी संस्थाएँ मौजूद हैं

8. सांख्यिकीय/वैज्ञानिक उपागम (Statistical/Scientific Approach)

- **उपकरण:**आंकड़े, ग्राफ, चार्ट, मॉडल
- **लक्ष्य:**निष्कर्षों को वस्तुनिष्ठ और मापन योग्य बनाना
- **सीमा:**सामाजिक व्यवहार को मात्र आँकड़ों में सीमित करना अक्सर अधूरी व्याख्या देता है

9. मार्क्सवादी उपागम (Marxist Approach)

- **प्रवर्तक:**कार्ल मार्क्स, एंगेल्स
- **मूल विचार:**राज्य पूँजीपतियों का उपकरण है; राजनीति को अर्थव्यवस्था नियंत्रित करती है
- **सिद्धांत:**वर्ग संघर्ष, अधिरचना, शोषण
- **सीमा:**सत्ता के विविध स्वरूपों और लोकतांत्रिक संभावनाओं की उपेक्षा

तुलनात्मक सारणी:- परम्परागत बनाम आधुनिक उपागम

पक्ष	परम्परागत उपागम	आधुनिक उपागम
दृष्टिकोण	आदर्शवादी, मूल्यपरक	यथार्थवादी, अनुभवजन्य
विधियाँ	दार्शनिक, ऐतिहासिक, कानूनी	सर्वेक्षण, सांख्यिकी, तुलनात्मक
केंद्र	राज्य, सरकार, संविधान	सत्ता, व्यवहार, समूह, प्रक्रिया
आलोचना	यथार्थ से कटे, सीमित क्षेत्र	मूल्यहीन, अति-वैज्ञानिक

राजनीति विज्ञान की प्रकृति बहुआयामी और बहुसरणीय है। कोई एक उपागम राजनीति की समग्र समझ नहीं दे सकता। जहां परम्परागत उपागम हमें राजनीति के मूल्यों और संस्थागत स्थायित्व की ओर ले जाते हैं, वहीं आधुनिक उपागम व्यवहार, प्रक्रियाओं और सामाजिक संदर्भों की गहराई में ले जाते हैं।

एक परिपक्व अध्येता के लिए आवश्यक है कि वह किसी एक उपागम तक सीमित न रहे, बल्कि विषय की जटिलताओं के अनुरूप उपागमों का समावेशी और आलोचनात्मक उपयोग करे। यही विवेकपूर्ण दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान को जीवंत, प्रासंगिक और उत्तरदायी बनाता है।

अभ्यास प्रश्न

1.राजनीति विज्ञान की परिभाषा के संबंध में निम्न में से कौन-सा कथन सही है?

a) यह केवल शासन की अध्ययन की विद्या है

b)यह केवल चुनावों की प्रक्रिया से संबंधित है

c) यह शक्ति, सत्ता, नीति निर्माण तथा समाज में अधिकार के स्वरूप का अध्ययन है

d) यह केवल अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की व्याख्या करता है

2.निम्न में से कौन-सा उपागम आदर्शवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उभरा था?

a) व्यवहारवादी उपागम

b) संस्थागत उपागम

c) मार्क्सवादी उपागम

d) स्त्रीवादी उपागम

3.राजनीति विज्ञान की निम्न में से कौन-सी विशेषता नहीं है?

a) यह अनुभवजन्य अध्ययन है

b) यह पूर्णतः मूल्यनिरपेक्ष (value-free) है

c) यह शक्ति के वितरण और उपयोग को समझता है

d) यह नीति निर्माण की प्रक्रिया का अध्ययन करता है

4. 'राजनीति विज्ञान का क्षेत्र' निम्न में से क्या शामिल करता है?

a) केवल संविधान

b) केवल अंतर्राष्ट्रीय संगठन

c) शासन, राज्य, सरकार, सत्ता, न्याय आदि का अध्ययन

d) केवल चुनावी राजनीति

5.परंपरागत उपागमों की एक प्रमुख विशेषता क्या है?

a) मात्रात्मक विश्लेषण पर जोर

b) अनुभवजन्य तथ्यों पर आधारित

c) मानदंडात्मक (normative) स्वरूप

d) व्यवहारिक प्रवृत्ति

6.निम्नलिखित में से कौन-सा उपागम सत्ता और वर्ग संघर्ष पर केंद्रित है?

a) व्यवहारवादी उपागम

b) मार्क्सवादी उपागम

c) स्त्रीवादी उपागम

d) उत्तर-आधुनिकी उपागम

7.राजनीतिक विज्ञान की प्रकृति को लेकर कौन-सा विवाद प्रसिद्ध है?

a) यह विज्ञान है या कला

b) यह धार्मिक है या नैतिक

c) यह अंतरराष्ट्रीय है या स्थानीय

d) यह तर्कसंगत है या अव्यवस्थित

8.व्यवहारवाद किस विचारक से प्रमुखता से जुड़ा है?

a) प्लेटो

b) अरस्तु

c) डेविड ईस्टन

d) मार्क्स

9.निम्न में से कौन-सा आधुनिक उपागम नहीं है?

a) व्यवहारवादी

b) संस्थागत

c) उत्तर-आचरणवादी

d) स्त्रीवादी

10. राजनीति विज्ञान की क्षेत्रीयता (Scope) के अंतर्गत निम्न में से कौन आता है?

a) साहित्य

b) भौतिकी

c) सार्वजनिक प्रशासन

d)संगीत

1.8 निष्कर्ष

राजनीति विज्ञान न केवल सत्ता और शासन की प्रक्रिया को समझने का माध्यम है, बल्कि यह समाज में शक्ति के वितरण, संघर्ष, सहयोग और न्याय के स्वरूपों का भी विश्लेषण करता है। इसकी प्रकृति बहुआयामी है-यह एक विज्ञान भी है, कला भी; यह व्यवहार का अध्ययन भी है और मूल्यों का विवेचन भी।

राजनीति विज्ञान का दायरा समय और समाज के साथ विकसित हुआ है। कभी यह केवल राज्य और सरकार तक सीमित था, आज यह मानवाधिकार, अंतरराष्ट्रीय संबंध, सार्वजनिक नीतियों, विकासशील समाजों की समस्याओं, और वैश्विक शासन तक फैला है। इसने समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान और इतिहास जैसे अन्य सामाजिक विज्ञानों से अंतःक्रिया करते हुए अपना विस्तार किया है।

इस विषय की अध्ययन पद्धतियाँ या उपागम भी समयानुसार बदलती रही हैं-परम्परागत दृष्टिकोण राज्य-केंद्रित था, जबकि आधुनिक उपागमों ने व्यवहार, संरचना, प्रणाली और वर्ग-संघर्ष जैसे पहलुओं को महत्व दिया। समकालीन समय में उत्तर-आधुनिक, स्त्रीवादी, और उत्तर-औपनिवेशिक उपागमों ने राजनीति विज्ञान को और भी अधिक समावेशी और आलोचनात्मक दृष्टिकोण दिया है।

अतः कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान अब एक जीवंत, परिवर्तनशील और अंतःविषय (interdisciplinary) अनुशासन बन चुका है, जो न केवल राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं को समझने में सहायता करता है, बल्कि समाज में लोकतंत्र, समता, और न्याय की स्थापना के लिए भी मार्गदर्शन करता है।

1.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:

1. c, 2.a , 3. b, 4.c , 5.c , 6.b , 7. a, 8.c , 9. b , 10. C

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. **Bhargava, Rajeev & Acharya, Ashok (Eds.)** - *Political Theory: An Introduction*

2.Gauba, O.P. - *An Introduction to Political Theory*

3. **Andrew Heywood** - *Political Theory: An Introduction*

4. **David Marsh & Gerry Stoker (Eds.)** - *Theory and Methods in Political Science*

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. राजनीति विज्ञान से आप क्या समझते है? परम्परागत राजनीति विज्ञान की प्रकृति व क्षेत्र को स्पष्ट कीजिए?

2. राजनीति विज्ञान के समसामयिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हुए इसकी प्रकृति व क्षेत्र को स्पष्ट कीजिए?

3. राजनीति विज्ञान कला है अथवा विज्ञान या दोनों। अपने उत्तर की तर्क सहित पुटि कीजिए?

4. परम्परागत राजनीति विज्ञान और आधुनिक राजनीति विज्ञान में व्याप्त अंतर को स्पष्ट कीजिए?

5. राजनीति विज्ञान राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन है। स्पष्ट कीजिए?

6. राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ और अंत अब राज्य पर नहीं होता।' स्पष्ट

कीजिए ?

इकाई-2 राजनीति विज्ञान:दर्शन एवं सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 राजनीति विज्ञान का विकास

2.4 राजनीति विज्ञान से सम्बंधित शब्दावली

2.4.1 राजनीति

2.4.2 राजनीतिक दर्शन

2.4.3 राजनीतिक चिंतन

2.5 राजनीतिक सिद्धांत: अर्थ एवं परिभाषा

2.6 राजनीति सिद्धांत के प्रमुख दृष्टिकोण

2.6.1 शास्त्रीय राजनीतिक सिद्धांत

2.6.2 उदारवादी राजनीतिक सिद्धांत

2.6.3 मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धांत

2.6.4अनुभववादी/वैज्ञानिक राजनीतिक सिद्धांत

2.6.5समकालीन राजनीतिक सिद्धांत

2.7 राजनीतिक सिद्धांतों की प्रमुख विशेषताएँ

2.8 राजनीतिक सिद्धांत का कार्यक्षेत्र

2.9 राजनीती सिद्धांत के महत्व एवं प्रासंगिकता

2.10 राजनीति विज्ञान: सर्वाधिक उपयुक्त शब्दावली

2.11सारांश

2.12शब्दावली

2.13अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.14संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.15सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.16निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

राजनीति का अध्ययन समय के साथ न केवल विषय-वस्तु के स्तर पर विस्तृत हुआ है, बल्कि इसके स्वरूप और नामकरण में भी विविधता आई है। कभी इसे 'राजनीतिक दर्शन' कहा गया, तो कभी 'राजनीतिक सिद्धांत' अथवा 'राजनीति विज्ञान'। इन सभी नामों के पीछे विशिष्ट वैचारिक परंपराएँ, पद्धतियाँ और दृष्टिकोण निहित हैं। आज की जटिल और परिवर्तनशील राजनीति को समझने के लिए इन अवधारणाओं के अर्थ, परस्पर अंतर और उनके अंतःसंबंध को स्पष्ट रूप से जानना अत्यंत आवश्यक है। यह इकाई इन्हीं बुनियादी प्रश्नों पर प्रकाश डालते हुए राजनीति के सैद्धांतिक पक्ष को समझने की एक संगठित और चिंतनशील यात्रा है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात हम:

1. राजनीति विज्ञान से संबंधित विभिन्न नामों, जैसे- राजनीति, राजनीतिक दर्शन, राजनीतिक सिद्धांत आदि का भेद समझ सकेंगे।
2. राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy) की परिभाषा और प्रकृति को स्पष्ट कर समझ सकेंगे।
3. राजनीतिक सिद्धांत (Political Theory) की भूमिका, महत्व एवं प्रासंगिकता को पहचान सकेंगे।
4. कालांतर में राजनीतिक सिद्धांत के अध्ययन हेतु विभिन्न अवधारणाओंकाविश्लेषण कर सकेंगे।
5. समकालीन सामाजिक समस्याओं के समाधान में राजनीतिक विज्ञानं की उपयोगिता को समझ सकेंगे।

2.3 राजनीति विज्ञान का विकास

राजनीति विज्ञान की जड़ें प्राचीन यूनान की 'नगर-राज्य' प्रणाली और उनसे जुड़ी राजनीतिक गतिविधियों में पाई जाती हैं। उस समय नागरिक जीवन से जुड़ी गतिविधियों का अलग-अलग अनुशासनों में विभाजन नहीं हुआ था; बल्कि सभी विषय 'पालिटिक्स' के अंतर्गत आते थे। इसी कारण अरस्तू ने राजनीति को 'मास्टर साइंस' कहा और अपने प्रसिद्ध ग्रंथ का नाम "पॉलिटिक्स" रखा।अरस्तू का प्रसिद्ध कथन है-"मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है और उसका स्वभाव पोलिस में रहने का है।" उसके अनुसार जो व्यक्ति पोलिस में नहीं रहता, वह या तो देवता है या पशु - अर्थात्, राजनीतिक समुदाय से बाहर का जीवन मानवीय नहीं है। यही 'राजनीति' शब्द का पहला व्यवस्थित बौद्धिक प्रयोग था।

अरस्तू के बाद जेलीनेक, सिजविक, हॉस्टजन-डॉफ्र, लास्की, विल्सन, लासवैल, डहल, ईस्टन जैसे अनेक आधुनिक विचारकों ने भी 'राजनीति' शब्द का प्रयोग राज्य, सरकार और सत्ता से संबंधित सभी विषयों के लिए किया। हालाँकि, आज के संदर्भ में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग एक सीमित और प्रायः नकारात्मक अर्थों में किया जाता है - जैसे धोखाधड़ी, छल, समूह संघर्ष, घरेलू या छात्र राजनीति। इसलिए कुछ विचारकों का मत है कि राजनीति विज्ञान के व्यापक और नैतिक पक्षों के अध्ययन के लिए 'राजनीति' शब्द उपयुक्त नहीं रह गया है। समकालीन युग में राजनीति सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में अपनी गहरी भूमिका निभा रही है। पारंपरिक संस्थाओं के विघटन, सामाजिक संघर्षों और राजनीतिक क्रांतियों के चलते राजनीति आज सार्वजनिक जीवन की एक केंद्रीय शक्ति बन चुकी है। यद्यपि राजनीति हमेशा से मानव समाज का अभिन्न अंग रही है, परंतु समय और स्थान के अनुसार इसकी व्याख्या और स्वरूप में परिवर्तन आया है।

प्राचीन यूनान और भारत में अनेक विचारक राजनीति को नैतिक मूल्यों से जोड़ते थे। मध्यकाल में राजनीति धार्मिक सिद्धांतों के प्रभाव में आ गई थी। पाश्चात्य राजनीति में यथार्थवादी दृष्टिकोण की शुरुआत सोलहवीं शताब्दी में मेक्यावली के साथ हुई, जबकि भारत में यह परंपरा कौटिल्य और यूनान में थ्रेसीमेकस जैसे चिन्तकों से पहले ही मौजूद थी।

राजनीति विज्ञान के विकास में उन्नीसवीं शताब्दी में कार्ल मार्क्स का ऐतिहासिक-आर्थिक विश्लेषण एक क्रांतिकारी परिवर्तन लेकर आया। इसके बाद बीसवीं शताब्दी में अमेरिका में व्यवहारवाद का उदय हुआ, जिसने राजनीति को एक अनुभववादी और वैज्ञानिक अनुशासन के रूप में विकसित करने की कोशिश की। हालांकि सातवें दशक के अंत तक इसके विरोध में उत्तर-व्यवहारवाद,

मानववादी मार्क्सवाद और अनुदारवाद जैसे वैचारिक आंदोलन उभरे, जिन्होंने मूल्यों और मानवीय पक्षों की वापसी की वकालत की।

इस प्रकार, राजनीति विज्ञान केवल सत्ता, राज्य और कानून का अध्ययन न होकर, यह उन समस्त बौद्धिक, सामाजिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का प्रतिफल है, जो शताब्दियों से मानव समाज में घटित होती आई हैं। राजनीति विज्ञान का इतिहास और विकास मानव समाज के चिंतन, संघर्ष और संगठन की यात्रा का दर्पण है।

2.4 राजनीति विज्ञान से सम्बंधित शब्दावली

2.4.1 राजनीति (Politics)

'राजनीति' शब्द यूनानी शब्द Polis से लिया गया है, जिसका अर्थ है - नगर-राज्य। प्राचीन यूनान में नगर-राज्य ही राजनीतिक जीवन की आधारशिला थे, इसलिए उस समय के समस्त सामाजिक, नैतिक और शासकीय विषय 'राजनीति' के अंतर्गत आते थे। सबसे पहले अरस्तू ने 'Politics' शब्द का प्रयोग अपनी प्रसिद्ध कृति के शीर्षक के रूप में किया, जिसमें उन्होंने आदर्श राज्य, परिवार, दासप्रथा, क्रांति, लोकतंत्र और शिक्षा जैसे विषयों को समाहित किया। उनके अनुसार, राजनीति एक 'मास्टर साइंस' थी जो न केवल शासन के सिद्धांतों बल्कि नैतिक और सामाजिक व्यवहारों का भी अध्ययन करती थी। समय के साथ राजनीति शब्द का अर्थ संकुचित होता गया और यह केवल राजनीतिक क्रियाकलापों, दलों के संगठन, निर्वाचन, सत्ता संघर्ष, प्रशासन और निर्णय लेने वाली संस्थाओं के प्रभाव तक सीमित हो गया। इस प्रकार यह एक कला के रूप में अधिक समझा जाने लगा, न कि एक वैज्ञानिक अनुशासन के रूप में।

फ्रेडरिक पोलक ने 'राजनीति' को दो भागों में बाँटा:

1. सैद्धान्तिक राजनीति (Theoretical Politics)-राज्य, शासन, विधायन और प्रशासन से संबंधित सिद्धांतों का अध्ययन। राज्य को एक कृत्रिम व्यक्ति मानने का विचार एवं उसके सिद्धांत।

2. व्यावहारिक राजनीति (Applied Politics)-शासन की वास्तविक प्रणालियाँ, सरकार का कार्य, नियम-कानून का निर्माण एवं कार्यान्वयन, और अंतरराष्ट्रीय सम्बन्धों जैसे कूटनीति, संधियाँ, युद्ध व शांति की प्रक्रिया।

फ्रेडरिक पोलक ने भेद करते हुए स्पष्ट किया कि 'राजनीति' अब उस व्यापक संदर्भ में नहीं प्रयुक्त होती है, जिसमें अरस्तू ने इसका प्रयोग किया था।

आज 'राजनीति' शब्द का प्रयोग व्यवहारिक गतिविधियों तक ही सीमित हो गया है। इसका नैतिक, सैद्धान्तिक और आदर्श पक्ष लगभग लुप्तप्राय हो चुका है। यही कारण है कि कई विद्वानों के अनुसार यह शब्द राजनीति विज्ञान जैसे अनुशासित, वैज्ञानिक और सैद्धान्तिक अध्ययन के लिए उपयुक्त नाम नहीं माना जाता कुछ कारण निम्नलिखित हैं

1. **सीमित अर्थ में प्रयोग** - आधुनिक काल में 'राजनीति' शब्द केवल व्यवहारिक राजनीति, सत्ता संघर्ष और शासन-प्रशासन तक सीमित हो गया है, जबकि इसमें सैद्धान्तिक पक्ष भी शामिल होना चाहिए।

2. **शास्त्रीय एकरूपता का अभाव** - राजनीति का स्वरूप देश, काल और समाज के अनुसार बदलता है, जिससे कोई एकीकृत सैद्धान्तिक ढाँचा नहीं बन पाता। हर देश की राजनीति उसके अपने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भू-राजनीतिक संदर्भ में भिन्न होती है। है। यही विविधता एक ही देश की अलग-अलग राजनीतिक पार्टियों में भी देखी जा सकती है।

3. **नकारात्मक अर्थबोध** - आज 'राजनीति' शब्द भ्रष्टाचार, स्वार्थ और छल से जुड़ गया है, जिससे इसकी गरिमा घट गई है और यह विषय नामकरण की दृष्टि से उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

2.4.2 राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy)

राजनीतिक दर्शन, राजनीति से जुड़े विषयों का चिंतनात्मक, मूल्यपरक और आदर्शवादी (normative) अध्ययन है। यह उन सिद्धांतों, मूल्यों और आदर्शों की पड़ताल करता है जिनके आधार पर राजनीतिक संस्थाओं का गठन, उद्देश्य और कार्य-प्रणालियाँ तय की जानी चाहिए। यह यह नहीं बताता कि संस्थाएँ कैसी हैं, बल्कि यह बताता है कि वे होनी कैसी चाहिए। यह दर्शन नैतिकता, न्याय, अधिकार, कर्तव्य और आदर्श राज्य जैसे विषयों पर केंद्रित रहता है और चिंतन परंपरा को जीवित बनाए रखता है।

राजनीतिक दर्शन, राजनीति विज्ञान की आधारभूमि है, किंतु इसका क्षेत्र अपेक्षाकृत संकीर्ण है। यह व्यावहारिक राजनीति (Applied Politics) जैसे क़ानून निर्माण, शासन-प्रशासन के ढांचे और अंतरराष्ट्रीय संबंधों की व्यवहारिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण नहीं करता। आर.एन. गिलक्रिस्ट के

अनुसार - "राजनीतिक दर्शन, राजनीति विज्ञान का आधार है, लेकिन यह राजनीति विज्ञान के संपूर्ण क्षेत्र को समाहित करने के लिए बहुत संकीर्ण है।" "(-"Political Philosophy is prior to Political Science, but it is too narrow to cover the entire field of Political Science.") इसलिए राजनीतिक दर्शन, राजनीति विज्ञान के अधिकार क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण भाग तो है, परंतु उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करता।

यह रहा उपरोक्त बिंदुओं पर आधारित**राजनीतिक चिंतन (Political Thought)**का**सुसंगठित अनुच्छेद रूप** - जो एकरूपता के साथ सभी महत्वपूर्ण पहलुओं को समाहित करता है:

2.4.3 राजनीतिक चिंतन (Political Thought)

राजनीतिक चिंतन से आशय उन समस्त राजनीतिक विचारों, सिद्धांतों और मूल्यों से है, जिन्हें विभिन्न युगों में राजनीतिक विचारकों, व्यवहारिक राजनीतिज्ञों, समाज सुधारकों एवं सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों ने प्रस्तुत किया है। यह चिंतन राज्य, सरकार और समाज से जुड़े मुद्दों पर समयानुकूल और सार्वभौमिक विचारों का एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ प्रस्तुत करता है। इसकी प्रकृति ऐतिहासिक (historical) होती है, जो किसी विशिष्ट कालखंड की राजनीतिक समझ और उसकी अभिव्यक्ति को दर्शाती है। यह विचारों के विकास क्रम का परिचायक है, जिसमें स्थायी मूल्यों के साथ-साथ समय के अनुसार परिवर्तित दृष्टिकोणों की झलक मिलती है। राजनीतिक चिंतन राजनीतिक संस्थाओं, घटनाओं, प्रक्रियाओं और नीतियों से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा होता है।

राजनीतिक चिंतन के प्रमुख स्रोतों में राजनेताओं के भाषण, नीतियाँ, साक्षात्कार, राजनीतिक लेख, संविधान, घोषणापत्र तथा जन-आंदोलनों और साहित्य में व्यक्त जन-आकांक्षाएँ शामिल होती हैं। उदाहरणस्वरूप, अमेरिकी स्वतंत्रता की घोषणा स्वतंत्रता और समानता की भावना को दर्शाती है, जबकि भारतीय संविधान की प्रस्तावना भारतीय समाज की सामूहिक इच्छा और आदर्शों का परिचायक है। राजनीतिक चिंतन और राजनीतिक दर्शन के बीच एक प्रमुख अंतर यह है कि जहाँ राजनीतिक दर्शन मूलतः मूल्यपरक और सैद्धान्तिक होता है, वहीं राजनीतिक चिंतन ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक स्वरूप लिए होता है। दर्शन आदर्शों और नैतिक सिद्धांतों पर केंद्रित होता है जबकि चिंतन व्यवहारिक विचारों, परंपराओं और सामाजिक अनुभवों की अभिव्यक्ति होता है। राजनीतिक चिंतन का दायरा व्यापक होता है क्योंकि यह केवल विचारकों तक सीमित न होकर समाज की सामूहिक राजनीतिक समझ को भी समेटता है।

राजनीतिक चिंतन की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं-पश्चिमी राजनीतिक चिंतन, जो स्वतंत्रता, समानता और लोकतंत्र जैसे आधुनिक मूल्यों पर केंद्रित है, तथा भारतीय राजनीतिक चिंतन, जो नैतिकता, सहजीवन, आध्यात्मिकता, और सत्य-अहिंसा जैसे आदर्शों पर आधारित होता है। यह चिंतन राजनीतिक दर्शन और राजनीतिक सिद्धांत के बीच सेतु की भूमिका निभाता है। यह दर्शन की मूल अवधारणाओं को सामाजिक-राजनीतिक वास्तविकताओं से जोड़ता है और राजनीतिक सिद्धांतों के विकास तथा राजनीति विज्ञान के अध्ययन की बुनियाद को सुदृढ़ करता है।

अंततः, राजनीतिक चिंतन कोई स्थिर अवधारणा नहीं है, बल्कि यह निरंतर प्रवाहित होने वाली एक वैचारिक धारा है, जो प्रत्येक युग, समाज और संकट के अनुरूप नए समाधान प्रस्तुत करती है। यह अतीत का केवल दस्तावेज़ नहीं, बल्कि वर्तमान की चेतना और भविष्य की दिशा का मार्गदर्शक भी है।

2.5 राजनीतिक सिद्धांत: अर्थ एवं परिभाषा

राजनीतिक सिद्धांत (Political Theory) को समझने के लिए 'राजनीतिक' और 'सिद्धांत'-दोनों शब्दों की व्याख्या आवश्यक है। ‘सिद्धांत’ शब्द अंग्रेज़ी के ‘Theory’ से बना है, जिसका मूल ग्रीक शब्द *Theoria* है। यह दो स्तरों पर कार्य करता है-पहला, किसी घटना को समझने की प्रक्रिया (*Theorizing*), और दूसरा, इस प्रक्रिया से प्राप्त निष्कर्ष (*Theorema*)। इन दोनों की विशेषता यह है कि ये सैद्धांतिकरण की प्रक्रिया और निष्कर्ष के बीच अंतर करते हैं। इसका उद्देश्य किसी घटना की विवेचना करना होता है, न कि केवल निष्कर्ष को सिद्ध करना। ‘राजनीतिक’ शब्द ग्रीक शब्द*Polis*से आया है, जिसका आशय नगर-राज्य से है। आधुनिक संदर्भ में यह राज्य, सरकार, सार्वजनिक नीतियों और संस्थाओं से जुड़े निर्णय लेने की सामूहिक शक्ति को दर्शाता है। अतः ‘राजनीतिक सिद्धांत’ का अर्थ है-राजनीतिक संस्थाओं, अवधारणाओं, और मान्यताओं का सैद्धांतिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन।

राजनीतिक सिद्धांत राजनीति, सत्ता और अधिकार की जटिलताओं को समझने का बौद्धिक प्रयास है, जिसका उद्देश्य राज्य की प्रकृति, नागरिकों के अधिकार, कर्तव्य, न्याय और समानता जैसे मूल प्रश्नों की आलोचनात्मक पड़ताल करना है। यह केवल वर्तमान की व्याख्या नहीं करता, बल्कि

राजनीतिक विचारों के ऐतिहासिक विकास को भी समाहित करता है। प्लेटो, अरस्तू, मैकियावेली, लॉक, रूसो, मार्क्स और गांधी जैसे विचारकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों ने इस अनुशासन को समृद्ध किया है।

विभिन्न विद्वानों ने राजनीतिक सिद्धांत की परिभाषाएँ दी हैं:

- लियो स्ट्रॉसके अनुसार, *"राजनीतिक सिद्धांत राजनीतिक मामलों के स्वरूप को जानने के लिए सच्चा प्रयास है।"*
- एंड्रयू हेकरके अनुसार, *''राजनीतिक सिद्धांत में 'तथ्य' (Fact)* और मूल्य *(Values)* दोनों *समाहित हैं। वे एक दूसरे के पूरक हैं... हर सिद्धान्त शास्त्री एक वैज्ञानिक और 'दार्शनिक' है।''*
- ऑर्नोल्ड ब्रैक्टके अनुसार, *''सिद्धांत का उद्देश्य विश्लेषण और व्याख्या करना है-यह विज्ञान और तत्वज्ञान का समन्वय है, जिसमें भविष्यवाणी, मूल्यांकन, मार्गदर्शन और स्पष्टता समग्र रूप में शामिल होते हैं।''*
- कार्ल ड्यूशके अनुसार, *''सिद्धांत असंबद्ध तथ्यों को जोड़कर उनका क्रमबद्ध वर्णन करता है और व्यवहार को दिशा देता है।''*
- डेविड हेल्ड के अनुसार, राजनीतिक सिद्धांत 'राजनीतिक जीवन के बारे में अवधारणाओं और सामान्यीकरणों का एक तंत्र है जिसमें सरकार, राज्य और समाज की प्रकृति, उद्देश्य और प्रमुख विशेषताओं, और मानव की राजनीतिक क्षमताओं के बारे में विचार, धारणाएँ और कथन शामिल हैं।'
- गोल्ड और कोल्ब द्वारा दी गई व्यापक परिभाषा का हवाला देकर राजनीतिक सिद्धांत के अर्थ को संक्षेप में प्रस्तुत कर सकते हैं, जो कहते हैं कि यह 'राजनीति विज्ञान का एक उप-क्षेत्र है जिसमें शामिल हैं: i) राजनीतिक दर्शन - राजनीति का एक नैतिक सिद्धांत और राजनीतिक विचारों का एक ऐतिहासिक अध्ययन, ii) एक वैज्ञानिक मानदंड, iii)

राजनीतिक विचारों का एक भाषाई विश्लेषण, iv) राजनीतिक व्यवहार के बारे में सामान्यीकरणों की खोज और व्यवस्थित विकास।'

- कैटलिन राजनीतिक सिद्धांत की प्रकृति को उसके दो महत्वपूर्ण घटकों: राजनीति विज्ञान और राजनीतिक दर्शन की ओर संकेत करके स्पष्ट करते हैं। जैसा कि उन्होंने सुझाया है, राजनीति विज्ञान राजनीतिक जीवन के तथ्यों (अर्थात वास्तविक स्थिति क्या है और कौन से नियम हमारे वास्तविक व्यवहार को नियंत्रित करते हैं) से संबंधित है, जबकि राजनीतिक दर्शन मूल्यों (अर्थात हमारे लिए क्या अच्छा है) से संबंधित है।

इस प्रकार, राजनीतिक सिद्धांत वह आधार है जो राजनीतिक व्यवहार और विचारधाराओं को बौद्धिक रूप प्रदान करता है। यह राजनीतिक संस्थाओं के कार्यकलापों की व्याख्या करता है और उन्हें दिशा देने वाले मूल सिद्धांतों तथा मूल्यों की खोज करता है। यह केवल यह नहीं बताता कि राजनीति में क्या हो रहा है, बल्कि यह भी कि आदर्श रूप में क्या होना चाहिए। इसके लिए यह समाज में मौजूद मान्यताओं और विचारों की समीक्षा करता है, उनकी व्याख्या करता है तथा उनका आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह राजनीतिक अवधारणाओं-जैसे प्लेटो और रॉल्स की "न्याय" संबंधी धारणाओं-का स्पष्टिकरण करता है और ऐसे निष्कर्ष प्रस्तुत करता है जो दीर्घकालिक रूप से प्रासंगिक होते हैं। कुल मिलाकर, यह राजनीति से जुड़े तथ्यों और मूल्यों का एक सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक और नैतिक अध्ययन है।

2.6 राजनीतिसिद्धांत केप्रमुख दृष्टिकोण (MajorSchoolsofPoliticalTheory)

राजनीतिक सिद्धांत का विकास एक सतत बौद्धिक विमर्श है, जिसमें राज्य, सत्ता, स्वतंत्रता, न्याय और समानता जैसे विषयों की निरंतर चर्चा होती रही है। यद्यपि विषयवस्तु में स्थायित्व रहा है, किंतु अध्ययन की प्रविधियाँ समय-समय पर बदलती रही हैं। राजनीतिक सिद्धांत की प्रमुख अवधारणाओं का संक्षिप्त परिचय-

2.6.1 शास्त्रीय राजनीतिक सिद्धांत (Classical Political Theory)

शास्त्रीय राजनीतिक सिद्धांत की शुरुआत 6वीं शताब्दी ई.पू. से मानी जाती है और इसमें यूनानी, रोमन तथा प्रारंभिक ईसाई विचारकों के विचार शामिल हैं। प्लेटो और अरस्तू इस परंपरा के दो महानतम चिंतक माने जाते हैं। इस सिद्धांत में राजनीति, दर्शन और सैद्धांतिक ज्ञान के अभ्यास को

एकीकृत रूप में देखा गया-जिसमें राजनीतिक जीवन के बारे में विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश की गई।

इस परंपरा की प्रमुख विशेषताएँ थीं:

- यह दर्शन से अत्यधिक प्रभावित थी और नैतिक मूल्यों व आदर्श राज्य की खोज में रत रहती थी।
- राजनीतिक, धार्मिक और दार्शनिक विषयों में कोई स्पष्ट भेद नहीं था।
- राज्य को एक नैतिक संस्था माना गया, जो व्यक्ति के नैतिक विकास और "सद्गुणपूर्ण जीवन" (good life) का माध्यम है।
- 'सामूहिक हित' (common good) को 'निजी हित' (private good) से अधिक महत्वपूर्ण माना गया।
- विचारकों ने यह जानने का प्रयास किया कि*सबसे उत्तम राज्य व्यवस्था*क्या होनी चाहिए,

शास्त्रीय सिद्धांत ने राजनीतिक चिंतन की आदर्शवादी धारा की नींव रखी, जो आधुनिक सिद्धांतों पर भी प्रभाव डालती रही।

2.6.2उदारवादी राजनीतिक सिद्धांत (Liberal Political Theory)

पुनर्जागरण, सुधार आंदोलन और औद्योगिक क्रांति के बाद विकसित उदारवादी सिद्धांत नेव्यक्तिवाद (Individualism) को केंद्र में रखा। ग्रोटियस, हॉब्स, लॉक, जेफरसन, बेंथम और मिल जैसे विचारकों ने इसे विकसित किया।यह सिद्धांत मानव कीआत्मनिर्णय क्षमता, स्वतंत्रताऔरप्राकृतिक अधिकारों (जीवन, स्वतंत्रता, संपत्ति) की रक्षा पर बल देता है। राज्य को एकसामाजिक अनुबंधका परिणाम माना गया, जिसका एकमात्र उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा है। राज्य कोई नैतिक संस्था नहीं बल्कि एकउपयोगी उपकरणहै, जो कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए है।उदारवाद ने 'सामूहिक हित' की धारणा को नकारते हुए यह प्रतिपादित किया कि "जो सरकार कम हस्तक्षेप करे, वही सर्वोत्तम है"। इसका लक्ष्य आदर्श राज्य की खोज नहीं, बल्कि व्यक्ति को निरंकुशता और सामाजिक बंधनों से मुक्त करना था।

2.6.3 मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धांत (Marxist Political Theory)

मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धांत ने उदारवादी-व्यक्तिवादी सिद्धांत की आलोचना करते हुए समाज के क्रांतिकारी पुनर्गठन की अवधारणा प्रस्तुत की। कार्ल मार्क्स और एंगेल्स द्वारा प्रतिपादित इस विचारधारा का उद्देश्य एक वर्गहीन, राज्यहीन और शोषणमुक्त समाज की स्थापना है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के पूर्ण विकास का अवसर मिले। यह सिद्धांत मुख्यतः तीन आधारों पर टिका है: पहला, ऐतिहासिक और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के माध्यम से समाज की आलोचना; दूसरा, एक वैकल्पिक समाज की कल्पना जो उत्पादन के सामूहिक स्वामित्व पर आधारित हो; और तीसरा, उस समाज को स्थापित करने के लिए श्रमिक वर्ग द्वारा क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता। इसमें वर्ग-संघर्ष, उत्पादन की पद्धति, संपत्ति-संबंध, और राज्य को वर्ग-शोषण के उपकरण के रूप में देखा जाता है। मार्क्सवाद के अनुसार, स्वतंत्रता, समानता, अधिकार और न्याय जैसी अवधारणाएँ वर्ग-आधारित समाज में केवल संपन्न वर्ग के विशेषाधिकार होते हैं; इनका वास्तविक रूप केवल समाजवाद में ही संभव है। 20वीं शताब्दी में लेनिन, ग्राम्शी, फ्रैंकफर्ट स्कूल, माओ आदि विचारकों ने इसे आगे बढ़ाया और समकालीन मार्क्सवाद ने अब संस्कृति, विचारधारा, सौंदर्यबोध और अजनबीकरण जैसे विषयों पर ध्यान केंद्रित किया है। इस प्रकार, मार्क्सवाद केवल समाज की व्याख्या नहीं करता, बल्कि उसे बदलने की क्रांतिकारी परियोजना भी प्रस्तुत करता है।

2.6.4अनुभववादी/वैज्ञानिक राजनीतिक सिद्धांत (Empirical-Scientific Political Theory)

अमेरिका में विकसित अनुभववादी-वैज्ञानिक (Empirical-Scientific) राजनीतिक सिद्धांत ने राजनीतिक विश्लेषण को दर्शनशास्त्र से हटाकर तथ्यों और अनुभवजन्य अनुसंधान (empirical research) पर केंद्रित किया। इसकी नींव मैक्स वेबर, ग्राहम वालस और बेंटले ने रखी, जिसे बाद में शिकागो स्कूल के मेरियम, लासवेल, ईस्टन आदि ने विकसित किया। इस दृष्टिकोण में राजनीतिक सिद्धांत का उद्देश्य राजनीतिक व्यवहार को समझना, वर्णन करना और भविष्यवाणी करना था-न कि मूल्यांकन करना या आदर्श स्थिति की कल्पना करना। यह सिद्धांत मानता है कि राजनीति का अध्ययन मूल्य-निरपेक्ष (value-free) होना चाहिए और केवल यह देखना चाहिए कि "कौन शासन करता है और कैसे," न कि "कौन करे और क्यों।" इसमें व्यक्ति, समूह और संस्थाओं के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन प्रमुख है। इसने समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और मानवशास्त्र जैसे अन्य सामाजिक विज्ञानों से 'सत्ता', 'एलीट', 'नीति निर्माण', 'राजनीतिक संस्कृति' आदि की अवधारणाएँ अपनाई। हालाँकि, 1960 के बाद इसे अत्यधिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और सामाजिक सरोकारों की अनदेखी

के कारण आलोचना का सामना करना पड़ा। डेविड ईस्टन की 'Behavioural Revolution' ने इसे कुछ हद तक सुधारा, और 1970 के दशक के बाद जॉन रॉल्स, रॉबर्ट नोज़िक व हाबरमास जैसे विचारकों ने न्याय, समानता, स्वतंत्रता जैसे मूलभूत विषयों पर पुनर्विचार करआधुनिक राजनीतिक सिद्धांत (Contemporary Political Theory) की पुनरुत्थान की नींव रखी।

2.6.5समकालीन राजनीतिक सिद्धांत Contemporary Political Theory

1970 के दशक के बाद अमेरिका और यूरोप में राजनीतिक सिद्धांत (Political Theory) का पुनरुत्थान हुआ, जो सामाजिक मूल्यों के टकराव और सामाजिक विज्ञानों में बदलाव के कारण प्रेरित था। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति, यूरोप का पुनरुत्थान और मार्क्सवाद-सोशलिज्म जैसी विचारधाराओं का संकट इस पुनरुत्थान की पृष्ठभूमि बना। समकालीन सिद्धांत ने व्यवहारवाद (Behaviouralism) की वैज्ञानिकता को चुनौती दी और यह मान्यता दी कि राजनीतिक अध्ययन मूल्य-निरपेक्ष नहीं हो सकता। अब राजनीतिक सिद्धांत केवल तथ्यात्मक नहीं, बल्कि ऐतिहासिक, आलोचनात्मक और दार्शनिक दृष्टिकोणों को भी अपनाता है। यह सत्ता, स्वतंत्रता, न्याय, समानता, लोकमंगल जैसे मूल अवधारणाओं की व्याख्या व पुनरावलोकन करता है। इसके अनुसार, राजनीतिक सिद्धांत ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, वैचारिक विश्लेषण, नैतिक मूल्यांकन और रणनीतिक दिशासभीचार कार्यों को एक साथ समेटे हुए होना चाहिए (डेविड हेल्ड)। समकालीन सिद्धांत यह स्वीकार करता है कि राजनीतिक अवधारणाओं की समझ निरंतर प्रक्रिया है, जो परंपरा, संदर्भ और आत्मबोध से जुड़ी होती है-इसलिए कोई अंतिम सत्य नहीं होता, बल्कि निरंतर पुनर्पाठ और आलोचनात्मक मंथन आवश्यक होता है।

2.7 राजनीतिक सिद्धांतों की प्रमुख विशेषताएँ (Characteristics of Political Theory)

1. **मानक प्रकृति-**राजनीतिक सिद्धांत केवल यह नहीं बताता कि राजनीतिक व्यवस्था कैसी है, बल्कि यह भी बताता है कि राज्य और राजनीति कैसी होनी चाहिए। यह न्याय, स्वतंत्रता, समानता, अधिकार जैसे मूल्यों पर आधारित आदर्श राजनीतिक व्यवस्था की खोज करता है।

2. **वैचारिक विश्लेषण** -इसमें शक्ति, अधिकार, न्याय, स्वतंत्रता, लोकतंत्र जैसे राजनीतिक अवधारणाओं की स्पष्ट और गहन व्याख्या की जाती है ताकि राजनीतिक वास्तविकता की बेहतर समझ बन सके।
3. **दार्शनिक और ऐतिहासिक जड़ें**- राजनीतिक सिद्धांत प्लेटो, अरस्तू, मैकियावेली, हाब्स, रूसो, लॉक, रॉल्स जैसे दार्शनिकों की रचनाओं से गहराई से जुड़ा है। यह ऐतिहासिक रूप से विकसित हुआ है और दर्शन के विचारों से पोषित है।
4. **आलोचनात्मक दृष्टिकोण** -यह मौजूदा राजनीतिक संस्थाओं, नीतियों और सामाजिक मान्यताओं की आलोचना करता है और छिपी हुई सत्ता संरचनाओं को उजागर करता है। साथ ही यह समाज में सुधार, परिवर्तन या संरक्षण के उपाय भी सुझाता है।
5. **विचारधारात्मक विश्लेषण** -यह विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं जैसे उदारवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद, नारीवाद आदि की उत्पत्ति, मूल तत्वों और प्रभावों का विश्लेषण करता है। हर राजनीतिक सिद्धांत किसी न किसी विचारधारा से प्रेरित होता है।
6. **अनुशासन आधारित प्रकृति** -राजनीतिक सिद्धांत में विभिन्न अनुशासनों जैसे दर्शन, इतिहास, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि की अंतर्दृष्टियाँ मिलती हैं। चिंतक अपने पृष्ठभूमि के अनुसार अलग दृष्टिकोण से राज्य और समाज की व्याख्या करते हैं।\
7. **राजनीतिक यथार्थ की व्याख्या और मूल्यांकन**-यह राजनीतिक संस्थाओं और व्यवहारों की बौद्धिक व्याख्या करता है। यह न केवल राजनीतिक घटनाओं को समझाता है, बल्कि उन्हें सुधारने के उपाय भी प्रस्तावित करता है।
8. **समाज और इतिहास की समझ**- राजनीतिक सिद्धांत मनुष्य की प्रकृति, समाज की रचना, सामाजिक संघर्षों के कारण और समाधान को भी समझने का प्रयास करता है।
9. **द्वैत भूमिका** -यह समाज को समझने और उसकी कमियों को दूर करने दोनों में सहायक होता है। यानी यह व्याख्या भी करता है और दिशा भी प्रदान करता है यह "क्या है" (What is)के साथ-साथ "क्या होना चाहिए"(What ought to be)पर भी ध्यान देता है।

10. विचारों और आदर्शों की प्रस्तुति:यह राजनीतिक सिद्धांतों को केवल सिद्धांत तक सीमित नहीं रखता, बल्कि उन्हें समाज के आदर्श संस्थानों और मूल्यों के रूप में भी प्रस्तुत करता है।

2.8 राजनीतिक सिद्धांत का कार्यक्षेत्र

1. **शक्ति का अध्ययन-**राजनीतिक सिद्धांत यह समझने का प्रयास करता है कि सत्ता कैसे प्राप्त होती है, वैध ठहराई जाती है और प्रयोग की जाती है। यह शासन के अधिकार और उसकी वैधता के स्रोतों की विवेचना करता है।
2. **सरकार और शासन का अध्ययन-** इसमें सरकार की संरचना, कार्य-प्रणाली और शक्तियों के विभाजन का विश्लेषण होता है। यह शासक और नागरिकों के बीच संबंधों को भी समझता है।
3. **मानवीय व्यवहार का अध्ययन-**राजनीतिक सिद्धांत यह समझता है कि लोग राजनीति में कैसे भाग लेते हैं, कैसे विचार बनाते हैं और निर्णय लेते हैं। यह राजनीतिक आंदोलनों, जनमत और व्यवहार को भी समझता है।
4. **राज्य का अध्ययन**- राज्य की उत्पत्ति, विकास, स्वरूप और कार्यक्षेत्र को लेकर विभिन्न सिद्धांतों जैसे दैवीय सिद्धांत, सामाजिक समझौता और भौतिकवादी सिद्धांत का विश्लेषण किया जाता है।
5. **अंतरराष्ट्रीय संबंधों का अध्ययन**- यह राष्ट्रों, संगठनों और वैश्विक सत्ता-संतुलन जैसे विषयों को समझता है। युद्ध, शांति, कूटनीति और वैश्विक शासन जैसे पहलू इसमें शामिल होते हैं।
6. **नीति निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन-**इसमें यह देखा जाता है कि नीतियाँ कैसे बनती हैं, कौन से कारक उन्हें प्रभावित करते हैं और उनका समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है।
7. **नारीवाद का अध्ययन -**नारीवादी राजनीतिक सिद्धांत लिंग आधारित असमानता, भेदभाव और पितृसत्ता की आलोचना करता है तथा लैंगिक समानता और सामाजिक न्याय की वकालत करता है।

8. **क्षेत्रीय सहयोग संगठनों का अध्ययन**-राजनीतिक सिद्धांत क्षेत्रीय संगठनों की भूमिका, उद्देश्यों और कार्यप्रणाली को समझता है, जो किसी क्षेत्र विशेष में राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक सहयोग को बढ़ावा देते हैं।

2.9 राजनीति सिद्धांत के महत्व एवं प्रासंगिकता

राजनीतिक सिद्धांत केवल सत्ता और राज्य की संरचना का विश्लेषण भर नहीं है, बल्कि यह राजनीति से जुड़े नैतिक, दार्शनिक और व्यवहारिक प्रश्नों पर सतत संवाद है। यह एक निरंतर बौद्धिक प्रक्रिया है जो समाज में बेहतर जीवन के लिए परिस्थितियाँ निर्मित करने का प्रयास करती है। इसका उद्देश्य राजनीतिक ज्ञान का सरलीकरण, शोध को दिशा देना, और राजनीति विज्ञान को एक स्वायत्त अनुशासन के रूप में स्थापित करना है।

राजनीतिक सिद्धांत शासन की वैधता और नैतिक औचित्य को सुनिश्चित करता है। यह दर्शन और विज्ञान के समन्वय पर आधारित होता है-न तो केवल दर्शन पर्याप्त है, न ही केवल अनुभववाद। जैसे न्याय, स्वतंत्रता, समानता जैसे मूल्य विज्ञान से नहीं समझे जा सकते, वैसे ही दार्शनिक दावे अनुभवजन्य परीक्षण से गुजरने चाहिए।

आज की समस्याएँ-जैसे सांप्रदायिकता, बेरोजगारी, वैश्विक संघर्ष-इस सिद्धांत की प्रासंगिकता को और बढ़ा देती हैं। प्लामेनात्ज़ के अनुसार, यह कोई कल्पना नहीं, बल्कि एक कठिन, उपयोगी और आवश्यक बौद्धिक प्रयास है। जर्मिनो कहते हैं कि यह सिद्धांतकार ईमानदारी से मानवता के शाश्वत प्रश्नों पर विचार करता है। अतः राजनीतिक सिद्धांत एक बौद्धिक अभ्यास और व्यावहारिक दिशा दोनों है, जो बेहतर समाज के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करता है।

2.10 राजनीति विज्ञान: सर्वाधिक उपयुक्त शब्दावली

अधिकांश विद्वानों का मत है कि 'राजनीति' या 'राजनीतिक दर्शन' की तुलना में 'राजनीति विज्ञान' शब्द अधिक उपयुक्त और व्यापक है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग गॉडविन और मेरी वुल्स्टोनक्राफ्ट ने किया था, और आधुनिक काल में यह सर्वमान्य संज्ञा बन चुका है। 1948 में यूनेस्को के तत्वावधान में आयोजित सम्मेलन में भी विश्व के राजनीति विज्ञानियों ने इसे सर्वाधिक उपयुक्त माना।'राजनीति विज्ञान' शब्द का प्रयोग इसलिए उपयुक्त है क्योंकि यह विषय के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों को समाहित करता है। यह न केवल एक विज्ञान है जो अनुभवजन्य

तथ्यों और पद्धतियों पर आधारित होता है, बल्कि एक कला भी है जो राजनीतिक कौशल और नेतृत्व से जुड़ा है। सीले, विलोबी, गैटल, गार्नर जैसे विद्वानों ने भी इस शब्द को समर्थन दिया है।

राजनीति विज्ञान में राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति, उद्देश्य, शासन की संस्थाएं, संविधान, लोक प्रशासन, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, राजनीतिक विचारधाराएं, और राजनीतिक सिद्धांत आदि सभी पहलुओं का अध्ययन होता है। पॉल जेनेट के अनुसार, यह सामाजिक विज्ञान की वह शाखा है जो राज्य की नींव और शासन के सिद्धांतों का अध्ययन करती है।राजनीतिक सिद्धांत, विचार, विचारधाराएं और व्यवहार सभी राजनीति विज्ञान का ही हिस्सा हैं। इसलिए यह शब्द न केवल विषय की वैज्ञानिकता को दर्शाता है, बल्कि इसकी व्यापकता और बहुआयामी प्रकृति को भी अभिव्यक्त करता है। इसी कारण 'राजनीति विज्ञान' शब्द को सर्वाधिक उपयुक्त माना जाता है।

2.11सारांश

अभी हाल के वर्षों तक राजनीति के अध्ययन के लिए एक मानक नामावली पर आमराय नहीं बन पाई थी। इस शास्त्र के दीर्घ इतिहास में समय-समय पर इसके लिए अनेक नाम सुझाए और अपनाए गए, जैसे 'राजनीति', 'राजनीतिक दर्शन', 'राजनीतिक सिद्धांत' आदि। लेकिन इन सभी विकल्पों की तुलना में यही स्पष्ट होता है कि 'राजनीति विज्ञान' शब्द ही इस विषय की प्रकृति, क्षेत्र और अध्ययन की दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त है। यह शब्द न केवल सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों को समाहित करता है, बल्कि विषय की वैज्ञानिकता, व्यापकता और आधुनिकता को भी दर्शाता है। इसी कारण यह नाम अब सामान्य रूप से स्वीकृत और मान्य हो चुका है।

अभ्यास प्रश्न:

1. 'राजनीतिक सिद्धांत' का मुख्य कार्य क्या है?

   A. केवल शासन व्यवस्था का मूल्यांकन

   B. राजनीतिक पार्टियों का विश्लेषण

   C. नैतिक, दार्शनिक और व्यवहारिक प्रश्नों का अध्ययन

   D. प्रशासनिक प्रक्रिया का अध्ययन

2. निम्न में से कौन राजनीतिक सिद्धांत की विशेषता नहीं है?

   A. सतत संवाद

B. केवल आंकड़ों पर आधारित होना

C. वैज्ञानिक विश्लेषण

D. दर्शन और अनुभव का समन्वय

3. Plamenatzके अनुसार राजनीतिक सिद्धांत क्या नहीं है?

A. कल्पनाशीलता का अभ्यास

B. कठोर और उपयोगी समझ

C. भाषिक विश्लेषण मात्र

D. पूर्वाग्रहों का प्रदर्शन

2.12शब्दावली

1. अनुभववाद (Empiricism):ज्ञान की प्राप्ति अनुभव, परीक्षण और अवलोकन के माध्यम से करने की प्रवृत्ति; राजनीतिक सिद्धांत में व्यावहारिक तथ्यों का विश्लेषणात्मक पक्ष।

2. आदर्शवाद (Idealism):विचारों, मूल्यों और नैतिकता पर आधारित दृष्टिकोण जो राजनीतिक व्यवस्था को एक आदर्श रूप में देखने का प्रयास करता है।

3. स्वायत्त अनुशासन (Autonomous Discipline):एक स्वतंत्र और विशिष्ट शैक्षणिक क्षेत्र के रूप में राजनीति विज्ञान की पहचान।

4. वैधता (Legitimacy):शासन या सत्ता की नैतिक तथा वैधानिक स्वीकृति, जिसे जनसमर्थन प्राप्त होता है।

2.13अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1-C , 2-B, 3-C

2.14संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर सी वरमानी- ऐन इंट्रोडक्शन टू पॉलिटिकल थ्योरी एंड थॉट,गीतांजलि पब्लिशिंग हाउस दिल्ली
2. जैन, पुखराज- राजनीति विज्ञान, एस0बी0पी0जी0 पब्लिकेशन, आगरा

3. सिंहल, एस0सी0- राजनीतिक सिद्धान्त, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा
4. आर्शीवादम, ए0डी0 तथा मिश्र, कृष्णकान्त- राजनीति विज्ञान, एस0 चाँद कम्पनी लि0, नईदिल्ली
5. गाबा, ओमप्रकाश- राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोयडा
6. जौहरी, जे0सी0 एवं सीमा- आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिकेशन प्रा० लि0, नई दिल्ली
7. वर्मा, एस0पी0- मार्डन पालिटिकल थ्योरी, विकास प्रकाशन, नई दिल्ली
8. दास, पी0जी0- मार्डन पालिटिकल थ्योरी, न्यू सेण्ट्रल बुक एजेंसी, कलकत्तां

2.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. जैन, एम0पी0- पालिटिकल थ्योरी, आर्थस गिल्ड पब्लिकेशन, दिल्ली

2.संधु, ज्ञान सिंह- राजनीतिक सिद्धान्त, दिल्ली विश्वविधालय

3. वर्मा, एस0एल0-एडवांसड मार्डन पालिटिकल थ्योरी, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली.

2.16 निबंधात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक सिद्धांत के स्वरूप, महत्व एवं कार्यों की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।
2. समकालीन युग में राजनीतिक सिद्धांत की प्रासंगिकता को स्पष्ट करते हुए उसके सामाजिक प्रभाव पर प्रकाश डालिए।
3. "राजनीतिक सिद्धांत एक सतत बौद्धिक संवाद है"-इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
4. दर्शन और विज्ञान के मध्य राजनीतिक सिद्धांत की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।

इकाई-3 राजनीति विज्ञान के अध्ययन के उपागम

इकाई संरचना

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 उपागम की अवधारणा
3.4 परम्परागत उपागम
3.5 दार्शनिक उपागम
3.6 एतिहासिक उपागम
3.7 कानूनी उपागम
3.8 संस्थात्मक उपागम
3.9 प्रयोगात्मक उपागम
3.10 पर्यवेक्षात्मक उपागम
3.11 सारांश
3.12 शब्दावली
3.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.16 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों के अध्ययन के पश्चात अब आप यह समझने में सक्षम हैं कि राजनीति विज्ञान क्या है, इसका क्षेत्र कितना व्यापक है और अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ इसका क्या संबंध है। किसी विषय के अध्ययन के कई अलग तरीके या दृष्टिकोण हो सकते हैं। पारिभाषिक रूप में इन्हें हम उपागम कहते हैं। राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए भी विभिन्न उपागमों की आवश्यकता है। राजनीतिक विषयों के अध्ययन के उपागमों को आमतौर पर 'परम्परागत' और 'आधुनिक', दो भागों में बाँटा जाता है। इस इकाई में आप दार्शनिक, ऐतिहासिक, कानूनी, संस्थात्मक, प्रयोगात्मक और पर्यवेक्षात्मक उपागमों का अध्ययन करेंगे। ये सभी उपागम राजनीति विज्ञान के विश्लेषण के अलग-अलग दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं और इस विषय को एक समग्र, संतुलित और बहुआयामी रूप में समझने में सहायक होते हैं।

इस इकाई में शामिल किया गए प्रत्येक उपागम एक विशेष पक्ष पर प्रकाश डालता है। उधाहरण के रूप में जैसा कि ऐतिहासिक उपागम इतिहास में विकास, अवनति और उद्भव के परिदृश्य से प्रेरित होता है। राजनीति विज्ञान में नियामक दृष्टिकोण, मूल्यों, प्राथमिकताओं, आदर्शों और 'क्या होना चाहिए' के मुद्दों से संबन्धित है। पूर्व उल्लिखित अन्य उपागम अपने आप में पूर्ण नहीं हैं। हर उपागम राजनीतिक विषयों के अध्ययन करने और उन्हें समझने की एक खास प्रणाली है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप-

1. राजनीति विज्ञान के अध्ययन के परम्परागत उपागम को समझ सकेंगे।

2. परम्परागत उपागमों के अंतर्गत विभिन्न उपागमों का विश्लेषण कर सकेंगे।

3. दार्शनिक, एतिहासिक, कानूनी, संस्थात्मक, प्रयोगात्मक और पर्यवेक्षात्मक उपागम के मध्य अंतर कर सकेंगे।

3.3 उपागम की अवधारणा

राजनीति विज्ञान के अध्ययन में, अधिकांश विचारक "उपागम" और "पद्धति" के बीच कोई अंतर नहीं करते क्योंकि इन दोनों को पर्यायवाची माना जाता है और इन शब्दों का प्रयोग कभी-कभी एक-दूसरे के स्थान पर भी किया जाता है। परन्तु, यदि संभव हो तो इनके प्रयोग में सटीकता लाने के लिए दोनों के बीच भेद किया जाना चाहिए। डॉ. जे. सी. जोहरी के अनुसार, "उपागम" किसी विशेष घटना को देखने *और समझाने का एक तरीका है,* जो उस घटना की जाँच और विश्लेषण के लिए आवश्यक साक्ष्य के संग्रह और चयन से जुड़ी सभी चीजों को शामिल करता है। "पद्धति", इसके विपरीत, किसी सिद्धांत को डेटा पर लागू करने के लिए उसे व्यवस्थित करने का तरीका है।

सल्वाडोरी *के अनुसार, पद्धति उन तकनीकी उपायों को दर्शाती है जिनका प्रयोग आंकड़े एकत्र करने तथा विशेषज्ञों के दृष्टिकोण को जानने के लिए किया जाता है।* वैन डाइक *के अनुसार, "उपागम समस्याओं और संबंधित आंकड़ों के चयन के लिए मापदंड होते हैं, जबकि पद्धतियाँ आंकड़े प्राप्त करने और उनका उपयोग करने की प्रक्रियाएं होती हैं।"*

'पद्धति' एक अधिक सामान्य शब्द है जो किसी कार्य को करने के विशेष तरीके को दर्शाता है। एक व्यवस्थित अध्ययन में, *पद्धति को उस जाँच प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके माध्यम से विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त किया जा सके और तर्कसंगत निष्कर्ष निकाले जा सकें।* उदाहरण के रूप में- वैज्ञानिक पद्धति, आगमनात्मक (inductive) पद्धति, निगमनात्मक (deductive) पद्धति, तुलनात्मक पद्धति आदि। इसके विपरीत, 'उपागम' एक व्यापक शब्द है जो केवल यह नहीं दर्शाता कि *कैसे अध्ययन करें* (यानी पद्धति), बल्कि यह भी तय करता है कि *क्या अध्ययन करें*, यानी अध्ययन का केंद्र, जिससे किसी विशेष घटना को समझा जा सके।

यह देखा गया है कि हर उपागम सामान्यतः किसी विशेष पद्धति से जुड़ा होता है, जबकि हर पद्धति किसी निश्चित उपागम से जुड़ी हो, यह आवश्यक नहीं। इसीलिए, कोई उपागम आमतौर पर उपयुक्त पद्धति का संकेत भी देता है। उदाहरण के लिए, व्यवहारवादी उपागम वैज्ञानिक पद्धति से जुड़ा होता है, क्योंकि राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में कई क्रियाओं या पात्रों के व्यवहार का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन संभव है। जबकि मानवमूल्य आधारित (Normative) उपागम दार्शनिक पद्धति से जुड़ा होता है, क्योंकि मानदंडों और मूल्यों का निर्धारण केवल दार्शनिक तरीके से हो सकता है, वैज्ञानिक पद्धति से नहीं। इसी तरह, दार्शनिक उपागम और ऐतिहासिक उपागम क्रमशः *दार्शनिक पद्धति* और *ऐतिहासिक पद्धति* के प्रयोग का संकेत देते हैं, हालांकि वे अपने-अपने अध्ययन के केंद्र बिंदु को भी दर्शाते हैं। पुनः, राजनीति के अध्ययन में अनुभवजन्य (Empirical) उपागम हमें *राजनीतिक विश्लेषण* की ओर ले जाता है। इसमें कई मॉडल जैसे कि *प्रणाली विश्लेषण (Systems analysis), संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण (Structural-functional analysis)* और *निर्णय-निर्माण विश्लेषण*- वस्तुतः इस उपागम के अंतर्गत प्रयुक्त विविध पद्धतियों को ही दर्शाते हैं, हालाँकि इन्हें आमतौर पर *प्रणाली उपागम, संरचनात्मक-कार्यात्मक उपागम, निर्णय-निर्माण उपागम* के नाम से जाना जाता है।

इस आधार पर, राजनीति विज्ञान के अध्ययन के उपागमों को दो मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है 1)परंपरागत उपागम 2)आधुनिक उपागम। इस इकाई में हम परम्परागत उपागम का अध्ययन करेंगे।

3.4 परम्परागत उपागम

परंपरागत उपागम एक मूल्य-आधारित दृष्टिकोण है, जो राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन में मूल्यों के उपयोग को अत्यंत आवश्यक मानता है। यह दृष्टिकोण केवल तथ्यों पर आधारित विश्लेषण को अधूरा मानता है, क्योंकि इसके अनुसार तथ्य और मूल्य एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुए होते हैं। परम्परागत उपागम के समर्थकों का मानना है कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन केवल वस्तुनिष्ठ तथ्यों तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसमें नैतिकता, आदर्श, न्याय और मूल्य जैसे पहलुओं का समावेश भी होना चाहिए। ये तत्व राजनीति को न केवल अधिक मानवोचित बनाते हैं बल्कि इसके उद्देश्य और दिशा को भी स्पष्ट करते हैं। प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिंतकों, प्लेटो और अरस्तू के काल से ही राजनीति के महत्वपूर्ण प्रश्न जैसे न्याय, समानता, स्वतंत्रता आदि का विश्लेषण मानदंडात्मक दृष्टिकोण से ही होता आया है। उन्होंने राजनीति को केवल सत्ता या शासकीय ढांचे तक सीमित नहीं किया, बल्कि एक आदर्श समाज की रचना के उपकरण के रूप में देखा। परंपरागत उपागम मूल्य-आधारित होता है और यह राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन में मूल्यों के समावेश पर बल देता है। इसी आधार पर, परंपरागत उपागमों के अंतर्गत कई प्रकार के उपागम विकसित हुए हैं।

- **दार्शनिक उपागम**, जो मूल्यों और आदर्शों की विवेचना करता है
- **कानूनी उपागम**, जो विधि और न्याय पर केंद्रित होता है
- **ऐतिहासिक उपागम**, जो राजनीति को ऐतिहासिक संदर्भ में समझने का प्रयास करता है
- **संस्थागत उपागम**, जो राजनीतिक संस्थाओं जैसे राज्य, सरकार, न्यायालय आदि के स्वरूप और कार्यप्रणाली का अध्ययन करता है।

इस प्रकार, परंपरागत उपागम राजनीति विज्ञान को एक व्यापक और नैतिक दृष्टिकोण से देखने का मार्ग प्रशस्त करता है।

3.5 दार्शनिक उपागम

दार्शनिक उपागम, राजनीति विज्ञान के अध्ययन का एक प्राचीन और महत्वपूर्ण दृष्टिकोण है, जो मूलतः विचारों की स्पष्टता और नैतिकता पर केंद्रित होता है। इस उपागम का पहला उद्देश्य उन संकल्पनाओं को स्पष्ट करना है, जो किसी विशेष अनुशासन में प्रयुक्त होती हैं। दूसरा उद्देश्य यह

होता है कि वह "सही और गलत के मानदंड" स्थापित करे ताकि मौजूदा राजनीतिक संस्थाओं, नीतियों और कानूनों का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जा सके।

दार्शनिक उपागम की परंपरा प्राचीन यूनानी दार्शनिकों, विशेषकर प्लेटो और अरस्तू की रचनाओं में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। प्लेटो की 'रिपब्लिक' और अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' में एक आदर्श राज्य की कल्पना, न्याय, नैतिकता और नागरिक कर्तव्यों की गहन विवेचना की गई है। आधुनिक समय में इस उपागम के प्रमुख समर्थकों में लियो स्ट्रॉस का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। उन्होंने कहा था कि "दार्शनिक चिंतन ज्ञान की खोज है और राजनीतिक दर्शन, राजनीतिक विषयों की प्रकृति तथा एक आदर्श राजनीतिक व्यवस्था को जानने का प्रयास है।" यह उपागम राजनीति के अध्ययन को एक नैतिक और मानदंडात्मक स्वरूप प्रदान करता है। दार्शनिक उपागम राजनीति को केवल शक्ति और सत्ता के संदर्भ में नहीं देखता, बल्कि यह विचार करता है कि राज्य और उसकी संस्थाएं न्याय, नैतिकता और मानवीय मूल्यों को कितना प्रतिबिंबित करती हैं।

यह उपागम मुख्यतः नैतिक तर्कों पर आधारित होता है, जिन्हें वैज्ञानिक विधियों से सिद्ध नहीं किया जा सकता, लेकिन जिनका समाज की दिशा और उद्देश्य तय करने में अत्यंत महत्त्व होता है। इसलिए, दार्शनिक उपागम न केवल राजनीति को समझने का एक बौद्धिक माध्यम है, बल्कि यह यह भी दर्शाता है कि राजनीति का अंतिम लक्ष्य केवल व्यवस्था चलाना नहीं, बल्कि एक न्यायपूर्ण और नैतिक समाज की स्थापना करना है।

3.6 ऐतिहासिक उपागम

राजनीति विज्ञान के शिक्षार्थी के लिए इतिहास का गंभीर और व्यवस्थित अध्ययन अत्यंत उपयोगी होता है। ऐतिहासिक उपागम के अंतर्गत यह माना जाता है कि किसी भी राजनीतिक संस्था या प्रक्रिया को समझने के लिए उसका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य जानना आवश्यक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि किसी संस्था की उत्पत्ति, विकास, परिवर्तन और पतन किन कारणों से हुए। उदाहरण स्वरूप, संसद, न्यायपालिका, कार्यपालिका जैसी संस्थाओं की वर्तमान संरचना और कार्यप्रणाली को ठीक प्रकार से समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वे किस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से गुज़रकर आज के रूप में पहुँची हैं।

एतिहासिक उपागम में यह मान्यता है कि राजनीति विज्ञान को केवल समकालीन तथ्यों और घटनाओं तक सीमित रखना पर्याप्त नहीं है, बल्कि यह समझना आवश्यक है कि अतीत में कौन सी घटनाएँ और क्या परिवर्तन हुए जिनका प्रभाव वर्तमान परिस्थितियों पर पड़ा है। इसके माध्यम से हम राजनीतिक विचारों, संस्थाओं और प्रक्रियाओं की निरंतरता और क्रमिक विकास को समझ सकते हैं।

हर अतीत वर्तमान से जुड़ा होता है, और इसी कारण ऐतिहासिक विश्लेषण प्रत्येक राजनीतिक घटना का कालानुक्रमिक (chronological) क्रम प्रस्तुत करता है, जिससे उसका विकास और वर्तमान स्वरूप स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। ऐतिहासिक उपागम का मानना है कि राजनीतिक घटनाओं को ऐतिहासिक तत्वों जैसे काल, स्थान, परिस्थितियाँ आदि के माध्यम से बेहतर ढंग से समझा जा सकता है।राजनीतिक विचारक जैसे मैकियावेली, सैबाईन और डनिंग का विश्वास है कि राजनीति और इतिहास आपस में गहराई से जुड़े हुए हैं, और राजनीति का अध्ययन हमेशा ऐतिहासिक दृष्टिकोण के साथ किया जाना चाहिए। सैबाईन का मत है कि राजनीति विज्ञान में उन सभी विषयों को शामिल किया जाना चाहिए जिन पर प्लेटो से लेकर अब तक विभिन्न राजनीतिक विचारकों ने अपने लेखन में विचार किया है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण का एक लाभ यह भी है कि यह हमें राजनीतिक सिद्धांतों और संस्थाओं की आलोचनात्मक समीक्षा करने में सहायता होता है। यह उपागम हमें यह सिखाता है कि वर्तमान में जो राजनीतिक ढांचे और विचार मौजूद हैं, वे अचानक नहीं बने, बल्कि वे समय और अनुभव की कसौटी पर खरे उतरते हुए विकसित हुए हैं।

हालाँकि, ऐतिहासिक उपागम की एक सीमा भी है। कभी-कभी यह उपागम विश्लेषणात्मक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अनदेखा कर देता है और केवल घटनाओं के वर्णन तक सीमित रह जाता है। इसके बावजूद, राजनीति विज्ञान के अध्ययन में ऐतिहासिक उपागम का स्थान महत्वपूर्ण बना रहता है, क्योंकि यह न केवल अतीत को समझने में मदद करता है, बल्कि भविष्य की दिशा को भी स्पष्ट करता है।

3.7 कानूनी उपागम

कानूनी उपागम राज्य को कानून का निर्माता और प्रवर्तक मानता है और इसका मुख्य ध्यान कानूनी संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं पर केंद्रित होता है। इस उपागम के प्रमुख समर्थकों में सिसरो, जीन बोडिन, थॉमस हॉब्स, जेरमी बेंथम, जॉन ऑस्टिन, डाइसी और सर हेनरी माइन जैसे प्रसिद्ध विचारकों के नाम शामिल हैं।

कानूनी उपागम राजनीति को कानून के संदर्भ में समझने का प्रयास करता है। इसका प्रमुख उद्देश्य यह है कि राज्य व्यवस्था के अंतर्गत कार्य करने वाले विभिन्न अंगों का अध्ययन उस कानूनी और संवैधानिक ढांचे के माध्यम से किया जाए, जिसके अंतर्गत वे कार्य करते हैं। यह उपागम उन संस्थाओं की कानूनी स्थिति, उनके अधिकारों और उनके कार्यों को वैध बनाने वाली प्रक्रियाओं की विवेचना करता है। कानूनी उपागम के अंतर्गत राजनीति विज्ञान को संविधान, विधि-व्यवस्था और कानूनी संस्थाओं के अध्ययन के रूप में देखा जाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, राज्य, संप्रभुता, सरकार, न्याय, अधिकार, प्राकृतिक कानून और अंतरराष्ट्रीय विधि जैसे विषयों पर विचार-विमर्श किया जाता है। यह उपागम राज्य को विधि का उत्पादक और कार्यान्वयनकर्ता मानता है और इसीलिए राजनीतिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं की व्याख्या विधिक नियमों और प्रावधानों के आलोक में करता है।

कानूनी दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान को एक संगठित और विधिसम्मत रूप में समझने का प्रयास करता है, जहाँ सभी क्रियाएं किसी न किसी कानूनी मान्यता या प्रक्रिया से जुड़ी होती हैं। चाहे वह स्वतंत्रता आंदोलन हो या नागरिक अधिकारों के लिए आंदोलन-हर सफल राजनीतिक प्रक्रिया का अंतिम लक्ष्य किसी न किसी विधिक प्रावधान में परिणत होना होता है।

इस उपागम की प्रमुख विशेषता यह है कि यह सत्ता, शासन और अधिकार के स्वरूप को स्पष्ट करने हेतु विधिक मानकों का सहारा लेता है। उदाहरण के लिए, भारत की राजनीति को कानूनी दृष्टिकोण से समझने के लिए संविधान के अनुच्छेदों, उच्चतम न्यायालय के निर्णयों और विभिन्न संवैधानिक संस्थाओं की कानूनी स्थिति तथा उनके कार्यों का विश्लेषण किया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि भारतीय राजनीति का कानूनी उपागम से विश्लेषण किया जाए, तो इसमें भारतीय संविधान की विभिन्न धाराओं के कानूनी निहितार्थों का अध्ययन किया जाएगा। साथ ही, भारत के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों और कानूनी विशेषज्ञों की राय के माध्यम से संविधान की व्याख्या

की जाएगी। इसके अंतर्गत भारतीय संसद और राज्य विधान सभाओं के दोनों सदनों की रचना, प्रक्रिया, उनकी कानूनी स्थिति, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, राज्यपाल, मुख्यमंत्रियों, केंद्र एवं राज्य मंत्रिमंडलों की नियुक्ति की प्रक्रिया, शक्तियाँ और संवैधानिक स्थिति का भी अध्ययन किया जाएगा। इसके अतिरिक्त, भारत के सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों की भूमिका, शक्तियाँ तथा संघीय संरचना के कानूनी आयाम, मूल अधिकारों और राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों की स्थिति का कानूनी विश्लेषण भी इस उपागम के अंतर्गत आता है।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में भी कानूनी उपागम अंतर्राष्ट्रीय कानून के मानदंडों के आधार पर विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं और प्रक्रियाओं का विश्लेषण करता है।

कानूनी उपागम इस विचार पर बल देता है कि कोई भी राजनीतिक प्रक्रिया जब तक कानूनी रूप नहीं लेती, तब तक वह न तो प्रभावी बन सकती है और न ही स्थिरता प्राप्त कर सकती है। चाहे वह किसी उपनिवेशित देश में स्वतंत्रता संग्राम हो या नागरिक अधिकारों की माँग या समाज के किसी वर्ग के लिए विशेष रियायत की माँग, सभी आंदोलनों का अंतिम लक्ष्य यही होता है कि वे किसी कानूनी व्यवस्था में परिणत हों।

यद्यपि यह उपागम राजनीति को समझने की सीमित क्षमता रखता है, फिर भी संवैधानिक कानून और अंतर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन लगभग हर देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है और राजनीतिक अध्ययन का एक मूल आधार बनाता है। इस प्रकार, कानूनी उपागम राज्य को कानून का आधार मानते हुए राजनीतिक प्रक्रियाओं की संवैधानिक और विधिक संरचना को समझने का एक विश्लेषणात्मक मार्ग प्रदान करता है। यह विधिशास्त्र, संवैधानिक अध्ययन और अंतरराष्ट्रीय कानून जैसे विषयों को राजनीतिक अध्ययन में समाहित करता है और आधुनिक राज्य की संरचना एवं कार्यप्रणाली को समझने में सहायक सिद्ध होता है

3.8 संस्थात्मक उपागम

संस्थागत उपागम राजनीति विज्ञान के अध्ययन में राजनीतिक संस्थाओं और संरचनाओं जैसे कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका, राजनीतिक दलों, दबाव समूह, नौकरशाही तथा अन्य औपचारिक संस्थानों के गठन, कार्यप्रणाली और उनके आपसी संबंधों की गहन समीक्षा की जाती है। साथ ही हित समूहों के विश्लेषण पर विशेष बल देता है। इस उपागम के प्राचीन समर्थकों में अरस्तू

का नाम प्रमुख है, जबकि आधुनिक युग में जेम्स ब्राइस, बेंटले, वॉल्टर बैगहॉट और हेरोल्ड लैस्की जैसे विचारक इस दृष्टिकोण के प्रमुख प्रवर्तक माने जाते हैं।

यह उपागम कानूनी उपागम से निकटता रखता है, किंतु उससे भिन्न भी है। विशेष बात यह है कि यह केवल दर्शनशास्त्र, इतिहास या विधिशास्त्र जैसी अन्य विषय-वस्तुओं पर आश्रित नहीं रहता, बल्कि राजनीति को स्वतंत्र रूप से और एक व्यवस्थित अनुशासन के रूप में समझने का प्रयास करता है। परंपरागत उपागमों में यह एकमात्र ऐसा उपागम है जो राजनीति विज्ञान को एक स्वतंत्र अकादमिक पहचान प्रदान करता है।

संस्थागत उपागम के समर्थक सरकार की संगठनात्मक संरचना, उसके विभिन्न अंगों, राजनीतिक दलों और अन्य राजनीतिक प्रभाव वाली संस्थाओं के कार्यों का अध्ययन करते हैं। इस दृष्टिकोण के अंतर्गत सरकारों का वर्गीकरण- अरस्तू के अनुसार (राजतंत्र, तानाशाही, कुलीनतंत्र, अल्पतंत्र, राजतंत्रीय व्यवस्था और लोकतंत्र) से लेकर आधुनिक काल की विभाजन-पद्धति (लोकतंत्र और तानाशाही, संसदीय और राष्ट्रपति प्रणाली, एकात्मक और संघीय ढांचा आदि) तक को समझा जाता है। साथ ही संस्थागत उपागम सरकार के विभिन्न स्तरों (संघीय, राज्य और स्थानीय) और सरकार की तीन शाखाओं यानि कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका की पहचान करता है, इनके संघठन, शक्तियों और आपसी संबंधों का विस्तृत अध्ययन करता है।

संस्थागत उपागम का उद्देश्य तथ्यों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना होता है अतः वर्णनात्मक पद्धति पर अधिक बल देता है। इस दृष्टि से यह मानदंडात्मक दृष्टिकोण से अनुभवजन्य दृष्टिकोण की ओर, और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समकालीन सरोकारों की ओर एक स्पष्ट बदलाव का संकेत देता है। हालांकि, इसकी एक प्रमुख सीमा यह है कि यह व्याख्या की अपेक्षा विवरण पर अधिक निर्भर रहता है। इस कारण संस्थागत उपागम आधुनिक या समकालीन दृष्टिकोण की कसौटी पर पूरी तरह खरा नहीं उतरता। इस प्रकार, संस्थागत उपागम राजनीति विज्ञान को एक संगठित, संरचनात्मक और व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करता है, किन्तु इसकी विश्लेषणात्मक गहराई सीमित रहती है।

3.9 प्रयोगात्मक उपागम

प्रयोगात्मक उपागम राजनीतिक विज्ञान को एक वैज्ञानिक अनुशासन के रूप में स्थापित करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। यह उपागम उन विधियों पर आधारित है जो विज्ञानों में प्रयोग के

लिए अपनाई जाती हैं, जैसे निरीक्षण, परीक्षण, परिकल्पना निर्माण, और निष्कर्ष पर पहुँचना। इसका प्रमुख उद्देश्य राजनीतिक घटनाओं और व्यवहार को प्रायोगिक ढंग से सत्यापित और विश्लेषित करना होता है।

इस दृष्टिकोण में राजनीति विज्ञान को एक व्यवहारिक और अनुभवजन्य विज्ञान के रूप में देखा जाता है, जो केवल सैद्धांतिक चिंतन पर आधारित न होकर साक्ष्य और आंकड़ों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करता है। इसमें राजनीतिक प्रक्रियाओं, व्यक्तियों के व्यवहार, नीति निर्माण की प्रक्रियाओं आदि का अध्ययन इस तरह से किया जाता है कि निष्कर्षों को दोहराया और प्रमाणित किया जा सके।

प्रयोगात्मक उपागम ने राजनीति विज्ञान में सर्वेक्षण विधि, सांख्यिकीय विश्लेषण, मतदाता व्यवहार अध्ययन, और नकली परिस्थितियों में प्रयोगों जैसे सिमुलेशन और केस स्टडी के माध्यम से वैज्ञानिकता को बढ़ावा दिया। इससे न केवल सिद्धांतों का परीक्षण संभव हुआ, बल्कि व्यवहार और परिणामों के बीच कारणात्मक संबंधों की भी पहचान हो सकी।

हालाँकि, इस उपागम की कुछ सीमाएँ भी हैं। राजनीतिक विषयों में प्रयोगशालाओं जैसी नियंत्रित परिस्थितियों का निर्माण कठिन होता है, और मानवीय व्यवहार हमेशा एक समान नहीं होता, जिससे प्रयोगों की विश्वसनीयता पर प्रश्न उठते हैं। इसके अलावा, राजनीति में नैतिक और भावनात्मक पक्ष भी शामिल होते हैं जिन्हें मात्र संख्यात्मक रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता।फिर भी, प्रयोगात्मक उपागम ने राजनीतिक विज्ञान को अधिक वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह उपागम आज भी आधुनिक राजनीतिक अनुसंधान में वैज्ञानिक अनुशासन और अनुसंधान पद्धतियों की रीढ़ माना जाता है।

3.10 पर्यवेक्षात्मक उपागम

राजनीतिक अध्ययन में पर्यवेक्षात्मक उपागम एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमें राजनीतिक घटनाओं, व्यवहारों और प्रक्रियाओं का प्रत्यक्ष निरीक्षण और अनुभव प्रमुख भूमिका निभाता है। यह उपागम अनुभवजन्य दृष्टिकोण से जुड़ा हुआ है और यह मानता है कि राजनीतिक तथ्यों और वास्तविकताओं को समझने का सर्वोत्तम तरीका सीधा अवलोकन है, न कि केवल सैद्धांतिक विश्लेषण या दस्तावेजों पर निर्भर रहना।

इस उपागम में अध्ययनकर्ता राजनीति को उसी रूप में देखने का प्रयास करता है जैसी वह व्यवहार में क्रियाशील होती है- जैसे कि चुनाव के दौरान मतदाताओं का व्यवहार, राजनीतिक दलों की रणनीतियाँ, आंदोलनकारी समूहों की गतिविधियाँ या संसद की कार्यवाही। यह अध्ययनकर्ता को प्रत्यक्ष अनुभव और सामाजिक संपर्क के माध्यम से तथ्य इकट्ठा करने का अवसर देता है, जिससे उसकी समझ अधिक गहन और यथार्थपरक बनती है। पर्यवेक्षात्मक उपागम में फील्ड वर्क, केस स्टडी, इंटरव्यू, प्रतिभागी अवलोकन (participant observation) जैसी विधियों का प्रयोग किया जाता है। यह उपागम गुणात्मक (qualitative) और मात्रात्मक (quantitative) दोनों प्रकार के डाटा को महत्त्व देता है। इससे राजनीतिक घटनाओं की प्रामाणिकता और जीवंतता को समझना संभव होता है।

हालाँकि, इस उपागम की कुछ सीमाएँ भी हैं। अध्ययनकर्ता की व्यक्तिगत पूर्वधारणाएँ या पक्षपात अवलोकन की निष्पक्षता को प्रभावित कर सकते हैं। इसके अलावा, प्रत्येक राजनीतिक प्रक्रिया का प्रत्यक्ष अवलोकन हमेशा संभव नहीं होता - जैसे गोपनीय कूटनीतिक वार्ताएँ या बंद कमरे की निर्णय प्रक्रियाएँ।

फिर भी, पर्यवेक्षात्मक उपागम राजनीति विज्ञान को जमीनी सच्चाइयों से जोड़ने वाला एक प्रभावी उपकरण है। यह अध्ययन को सैद्धांतिक कल्पनाओं से निकालकर वास्तविक अनुभवों और जीवंत संदर्भों तक पहुँचाता है, जिससे राजनीतिक अध्ययन अधिक प्रासंगिक और व्यवहारिक बनता है।

अभ्यास प्रश्न

1. उपागम और पद्धति के मध्य अंतर नहीं किया जा सकता। सत्य असत्य/
2. प्रयोगात्मक उपागम राजनीतिक विज्ञान को अधिक वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक बनाता है। सत्यअस्य/
3. दार्शनिक उपागम विधि और न्याय पर केंद्रित होता है। सत्य असत्य/
4. हेरोल्ड लैस्की किस उपागम के प्रमुख समर्थक थे
    a. संस्थागत उपागम दार्शनिक उपागम .d ,कानूनी उपागम .c ,एतिहसिक उपागम .b ,

3.11 सारांश

इस इकाई में आपने राजनीति विज्ञान में उपागमों का विस्तृत अध्ययन किया। आपने जाना कि उपागम और पद्धति शब्दों को अक्सर एक-दूसरे का पर्याय मान लिया जाता है, किंतु इन दोनों के बीच एक महत्त्वपूर्ण अंतर होता है। उपागम किसी राजनीतिक घटना को देखने और समझने का एक व्यापक दृष्टिकोण होता है, जबकि पद्धति उस दृष्टिकोण को व्यवहार में लाने की एक तकनीकी प्रक्रिया होती है। इस इकाई में यह स्पष्ट किया गया कि किसी उपागम में सामान्यतः उपयुक्त पद्धति जुड़ी होती है, लेकिन हर पद्धति किसी विशेष उपागम से जुड़ी हो, यह आवश्यक नहीं होता।

राजनीति विज्ञान के अध्ययन के उपागमों को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है: परंपरागत और आधुनिक उपागम। इस इकाई में परंपरागत उपागमों का अध्ययन किया गया है, जो मूल्य-आधारित और मानदंडात्मक दृष्टिकोण पर बल देते हैं। परंपरागत उपागम मानते हैं कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन केवल वस्तुनिष्ठ तथ्यों तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसमें आदर्शों, नैतिकता, न्याय और मूल्यों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। इसके अंतर्गत प्रमुख उपागमों की विवेचना की गई है दार्शनिक, ऐतिहासिक, कानूनी, संस्थात्मक, पर्यवेक्षात्मक और प्रयोगात्मक उपागम।

दार्शनिक उपागम राजनीति के अध्ययन को नैतिक और मानदंडात्मक स्वरूप प्रदान करता है। यह उपागम मुख्यतः प्लेटो, अरस्तू और लियो स्ट्रॉस जैसे विचारकों के दर्शन पर आधारित है, जो राजनीति को आदर्श राज्य, न्याय, नैतिकता और नागरिक कर्तव्यों के संदर्भ में देखते हैं। इसके माध्यम से यह समझने का प्रयास किया जाता है कि एक आदर्श राजनीतिक व्यवस्था कैसी होनी चाहिए।

ऐतिहासिक उपागम राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं को उनके ऐतिहासिक विकासक्रम में समझने का प्रयास करता है। यह उपागम मानता है कि वर्तमान राजनीतिक संरचनाएँ अतीत की घटनाओं और परिवर्तनों का परिणाम हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि राजनीतिक सिद्धांत, संस्थाएँ और विचार समय के साथ कैसे विकसित हुए हैं।

कानूनी उपागम राज्य और उसकी संस्थाओं को विधिक और संवैधानिक ढांचे में समझने का प्रयास करता है। इस दृष्टिकोण में राजनीति को कानून और विधि व्यवस्था के संदर्भ में देखा जाता है। इसमें राज्य को विधि का निर्माता और कार्यान्वयनकर्ता माना जाता है तथा संविधान, अधिकारों, न्यायपालिका और अंतरराष्ट्रीय विधि जैसे विषयों का विश्लेषण किया जाता है।

संस्थात्मक उपागम राजनीति विज्ञान को एक संगठित और संरचनात्मक अनुशासन के रूप में प्रस्तुत करता है। यह कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका, राजनीतिक दलों और दबाव समूहों जैसी संस्थाओं की संरचना, कार्यप्रणाली और परस्पर संबंधों का अध्ययन करता है। यह उपागम राजनीति विज्ञान को एक स्वतंत्र अकादमिक अनुशासन के रूप में स्थापित करने का प्रयास करता है।

इस प्रकार, इस इकाई में आपने जाना कि परंपरागत उपागम राजनीति विज्ञान को केवल सत्ता की प्रक्रिया के रूप में नहीं, बल्कि एक नैतिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक और संस्थागत दृष्टिकोण से समझने का समग्र प्रयास करते हैं। यह अध्ययन राजनीति को अधिक गहराई और व्यापकता प्रदान करता है।

3.12 शब्दावली

पद्धति- किसी सिद्धांत को डेटा पर लागू करने के लिए उसे व्यवस्थित करने का तरीका है

संस्थागत उपागम- वह उपागम जो राजनीति विज्ञान के अध्ययन में राजनीतिक संस्थाओं और संरचनाओं की समीक्षा करता है।

पर्यवेक्षात्मक उपागम- जिसमें राजनीतिक घटनाओं, व्यवहारों और प्रक्रियाओं का प्रत्यक्ष निरीक्षण और अनुभव किया जाता है।

3.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.असत्य, 2.सत्य, 3.असत्य, 4. संस्थागत उपागम

3.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

ओ.पी. गाबा- राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा

डॉ. पुखराज जैन- राजनीतिक सिद्धांत, डॉ. पुखराज जैन एवं डॉ. वी.एन. खन्ना- राजनीति विज्ञान

3.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

एडी. आशीर्वादम और कृष्णकांत मिश्र- राजनीति विज्ञान

3.16 निबंधात्मक प्रश्न

1.अपने शब्दों में दार्शनिक और एतिहासिक उपागमों का वर्णन कीजिए?

2.कानूनी, संस्थात्मक, प्रयोगात्मक और पर्यवेक्षात्मक उपागम की व्याख्या करते हुए एक निबंध लिखिए।

इकाई-4 राजनीति विज्ञान के आधुनिक उपागम

इकाई संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 राजनीति विज्ञान के आधुनिक उपागम

4.4 मार्क्सवादी उपागम

4.5 समाजशास्त्रीय उपागम

4.6 व्यवहारवादी उपागम

4.7 उत्तरव्यवहारवादी उपागम

4.8 सारांश

4.9 शब्दावली

4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.13 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

इकाई 3 में आप 'उपागम' और 'पद्धति' के मध्य अंतर से अवगत हुए। इसके अतिरिक्त राजनीति विज्ञान के परंपरागत उपागम से आपका परिचय हुआ जिस में आपने दार्शनिक, एतिहासिक, संस्थात्मक, प्रयोगात्मक और पर्यवेक्षात्मक उपागम का अध्ययन किया। इस इकाई में आप राजनीति विज्ञान के आधुनिक उपागमों को समझ सकेंगे।

राजनीति विज्ञान ने समय के साथ अपने अध्ययन के ढांचे, पद्धतियों और उपागमों में लगातार बदलाव देखा है। वैश्वीकरण, तकनीकी विकास, संचार क्रांति, उदारीकरण और निजीकरण जैसे

कारकों ने राजनीति विज्ञान की प्रकृति को और अधिक व्यावहारिक और बहुआयामी बना दिया है। परम्परागत उपागम से हट कर यदि राजनीति विज्ञान के आधुनिक उपागम की बात की जाए तो वह तथ्य-आधारित होते हैं और राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक एवं निश्चित निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए तथ्यों पर जोर देते हैं। आधुनिक उपागम में मार्क्सवादी, समाजशास्त्रीय, व्यवहारवादी दृष्टिकोण और उत्तरव्यवहारवादी उपागम आदि शामिल हैं। पहले राजनीति विज्ञान के अध्ययन का केंद्र बिंदु परंपरागत संस्थाएं, संविधान, राज्य एवं सरकार थे, लेकिन उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में समाज, सामाजिक संरचनाओं, अर्थव्यवस्था तथा मानव व्यवहार में आए व्यापक परिवर्तनों ने इसे नया आयाम दिया। आधुनिक उपागमों ने राजनीति विज्ञान को वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं व्यावहारिक विमर्श की तरफ अग्रसर किया। इन उपागमों के विकास ने राजनीति विज्ञान को समाज में व्याप्त विविध आयामों के विश्लेषण का माध्यम बना दिया। आधुनिक दृष्टिकोण समाज में व्याप्त समस्याओं के समाधान पर बल देता है, जैसे कि असमानता, अन्याय, दमन और शोषण। इसलिए राजनीतिक सिद्धांतों का अध्ययन न केवल अकादमिक महत्व रखता है, बल्कि व्यावहारिक रूप से सामाजिक सुधार का माध्यम भी बनता है। इस इकाई में हम आधुनिक उपागमों-मार्क्सवादी, समाजशास्त्रीय, व्यवहारवादी और उत्तरव्यवहारवादी- की पृष्ठभूमि, अवधारणाएं एवं आलोचनाओं का क्रमबद्ध अध्ययन करेंगे।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप-

1. राजनीति विज्ञान के अध्ययन के आधुनिक उपागम को समझ सकेंगे।

2. आधुनिक उपागमों के अंतर्गत विभिन्न उपागमों का विश्लेषण कर सकेंगे।

3. मार्क्सवादी, समाजशास्त्रीय, व्यवहारवादी और उत्तरव्यवहारवादी उपागमों के मध्य अंतर कर सकेंगे।

4.3 राजनीति विज्ञान के आधुनिक उपागम

मान्दंदात्मल पद्धतियाँ सामान्यतः राजनीति की घटनाओं के अध्ययन की पारंपरिक विधियों को दर्शाती हैं। ये इस बात पर केंद्रित नहीं होतीं कि "वास्तव में क्या है" बल्कि इस पर ध्यान देती हैं कि

"क्या होना चाहिए"। अतः पारंपरिक उपागम में संस्थाओं को अध्ययन की मूल इकाई मानते हुए उनका विश्लेषण किया जाता है।

हालाँकि, राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में औद्योगीकरण और व्यवहारवादी क्रांति के आगमन के साथ ही अध्ययन की दिशा "क्या होना चाहिए" से बदलकर "वास्तव में क्या है" की ओर हो गई। आज के राजनीतिक चिंतक इस पर अधिक रुचि रखते हैं कि लोग राज्य और सरकार से संबंधित मामलों में किस प्रकार व्यवहार करते हैं। राजनीतिक चिंतकों के एक समूह ने एक नया आंदोलन शुरू किया, जो सरकार और राज्य के पारंपरिक विश्लेषण से संतुष्ट नहीं थे। उनका मानना था कि समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र आदि जैसे अन्य सामाजिक विज्ञानों में व्यापक खोजें हो चुकी थीं, और यदि उन्हें राजनीतिक मुद्दों पर लागू किया जाए, तो नई समझ और दृष्टिकोण प्राप्त किए जा सकते हैं। राजनीति विज्ञान के आधुनिक उपागम वास्तविक राजनीतिक घटनाओं से संबंधित आंकड़े एकत्र करने पर बल देते हैं। इसके अतिरिक्त, व्यक्ति और समूह के व्यवहार के साथ-साथ सांख्यिकीय जानकारी राजनीतिक विज्ञान को निश्चित निष्कर्षों तक पहुँचने और राजनीतिक मामलों में सटीक पूर्वानुमान लगाने में मदद करती है।

आधुनिक राजनीतिक अध्ययन की विधाएँ पारंपरिक तरीकों से इस मायने में अलग हैं कि वे राजनीति विज्ञान को एक स्वतंत्र विषय के रूप में स्थापित करना चाहती हैं और केवल औपचारिक पक्षों तक सीमित न रहकर सामाजिक जीवन के गहरे प्रभावों को भी समझना चाहती हैं।

4.4 मार्क्सवादी उपागम

राजनीति विज्ञान के अध्ययन में मार्क्सवादी उपागम एक क्रांतिकारी बदलाव लेकर आया। 19वीं शताब्दी में जब कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स ने अपने विचारों को प्रस्तुत किया, तब तक राजनीति को मुख्यतः आदर्शवादी, दार्शनिक या नैतिक दृष्टिकोण से देखा जाता था। परंतु मार्क्सवाद ने राजनीति को एक वैज्ञानिक, सामाजिक और भौतिक प्रक्रिया के रूप में समझने की दिशा दी। उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि राजनीति केवल विचारधारात्मक विमर्श नहीं है, बल्कि यह आर्थिक संरचनाओं, वर्गीय हितों और शक्ति-संबंधों से जुड़ी हुई है।

मार्क्सवादी उपागम का मूल आधार ऐतिहासिक और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद है, जिसके अनुसार समाज का विकास उत्पादन के साधनों में बदलाव और वर्ग संघर्ष के माध्यम से होता है। मार्क्सवादी सिद्धांत यह मानता है कि समाज का आधार (base) ही उसकी राजनीतिक, सांस्कृतिक अधिरचना

(superstructure) को निर्धारित करता है। समाज की आर्थिक संरचना ही इसका आधार है, और राजनीतिक एवं कानूनी संरचना उसकी अधिरचना या उपुप्री ढांचा है। मार्क्सवादी उपागम के अनुसार, राजनीतिक संस्थाएँ, नीतियाँ और शासन की प्रकृति किसी भी समाज की आर्थिक व्यवस्था और उसमें मौजूद वर्गीय संबंधों का प्रतिबिंब होती हैं।

मार्क्सवाद के अनुसार, राजनीति का मूल उद्देश्य और उत्पादन प्रक्रिया के साधनों पर नियंत्रण को लेकर होने वाला संघर्ष है। जिस वर्ग के पास इन साधनों का स्वामित्व होता है, वही सत्ता पर नियंत्रण रखता है। पूंजीवादी समाज में यह वर्ग पुँजीपति वर्ग (bourgeoisie) होता है, जो श्रमिक वर्ग (proletariat) का शोषण करता है। इस आर्थिक शोषण का परिणाम होता है *विभ्रम (alienation)*, जिसमें श्रमिक अपने श्रम, अपने उत्पाद, अपने साथियों और अंततः स्वयं से भी अलग-थलग हो जाता है। मार्क्स के अनुसार, यह स्थिति पूंजीवादी व्यवस्था की मूल अन्यायपूर्ण विशेषता है।

राज्य की अवधारणा को भी मार्क्सवाद नए दृष्टिकोण से देखता है। परंपरागत विचारधाराओं में राज्य को एक तटस्थ संस्था माना जाता है, जो जनहित में कार्य करती है। परंतु मार्क्सवादी दृष्टिकोण में राज्य शासक वर्ग का एक उपकरण है, जो कानून, सेना और अन्य संस्थाओं के माध्यम से अपने वर्चस्व को बनाए रखता है। लोकतंत्र, चुनाव और नागरिक अधिकार जैसी संस्थाएँ केवल वैधता का भ्रम उत्पन्न करती हैं, जबकि असली सत्ता संरचना आर्थिक शक्तियों के अधीन होती है।

इसके अतिरिक्त, विचारधारा का मार्क्सवादी विश्लेषण भी राजनीति विज्ञान में एक महत्वपूर्ण योगदान है। विचारधारा को एक ऐसे तंत्र के रूप में देखा गया है, जो शासक वर्ग अपने हितों की पूर्ति के लिए प्रचारित करता है। राष्ट्रवाद, धर्म, और उपभोक्तावाद जैसी विचारधाराएँ जनता में *झूठी चेतना (false consciousness)* उत्पन्न करती हैं, जिससे वे अपने शोषण को पहचान नहीं पाते। इस प्रकार, राजनीतिक चेतना को आर्थिक शक्ति-संबंधों से अलग करके समझना, मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार, एक भ्रम है। मार्क्सवाद केवल विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण नहीं है, बल्कि यह *प्राक्सिस (praxis)*, यानी सिद्धांत और क्रांतिकारी व्यवहार के समन्वय, पर भी बल देता है। इसका उद्देश्य केवल यथास्थिति का अध्ययन नहीं, बल्कि उसे बदलने की प्रक्रिया का हिस्सा बनना है। इसलिए मार्क्सवादी राजनीतिक विज्ञान में परिवर्तन की संभावना निहित होती है।

हालाँकि, मार्क्सवादी उपागम की आलोचना भी हुई है। इसे *निर्धारणवादी (determinist)* कहकर इसकी आलोचना की गई है, क्योंकि यह समाज के सभी पहलुओं को केवल आर्थिक संरचना से जोड़ता है। इसी तरह, *आर्थिक एकांगीपन (economic reductionism)* का आरोप भी लगाया

गया, जिसमें सामाजिक, सांस्कृतिक या वैयक्तिक कारकों की उपेक्षा होती है। इसके बावजूद, मार्क्सवादी दृष्टिकोण आज भी प्रासंगिक है, विशेषकर तब जब वैश्विक पूंजीवाद, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता और संसाधनों का केंद्रीकरण जैसे मुद्दे सामने हैं। समकालीन मार्क्सवादी चिंतकों ने इस दृष्टिकोण को और व्यापक बनाया है। **नैन्सी फ्रेजर** जैसी विचारकों ने वर्ग संघर्ष के साथ-साथ लिंग, जाति और पर्यावरणीय न्याय जैसे मुद्दों को भी इसमें सम्मिलित किया है। इससे यह दृष्टिकोण अधिक समावेशी और वर्तमान समस्याओं के प्रति संवेदनशील बन गया है। निष्कर्षतः, मार्क्सवादी दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान को एक समग्र, आलोचनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टि प्रदान करता है। यह न केवल सत्ता और असमानता की जड़ों को उजागर करता है, बल्कि उनके उन्मूलन की दिशा भी सुझाता है। आधुनिक समय में, जब राजनीतिक संस्थाएँ अक्सर आर्थिक हितों के आगे झुकती दिखाई देती हैं, मार्क्सवादी विश्लेषण हमें उनके पीछे के वर्गीय और वैचारिक तत्वों को समझने में मदद करता है। इसलिए, राजनीति विज्ञान की एक गहन और विवेकपूर्ण समझ के लिए मार्क्सवादी उपागम अपरिहार्य है।

4.5 समाजशास्त्रीय उपागम

राजनीति विज्ञान के अध्ययन में समाजशास्त्रीय उपागम एक अत्यंत महत्वपूर्ण दृष्टिकोण है, जो यह मानता है कि राजनीति को केवल राज्य, सरकार या सत्ता की संरचना के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, बल्कि उसे समाज की समग्रता के भीतर समझा जाना चाहिए। इस दृष्टिकोण के अनुसार, राज्य समाज का ही एक अंग है और उसके गठन, कार्यप्रणाली तथा नीतियों को समाज की विविधताओं, संरचनाओं और संबंधों के माध्यम से ही समझा जा सकता है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की जड़ें प्राचीन यूनानी विचारकों प्लेटो और अरस्तू के विचारों में देखी जा सकती हैं। अरस्तू ने मनुष्य को "एक सामाजिक प्राणी" बताया था और यह माना था कि राज्य का जन्म समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हुआ है। यह दृष्टिकोण आगे चलकर और अधिक विकसित हुआ और आधुनिक राजनीति विज्ञान में समाज और राजनीति के अंतर्संबंधों को समझने के लिए एक व्यापक आधार बना।

इस उपागम के अंतर्गत यह समझा जाता है कि जाति, धर्म, वर्ग, भाषा, संस्कृति, परंपरा, और सामाजिक संगठन जैसे घटक व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार को आकार देते हैं। व्यक्ति किस राजनीतिक दल को समर्थन देगा, उसकी विचारधारा क्या होगी, वह किन मुद्दों को प्राथमिकता देगा- ये सब बातें उसकी सामाजिक स्थिति और परिवेश पर निर्भर करती हैं। उदाहरणस्वरूप, ग्रामीण और

शहरी मतदाता के राजनीतिक रुझानों में जो भिन्नता पाई जाती है, वह सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण होती है। समाजशास्त्रीय उपागम यह भी बताता है कि समाज में व्याप्त सामाजिक विषमता, जातीय भेदभाव, लिंग आधारित असमानता और सांस्कृतिक विविधता का सीधा असर राजनीतिक संस्थाओं और नीतियों पर पड़ता है। समाज में जो समूह आर्थिक या सामाजिक रूप से हाशिये पर होते हैं, वे राजनीति में भागीदारी के समान अवसरों से वंचित रह सकते हैं। इसीलिए यह दृष्टिकोण राजनीतिक न्याय और समावेशी विकास को सुनिश्चित करने की दिशा में भी अत्यंत प्रासंगिक बन जाता है।

आधुनिक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के सन्दर्भ में समाजशास्त्रीय उपागम की उपयोगिता और बढ़ जाती है। जब राज्य शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और सामाजिक सुरक्षा जैसे क्षेत्रों में सक्रिय भूमिका निभाता है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि इन नीतियों को सामाजिक यथार्थ के आधार पर तैयार किया जाए। इस दृष्टिकोण से हम यह समझ सकते हैं कि किन वर्गों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए, और किस तरह नीतियाँ अधिक प्रभावी रूप से लागू की जा सकती हैं। अंततः, समाजशास्त्रीय उपागम राजनीति विज्ञान को एक मानवीय और सामाजिक धरातल पर लाकर उसे और अधिक समग्र तथा प्रासंगिक बनाता है। यह दृष्टिकोण राजनीति को समाज के साथ जोड़ने का काम करता है, जिससे हम केवल सत्ता और शासन के ढांचे को नहीं, बल्कि उस ढांचे के भीतर कार्य कर रहे मानवीय और सामाजिक कारकों को भी गहराई से समझ सकते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्रीय उपागम के बिना राजनीति विज्ञान का अध्ययन अधूरा है।

4.6 व्यवहारवादी उपागम

राजनीति विज्ञान के अध्ययन में बीसवीं शताब्दी के मध्य में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया, जिसे 'व्यवहारवादी क्रांति' के रूप में जाना जाता है। इसने परंपरागत दृष्टिकोणों की सीमाओं को उजागर करते हुए राजनीति के अध्ययन को अधिक वैज्ञानिक, अनुभवजन्य (empirical) और वस्तुनिष्ठ बनाने का प्रयास किया। इस परिवर्तन का आधार *व्यवहारवादी उपागम* था, जो यह मानता है कि राजनीति केवल संस्थाओं, संविधान और विचारों का अध्ययन नहीं है, बल्कि मानव व्यवहार, उसके दृष्टिकोण, प्रतिक्रियाओं और अनुभवों का भी विश्लेषण होना चाहिए।

व्यवहारवादी उपागम की शुरुआत 20वीं सदी के तीसरे और चौथे दशक में अमेरिका में हुई, लेकिन इसका प्रभाव विशेष रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद देखने को मिला। इस आंदोलन का नेतृत्व

डेविड ईस्टन, गैब्रिएल आलमंड, रॉबर्ट डाहल जैसे प्रमुख विद्वानों ने किया। उन्होंने यह महसूस किया कि परंपरागत राजनीतिक अध्ययन बहुत अधिक आदर्शवादी और वर्णनात्मक है, जो वास्तविक राजनीतिक प्रक्रियाओं और लोगों के व्यवहार को नजरअंदाज करता है। व्यवहारवादियों ने यह तर्क दिया कि राजनीति को भी अन्य सामाजिक विज्ञानों की तरह वैज्ञानिक ढंग से, वस्तुनिष्ठ पद्धतियों के माध्यम से समझना चाहिए। उनके अनुसार, राजनीति की समझ केवल संवैधानिक ढांचे या शासकीय संस्थाओं के अध्ययन से पूरी नहीं हो सकती, बल्कि यह जरूरी है कि राजनीतिक क्रियाओं में भाग लेने वाले लोगों के वास्तविक व्यवहार का अध्ययन किया जाए।

व्यवहारवादी उपागम की प्रमुख विशेषताएँ

1. **अनुभववाद (Empiricism)**: यह दृष्टिकोण आंकड़ों, तथ्यों और वास्तविक अनुभवों पर आधारित होता है। सिद्धांत बनाने से पहले व्यवहार के ठोस प्रमाण एकत्र करना इसका उद्देश्य है।

2. **व्यवहार पर ज़ोर**: संस्थाओं से अधिक यह लोगों के व्यवहार, जैसे कि मतदान पैटर्न, जनमत, राजनीतिक भागीदारी आदि के अध्ययन पर बल देता है।

3. **मूल्य-तटस्थता (Value Neutrality)**: व्यवहारवादी यह मानते हैं कि अध्ययन करते समय शोधकर्ता को नैतिक या वैचारिक पक्षपात से बचना चाहिए। विश्लेषण पूरी तरह निष्पक्ष और वैज्ञानिक होना चाहिए।

4. **पद्धतिगत कठोरता (Methodological Rigor)**: यह उपागम वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करता है, जैसे कि सर्वेक्षण, प्रश्नावली, सांख्यिकीय विश्लेषण, और केस स्टडी।

5. **अंतरविषयक दृष्टिकोण(Interdisciplinary Approach)**: व्यवहारवादी दृष्टिकोण ने मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और मानवविज्ञान जैसी अन्य शाखाओं से विधियाँ लेकर राजनीति के अध्ययन को अधिक समग्र बनाया।

व्यवहारवादी दृष्टिकोण ने राजनीति विज्ञान को परंपरागत आदर्शवादी ढांचे से निकालकर उसे सामाजिक विज्ञानों की श्रेणी में ला खड़ा किया। इसने राजनीतिक प्रक्रिया को समझने में आम नागरिकों की भूमिका को महत्वपूर्ण माना और उनके दृष्टिकोण, आकांक्षाओं और प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण शुरू किया। इससे राजनीति केवल शासक वर्ग या सत्ता तक सीमित न रहकर एक समग्र सामाजिक प्रक्रिया बन गई। गैब्रिएल आलमंड जैसे विद्वानों ने ‘संरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण’

के माध्यम से विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों की तुलना की और समझने की नई विधियाँ विकसित कीं। इसने राजनीतिक संस्थाओं के व्यवहार और उनकी कार्यप्रणाली को समझने में बहुत मदद की।

व्यवहारवादी उपागम की आलोचना भी हुई है। कई विद्वानों का मानना है कि यह दृष्टिकोण राजनीतिक सिद्धांतों, मूल्यों और विचारधाराओं की उपेक्षा करता है। इसमें मानवीय आदर्शों और नैतिकता के लिए बहुत कम स्थान है। इसके अतिरिक्त, यह उपागम मुख्यतः पश्चिमी समाजों और वहाँ की राजनीति पर केंद्रित रहा, जिससे विकासशील देशों की जटिलताओं को इसमें पर्याप्त स्थान नहीं मिल सका। इसके अलावा, अत्यधिक वैज्ञानिकता और आँकड़ों पर निर्भरता के कारण कभी-कभी राजनीति के मानवीय और भावनात्मक पहलुओं की अनदेखी हो जाती है। इन आलोचनाओं के उत्तर में 1960 के दशक के उत्तरार्ध में उत्तर-व्यवहारवाद की अवधारणा सामने आई। डेविड ईस्टन ने कहा कि राजनीतिक अध्ययन को केवल तथ्य-आधारित नहीं, बल्कि सामाजिक सरोकारों से भी जुड़ा होना चाहिए। उन्होंने ज़ोर दिया कि राजनीति विज्ञान को सामाजिक न्याय, समानता और जन कल्याण जैसे मूल्यों के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।

व्यवहारवादी उपागम ने राजनीति विज्ञान के अध्ययन में एक युगांतकारी परिवर्तन लाया। इसने विषय को अधिक वैज्ञानिक, अनुभवजन्य और वास्तविकता-आधारित बनाया। इसके कारण आज राजनीति का अध्ययन केवल संस्थाओं या संविधान तक सीमित न रहकर, आम नागरिकों के व्यवहार, भागीदारी और सोच को केंद्र में रखता है। यद्यपि इसकी कुछ सीमाएँ हैं, फिर भी यह उपागम आज भी राजनीतिक अध्ययन में एक आधारशिला के रूप में विद्यमान है। व्यवहारवाद ने राजनीति को जीवन के यथार्थ से जोड़ा और उसे अधिक उपयोगी तथा प्रासंगिक बनाया।

4.7 उत्तरव्यवहारवादी उपागम

राजनीति विज्ञान में व्यवहारवादी उपागम ने जब यह ज़ोर दिया कि राजनीति का अध्ययन पूरी तरह वैज्ञानिक, तटस्थ और अनुभवजन्य होना चाहिए, तब यह अनुशासन अधिक तकनीकी और तथ्यान्वेषी बन गया। हालांकि, धीरे-धीरे यह स्पष्ट हुआ कि यह दृष्टिकोण राजनीति की मूल सामाजिक भूमिका और मानव कल्याण से संबंधित उद्देश्यों की उपेक्षा कर रहा है। परिणामस्वरूप, 1960 के दशक के उत्तरार्ध में एक नई प्रवृत्ति का उदय हुआ जिसे उत्तर-व्यवहारवाद कहा गया।

उत्तर-व्यवहारवाद की अवधारणा सबसे पहले डेविड ईस्टन ने 1969 में अमेरिकी राजनीति विज्ञान संघ के अध्यक्षीय भाषण में प्रस्तुत की थी। उन्होंने यह स्वीकार किया कि व्यवहारवाद ने राजनीतिक अध्ययन को वैज्ञानिक और पद्धतिपरक तो बनाया, पर साथ ही इसे जनसरोकारों और सामाजिक मूल्यों से दूर भी कर दिया।

ईस्टन ने इस स्थिति को अस्वीकार्य मानते हुए राजनीति विज्ञान को सामाजिक यथार्थ और परिवर्तन से जोड़ने की आवश्यकता पर बल दिया। उत्तर-व्यवहारवादी दृष्टिकोण का मूल संदेश यह था कि राजनीतिक अध्ययन केवल वस्तुनिष्ठ तथ्यों तक सीमित नहीं रह सकता। उसमें मूल्यों, सामाजिक न्याय, समानता और जनहित जैसे तत्वों की भी केंद्रीय भूमिका होनी चाहिए। इसके अनुसार, एक राजनीतिक वैज्ञानिक को यह न केवल जानने की कोशिश करनी चाहिए कि "राजनीति कैसी है," बल्कि यह भी कि "राजनीति कैसी होनी चाहिए।"

इस दृष्टिकोण ने यह स्पष्ट किया कि अगर राजनीतिक अध्ययन समाज की समस्याओं को हल करने में सहायक नहीं बनता, तो वह अपना सामाजिक दायित्व नहीं निभा रहा। इसलिए उत्तर-व्यवहारवाद ने अध्ययन में नैतिक प्रतिबद्धता, सामाजिक उत्तरदायित्व और परिवर्तन की आकांक्षा को पुनः स्थापित किया। इस आंदोलन ने यह मांग की कि राजनीतिक वैज्ञानिक न केवल शोधकर्ता हों, बल्कि समाज के सजग नागरिक भी हों, जो अपने ज्ञान का उपयोग सामाजिक अन्याय और असमानता को दूर करने के लिए करें। इसने शुद्ध वैज्ञानिकता की उस धारणा को चुनौती दी, जिसमें शोधकर्ता को निष्क्रिय और भावनाहीन माना गया था।

अंततः, उत्तर-व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान को पुनः जनोन्मुख, मूल्यपरक और सामाजिक रूप से उत्तरदायी बनाने की दिशा में एक नया मार्ग प्रशस्त किया। इसने यह स्वीकार किया कि विज्ञान और नैतिकता एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं, बल्कि राजनीति जैसे विषय में दोनों का समन्वय आवश्यक है। इस प्रकार, उत्तर-व्यवहारवादी उपागम व्यवहारवाद की सीमाओं का उत्तर बनकर सामने आया और राजनीति विज्ञान को फिर से समाज के साथ गहरे रूप से जोड़ने का कार्य किया।

अभ्यास प्रश्न

1.व्यवहारवादी उपागम केवल संस्थाओं के अध्ययन पर जोर देता है। सत्य/असत्य

2.मार्क्सवादी उपागम के अनुसार राज्य क्या है?

A. जनता की सेवा करने वाली संस्था B. तटस्थ संस्था C. शासक वर्ग का उपकरण D. न्यायप्रिय संगठन

3.उत्तर-व्यवहारवाद की शुरुआत किस विचारक ने की?

A. गैब्रिएल आलमंड B. फ्रेडरिक एंगेल्स C. नैन्सी फ्रेजर D. डेविड ईस्टन

4.मार्क्सवाद में 'विभ्रम' (Alienation) किसका परिणाम है?

A.लोकतंत्र का B) आर्थिक शोषण का C) शिक्षा की कमी का D) विचारधारा का प्रभाव

4.8 सारांश

इस इकाई में आपने राजनीति विज्ञान में प्रयोग होने वाले आधुनिक उपागमों का विस्तृत अध्ययन किया। पारंपरिक दृष्टिकोणों की तुलना में आधुनिक उपागम राजनीतिक घटनाओं को एक नए दृष्टिकोण से देखने का अवसर प्रदान करते हैं। प्रारंभिक उपागम आदर्शों और संस्थाओं पर केंद्रित थे तथा इस बात पर बल देते थे कि "क्या होना चाहिए"। परंतु औद्योगीकरण और व्यवहारवादी क्रांति के साथ राजनीतिक अध्ययन का केंद्र बिंदु "क्या है" की वास्तविकता की ओर स्थानांतरित हो गया। अब राजनीति विज्ञान केवल संस्थागत ढाँचों तक सीमित न रहकर, व्यवहार, अनुभव और सामाजिक संदर्भों के अध्ययन का विषय बन गया है।

इस इकाई में सबसे पहले आपने मार्क्सवादी उपागम का अध्ययन किया। यह उपागम कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स के विचारों पर आधारित है, जो यह मानते हैं कि समाज की आर्थिक संरचना ही उसकी राजनीतिक अधिरचना को नियंत्रित करती है। उनके अनुसार, सत्ता उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रखने वाले वर्ग के हाथ में होती है, और राजनीति वस्तुतः वर्ग संघर्ष की अभिव्यक्ति है। इस उपागम ने यह स्पष्ट किया कि राज्य कोई तटस्थ संस्था नहीं है, बल्कि यह शासक वर्ग के हितों को बनाए रखने का माध्यम है। इस दृष्टिकोण में विचारधारा को भी विश्लेषण का केंद्र माना गया है, जहाँ झूठी चेतना द्वारा जनता को उनके वास्तविक शोषण से अनजान रखा जाता है। हालाँकि, इसकी आलोचना इसके अत्यधिक निर्धारणवाद और आर्थिक एकांगीपन के कारण की गई है, फिर भी यह आज भी सामाजिक विषमता, पूंजीवादी शोषण और वैश्विक असमानता को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध होता है। इसके बाद, आपने समाजशास्त्रीय उपागम का अध्ययन किया, जो यह मानता है कि राजनीति को समाज से पृथक नहीं देखा जा सकता। इसके अनुसार, राज्य समाज का ही एक अंग है और राजनीतिक व्यवहार, नीति निर्माण, और संस्थागत संरचनाएँ सामाजिक कारकों जैसे

जाति, वर्ग, धर्म, भाषा, और संस्कृति से प्रभावित होती हैं। यह उपागम बताता है कि राजनीतिक सहभागिता सामाजिक स्थिति और परिवेश से जुड़ी होती है। इसके ज़रिए राजनीति को अधिक मानवीय, समावेशी और न्यायसंगत दृष्टिकोण से समझने का मार्ग प्रशस्त होता है।

तत्पश्चात आपने व्यवहारवादी उपागम को जाना, जिसने राजनीति विज्ञान को अधिक वैज्ञानिक, पद्धतिपरक और अनुभवजन्य बनाया। इसने संस्थाओं की जगह व्यक्ति और समूह के व्यवहार को अध्ययन का केंद्र बनाया। अनुभववाद, मूल्य-तटस्थता, और अंतरविषयक दृष्टिकोण इस उपागम की प्रमुख विशेषताएँ हैं। यह उपागम आंकड़ों, सर्वेक्षणों और व्यवहारिक विश्लेषणों के माध्यम से राजनीतिक प्रक्रियाओं को अधिक ठोस रूप से समझाने का प्रयास करता है। यद्यपि इसकी आलोचना इस कारण हुई कि यह नैतिक मूल्यों और राजनीतिक आदर्शों की उपेक्षा करता है। अंततः, आपने उत्तर-व्यवहारवादी उपागम का अध्ययन किया, जो व्यवहारवाद की सीमाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित हुआ। डेविड ईस्टन जैसे विचारकों ने यह तर्क दिया कि राजनीतिक अध्ययन केवल तथ्यों तक सीमित न रहकर सामाजिक परिवर्तन और जनहित से भी जुड़ा होना चाहिए। उत्तर-व्यवहारवाद ने राजनीतिक अध्ययन में सामाजिक जिम्मेदारी, नैतिक प्रतिबद्धता और क्रियाशीलता को पुनः केंद्र में स्थापित किया। इस प्रकार, इस इकाई में आपने यह समझा कि आधुनिक राजनीतिक उपागम राजनीति को केवल शासकीय प्रक्रिया नहीं मानते, बल्कि उसे समाज के गहन और विविध पहलुओं से जोड़ते हैं। इन उपागमों ने राजनीति विज्ञान को अधिक यथार्थपरक, समावेशी और व्यवहार-केंद्रित बनाया है, जिससे यह विषय आज के जटिल राजनीतिक और सामाजिक परिवेश में अधिक प्रभावशाली ढंग से योगदान दे रहा है।

4.9 शब्दावली

व्यवहारवाद- राजनीति विज्ञान का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, जो व्यक्ति और समूह के वास्तविक राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन पर ज़ोर देता है।

उत्तरव्यवहारवाद- एक ऐसा दृष्टिकोण है जो राजनीति के अध्ययन में वैज्ञानिकता के साथ-साथ सामाजिक न्याय, नैतिकता और जनसरोकारों को भी महत्वपूर्ण मानता है।

पूंजीपति वर्ग- वह वर्ग है जिसके पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व होता है और जो श्रमिकों के श्रम से लाभ कमाता है।

4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.असत्य, 2. C. शासक वर्ग का उपकरण, 3. D. डेविड ईस्टन, 4. B. आर्थिक शोषण का

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

ओ.पी. गाबा- राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा

डॉ. पुखराज जैन- राजनीतिक सिद्धांत

Robert A. Dahl - *Modern Political Analysis*

David Easton - *The Future of the Political System*

David Easton - *The Political System: An Inquiry into the State of Political Science*

4.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

एडी. आशीर्वादम और कृष्णकांत मिश्र- राजनीति विज्ञान

Andrew Heywood - *Politics*

4.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. आधुनिक राजनीति विज्ञान के अध्ययन में पारंपरिक एवं आधुनिक उपागमों की तुलना करते हुए आधुनिक

   उपागम की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

2. मार्क्सवादी उपागम की विशेषताओं और उसकी आलोचनाओं का विश्लेषण कीजिए।

3. व्यवहारवादी उपागम के सिद्धांत, विशेषताएँ एवं उसकी सीमाओं का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

4. व्यवहारवादी और उत्तरव्यवहारवादी उपागम का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए।

इकाई-5 राज्य की प्रकृति व उत्पत्ति का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3परिचय: राज्य की संकलपना एवं परिभाषाएँ

5.4 राज्य के तत्व

5.5 राज्य की प्रकृति

5.5.1 विधि शास्त्रीय सिद्धान्त

5.5.2 सावयव सिद्धान्त

5.5.3 मार्क्सवादी सिद्धान्त

5.5.4 आदर्शवादी सिद्धान्त

5.5.5 बहुलवादी सिद्धान्त

5.6 राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

5.6.1 राज्य की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धान्त

5.6.2 राज्य की उत्पत्ति का शक्ति/बल सिद्धान्त

5.6.3 राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक संविदा सिद्धान्त

5.6.4 राज्य की उत्पत्ति का पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक सिद्धान्त

5.6.5 राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक/ क्रम विकास सिद्धान्त

5.7 सारांश

5.8शब्दावली

5.9अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.10संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.11सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

5.13 निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

राज्य मानव जीवन की एक अत्यंत महत्वपूर्ण और अपरिहार्य संस्था है। यद्यपि मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है परंतु मनुष्य के सामाजिक जीवन को संगठित और व्यवस्थित करने के लिए राज्य की आवश्यकता पड़ती है । इस कारण अरस्तू ने कहा है की ' राज्य का जन्म मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के कारण होता है। मनुष्य स्वभावतः राज्य के अंतर्गत रहने वाला प्राणी है। जो मनुष्य राज्य के अंतर्गत नहीं रहता वह या तो पशु है या देवता। '

मनष्य के सामाजिक जीवन में राज्य सुरक्षा,न्याय, व्यवस्था और लोक कल्याण जैसे महत्वपूर्ण कार्य करने वाली संस्थाहै। राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप और उसके उद्देश्यों को लेकर विभिन्न विचारकों और दार्शनिकों के बीच मतभेद पाये जाते हैं। राजनीतिक विचारकों ने राज्य को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से समझने और परिभाषित करने का प्रयास किया है ।

इसइकाईमें राज्य की संकल्पना, उसके तत्व, उसकी प्रकृति और उसकी उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धांतों की विवेचना की गयी है।

5.2 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन सेआपराज्य की संकल्पना, तत्वों, प्रकृति और उत्पत्ति के सिद्धांतों के विषय में सम्यक ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- राज्य की संकल्पना और उसकी विभिन्न परिभाषाओं को समझ सकेंगे।
- राज्य के प्रमुख तत्वों को जानेंगे।
- राज्य की प्रकृति के विभिन्न दृष्टिकोणों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धांतों को जानेंगे।

5.3राज्य की संकल्पना एवं परिभाषा

राज्य की अवधारणा का राजनीति विज्ञान में केन्द्रीय स्थान है। राज्य का अध्ययन, राजनीति शास्त्र के अध्येता के लिए प्रारम्भिक बिन्दु होना चाहिये ।राज्य का उद्भव मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व को व्यवस्थित और संगठित बनाने के लिए हुआ है। मनुष्य अपने स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है

और राज्य उसके जीवन के लिए अपरिहार्य है क्योंकि राज्य के ही अंतर्गत एक संगठित और व्यवस्थित सामाजिक जीवन की परिकल्पना की जा सकती है। इस कारण अरस्तू ने मनुष्य को एक राजनीतिक प्राणी कहा है।

राज्य की संकल्पना को विभिन्न विचारकों ने अपने दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया है। प्राचीन विचारक जैसे **प्लेटो** और **अरस्तू** के लिए राज्य एक नैतिक समुदाय है जिसमे मनुष्य एक श्रेष्ठतर जीवन जी सकता है। वहीं आधुनिक विचारक राज्य को विधिक और संगठनात्मक दृष्टिकोण सेदेखते हैं। विभिन्न विचारकों ने अपनी विचारधारा के अनुसार राज्य की संकल्पना को समझा है। इस कारण इसकी अवधारणा बहुआयामी है। इन विभिन्न संकल्पनाओं के मध्य **एंड्रू हेवुड** के अनुसार राज्य को समझने के तीन प्रमुख दृष्टिकोण रहे हैं-

1. आदर्शवादी (idealist)
2. कृत्यवादी (functionalist)
3. संगठनात्मक (structuralist)

बॉब जेस्सपने राज्य को उसके संघटक तत्वों के आधार परनिरूपित किया है। उनके अनुसार राज्य को सबसे बेहतर ढंग से जनरल स्टेट थियरि (सामान्य राज्य के सिद्धान्त) के आधार पर परभाषित किया जा सकता है। जेस्सप के अनुसार राज्य के तीन प्रमुख तत्व हैं

1) एक स्पष्ट रूप से रेखांकित भूभाग जो को कमोबेश निर्विरोध और निरंतर रूप से राज्य के तंत्र के अधीन हो

2) सामान्य और विशेष शक्तियों वाला एक राजनीतिक रूप से संगठित प्रशासनिक एवं प्रतीकात्मक तंत्र जो की बल प्रयोग में सक्षम हो

3) एक स्थायी और स्थिर जनसंख्या जिस पर राज्य की राजनीतिक प्राधिकार और निर्णयों को बाध्यकारी माना जाता हो

परिभाषाएँ

राज्य को विभिन्न विद्वानों ने अपने दृष्टिकोण से परिभाषित किया है। प्राचीन विद्वानों ने को राज्य मूलतः एक समुदाय के रूप में देखा है जिसका निर्माण उससे जुड़े व्यक्तियों के सुख एवं लाभ के लिए हुआ है।

प्लेटो के अनुसार राज्य व्यक्ति का वृहद रूप है (State is individual writ large)

अरस्तू के अनुसार राज्य परिवारों तथा ग्रामों के एक ऐसा समुदाय है जिसका उद्देश्य पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।

बाद के विचारकों ने राज्य की परिभाषा राज्य के संगठक तत्वों के आधार पर की है।

ब्लण्ट्श्ली ने एक निश्चित भू-प्रदेश में राजनीतिक दृष्टि से संगठित व्यक्तियों को राज्य माना है।

मैक्स वेबर के अनुसार - राज्य एक ऐसा मानव समुदाय है जो एक निश्चित भू-भाग के भीतर विधिक बल प्रयोग के एकाधिकार का सफलतापूर्वक दावा करता है।

वुडरो विल्सन के अनुसार राज्य एक निश्चित प्रदेश के अंतर्गत नियम या विधि के द्वारा संगठित लोगों का समाज है।

लास्की के अनुसार राज्य एक प्रादेशिक समाज है जो की सरकार और प्रजा में विभाजित है और जो अपने निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में अन्य सभी समुदायों पर सर्वोच्च सत्ता रखता है।

गार्नर के अनुसार - राजनीति विज्ञान और सार्वजनिक कानून की धारणा के रूप में राज्य संख्या में कम या अधिक व्यक्तियों का ऐसा संगठन है जो किसी प्रदेश में एक निश्चित भूभाग में स्थायी रूप से रहते हों, जो बाहरी नियंत्रण से पूर्ण स्वतंत्र या लगभग स्वतंत्र हों और जिसका एक संगठित शासन हो जिसके आदेशों का पालन नागरिकों का विषक समुदाय स्वभावतः करता हो।

फिल्मोर के अनुसार - राज्य मनुष्य का वह समुदाय है जो किसी निश्चित भूभाग पर स्थायोई रूप से बसा हुआ है और जो एक सुव्यवस्थित सरकार द्वारा उस भू भाग की सीमा के अंतर्गत व्यक्तियों तथा पदार्थों पर पूरा नियंत्रण तथा प्रभत्व रखता हो और जिसे विश्व के अन्य किसी भी राज्य से संधि या युद्ध करने अथवा अन्य किसी प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो।

उपरोक्त परिभाषाओं को देखें तो ब्लण्ट्श्ली, वेबर, विल्सनएवं लास्की की परिभाषाएँ राज्य को एक विशिष्ट राजनीतिक संगठन या समुदाय के रूप में परिभाषित करती हैं। जबकि फिल्मोर, गार्नर की परिभाषाएँ राज्य की संकल्पना को समझने के लिए ज़्यादा उपयुक्त हैं क्योंकि वह इन परिभाषाओं में राज्य के लगभग सभी तत्वों - जनसंख्या, निश्चित भूभाग, सरकार, प्रभुसत्ता तथा संप्रभुता (आंतरिक एवं बाह्य दोनों) - का स्पष्ट उल्लेख करते हैं।

5.4 राज्य के तत्व

राज्य की अवधारणा को स्पष्ट रूप से समझने के लिए उसके मूलभूत तत्वों का विश्लेषण अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्राचीन भारतीय चिंतन परंपरा से लेकर आधुनिक राजनीतिक चिंतन तक, राज्य को उसके संघटक तत्वों के आधार पर परिभाषित करने के प्रयास होते रहे हैं। ये तत्व राज्य की संरचना, उसके कार्यों और उद्देश्यों को समझने में सहायक होते हैं।

5.4.1 जनसंख्या

राज्य एक मानवीय संस्था है जिसका उद्भव मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति में है। राज्य के अस्तित्व के लिए एक स्थायीजनसंख्या आवश्यक है। जनसंख्या ही राज्य के अस्तित्व का आधार है। बिना जनसंख्या के राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती।

राज्य की आदर्श जनसंख्या कितनी होनी चाहिए? **प्लेटो** अपने आदर्श राज्य की जनसंख्या 5,040 नियत करते हैं वहीं **रूसो** के अनुसार राज्य की आदर्श जनसंख्या 10,000 होनी चाहिए।

आधुनिक कल में राज्यकी जनसंख्या को एक संसाधन के रूप में देखा जाने लगा। एक विशाल जनसंख्या राज्य के लिए शांति-काल में उसकी उत्पादन क्षमता में वृद्धि करती है और युद्ध-काल में उसकी सैन्य शक्ति बढ़ाती है। हिट्लर और मुसोलिनि जैसे फासीवादी नेता जनसंख्या बढ़ाने के लिए अपने नागरिकों को वित्तीय प्रोत्साहन तक देते थे और अविवाहित अथवा संतानहीन लोगों पर अधिक कर लगाने की नीति अपनाते थे। सोवियत रूस में भी जनसंख्या वर्धन कीनीतियों को अपनाया गया। बाद के वर्षों जनसंख्या नियंत्रण पर ज़ोर दिया जाने लगा। चीन जैसे राष्ट्रों में अधिक जनसंख्या से निपटने के लिये‘एक संतान नीति’ (one child policy) अपनाई गयी। उसी प्रकार भारत में भी परिवार नियोजन कार्यक्रम चलाये गए।

समकालीन राज्यों को देखें तो जनसंख्या के मामले में भारी विविधता नज़र आती है। एक तरफ चीन और भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले राज्य हैं तो दूसरी तरफ वैटिकन सिटि जैसा राज्य है जिसकी जनसंख्या हज़ार से भी कम है।

वैसे राज्य के लिए जनसंख्या की कोई ऊपरी और निचली सीमा नहीं है परंतु राज्य के संसाधनों के उपयुक्त जनसंख्या ही राज्य के सुचारु संचालन के लिए सर्वोत्तम है।

5.4.2 निश्चित भूभाग

राज्य की सीमाएं एक निश्चित भू-क्षेत्र द्वारा परिभाषित होती हैं। यह भूभाग राज्य की संप्रभुता के अधीन होता है और उस पर राज्य के नियमों और प्रशासन का प्रत्यक्ष नियंत्रण रहता है। निश्चित भूभाग राज्य की भौगोलिक एकता और उसकी क्षेत्रीय अखंडता को सुनिश्चित करता है। परंतु कुछ विचारक भूभाग की राज्य के एक तत्व के रूप में गणना नहीं करते। **जॉन सीली** भूभाग को राज्य के लिए अनिवार्य तत्व नहीं मानते। अगर एक समाज एक सरकार के शासन के अंतर्गत एकीकृत है तो वह सीली के अनुसार राज्य की परिभाषा में आता है। सीली घुमंतू कबीलाई समाज द्वारा स्थापित राज्यों का उदाहरण देकर कहते है की एक निश्चित भूभाग राज्य के लिए अपरिहार्य नहीं है। विलोबि भी इस मत का समर्थन करते हुए कहते हैं की राज्य के लिए राजनीतिक रूप से एकीकृत समुदाय पहली आवश्यकता हैं न के भूभाग और अन्य तत्व।

परंतु अन्य विचारकों ने निश्चित भूभाग को राज्य का अपरिहार्य और आधारभूत तत्व माना है। **दुगुइत**भी कहते हैं की व्यावहारिक रूप से बिना निश्चित भूभाग के बिना राज्य की परिकल्पना नहीं को जा सकती।

भूभाग के आधार पर भी राज्यों में काफी भिन्नता देखने को मिलती है, एक तरफ रूस, चीन, संयुक्त राज्य अमरीका जैसे विशालकायी राज्य हैं जो की लाखों वर्ग किलोमीटर में फैले हुए हैं तो दूसरी ओर वैटिकन सिटि, मोनेको जैसे राज्य हैं जो की कुछ वर्ग किलोमीटर में सिमटे हुए हैं। राज्यके अंतर्गत भूभाग का आकार महत्वपूर्ण नहीं है परंतु महत्वपूर्ण यह है कि उस निश्चित भूभाग और उस पर रहने वाले लोगों पर उस राज्य का पूर्ण नियंत्रण और प्रभुत्व होता है। यही गुण ही राज्य को राज्य बनाता है। इस गुण को हम संप्रभुता कहते हैं जिसे हमे आगे पढ़ेंगे।

5.4.3 सरकार

सरकार वह संगठनात्मक तंत्र है जिसके माध्यम से राज्य का शासन चलता है। यह विधि-निर्माण, नीति-निर्धारण, कानून के क्रियान्वयन और न्याय व्यवस्था को संचालित करती है। सरकार राज्य के प्रशासनिक ढांचे को संगठित और व्यवस्थित रूप देती है और राज्य की शक्ति का प्रयोग सरकार के माध्यम से ही होता है।

5.4.4 संप्रभुता

संप्रभुता राज्य का एक विशिष्ट तत्व है।राज्य की संप्रभुता के दो पेहलू होते हैं। आंतरिक एवं बाह्य संप्रभुता। आंतरिक संप्रभुता का अर्थ है कि आंतरिक मामलों में राज्य का प्राधिकार एवं शक्ति

सर्वोच्च और निर्विरोध है।बाह्य संप्रभुता का अर्थ है कि वह किसी बाहरी शक्ति केनियंत्रण से मुक्त है। राज्य आंतरिक रूप से प्राधिकार के क्षेत्र में शक्ति के एकाधिकार का दावा करता है। उसकी यह शक्ति उसके नियंत्रण क्षेत्र में अप्रतिरोध्य होनी चाहिए। राज्य की यह शक्ति अविभाज्य होती है - दो राज्य एक क्षेत्र या भूभाग पर संप्रभुता का दावा नहीं। उसी प्रकार किसी बाह्य शक्ति के नियंत्रण और प्रभाव से विमुक्त हिने एक संप्रभुता के लिए आवश्यक है।

5.5राज्य की प्रकृति

राज्य की प्रकृति को समझने के लिए विभिन्न विचारक अलग-अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। कुछ इसे विधिक संस्था मानते हैं, कुछ इसकी तुलना एक जीवित प्राणी से करते हैं, कुछ इसे वर्ग-संघर्ष की उपज मानते हैं, तो कुछ प्रतिस्पर्धी समूहों के बीच मध्यस्थ के रूप में देखते हैं। यहां प्रमुख दृष्टिकोणों की संक्षिप्त चर्चा की गई है।

5.5.1 विधि शास्त्रीय सिद्धान्त

इस सिद्धांत के अनुसार राज्य ऐसी संस्था है जिसका मुख्य उद्देश्य विधिक है। विधि का निर्माण, व्याख्या तथा क्रियान्वयन राज्य के मुख्य कार्य है। राज्य विधि का अंतिम स्रोत मानता है और विधि राज्य काआदेश मात्र है। विधि निर्माण में राज्य की शक्ति असीमित और उसका अधिकार-क्षेत्र व्यापक है।यही नहीं,इस सिद्धान्त के अनुसारराज्य का एक पृथक विधिक व्यक्तित्व (legal personality) भी होता है।

ऑटो वॉन गीरके, **स्टाल**, **स्टाइन, गर्बर, लास्सान, ट्रीट्श्के, ब्लंटश्ली, जेलिंक** और **मेटलैंड** जैसे विचारक इस सिद्धान्त के समर्थक रहे हैं।

ब्लंटश्ली के अनुसार सार्वजनिक कानून की दृष्टि से राज्य की अपनी एक विशिष्ट विधिक इच्छा (distinctlegal will) होती है जो की उसके नागरिकों की विधिक इच्छाओं केयोग (sum of wills) से पृथक होती है,अपने शब्दों और कृत्यो से राज्य के पास इस विधिक इच्छा को अभिव्यक्त करने की क्षमता भी होती है। राज्य अधिकारों का जन्मदाता है और साथ ही उसके अपने पृथक अधिकार भी होते हैं। ब्लंटश्ली के अनुसार राज्य का विधिक व्यक्तित्व प्रतीकात्मक नहीं परंतु एक वास्तविकता है।

आलोचना - इस सिद्धान्त की **लियॉन दुगुईत** और **ला फ़र** जैसे विधिशास्त्रियों ने आलोचना की है। उनके अनुसार राज्य का पृथक विधिक व्यक्तित्व एक अवैज्ञानिक कल्पना है औरराज्य को विधि का आदि और अंतिम स्रोत नहीं माना जा सकता।

समीक्षा - राज्य को विधिक क्षेत्र में सुविधा के लिए विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाता है, ताकि न्यायालयों में राज्य के पक्ष और विपक्ष में वाद दायर किया जा सके तथा उसके कानूनी दायित्व और अधिकार तय किया जा सकें। इसी प्रकार निगमों, न्यासों, स्थानीय निकायों और कंपनियों को भी विधिक व्यक्तित्व प्रदान किया जाता है। इसका उद्देश्य केवल यह है कि ये संस्थाएँ कानूनी दृष्टि से एक पृथक इकाई के रूप में कार्य कर सकें। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन संस्थाओं की वास्तव में अपने संघटकों से भिन्न कोई स्वतंत्र विधिक इच्छा या व्यक्तित्व होता है।

5.5.2 सावयव सिद्धान्त :

सावयव सिद्धान्त (Organic Theoryof State) राज्य की तुलना एक जीव या प्राणी (organism) से करता है। जैसे एक प्राणी विभिन्नअंगों से मिलकर बनता है और यह सभी अंग कार्यात्मक रूप से जुड़े होते हैं। इन अंगों का प्राणी से पृथक कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। हर अंग का विशिष्ट कार्य होता है और इन सभी अंगों में समग्र एकता होती है।वैसे ही राज्य भी विभिन्न भागों से मिलकर बनता है, हर भाग का एक विशिष्ट कार्य होता है और ये सभी भागों में एक समग्र एकता होती है। एक जीव के अंगों की तरह राज्य के विभिन्न अंगों में पारस्परिक निर्भरता होती है,जब हर अंग अपना कार्य सही ढंग से करता है तब ही राज्य सुचारु रूप से संचालित हो पाता है।

इस सिद्धान्त का प्रचार प्राचीन कल के विचारकों में बहुत था। **प्लेटो** ने राज्य को 'व्यक्ति का वृहद रूप'कह कर परिभाषित किया है। **अरस्तू** भी इस विचार का समर्थन करते थे। रोमन विचारकोंमें **सिसेरो**और मध्यकालीन विचारकों में **जॉन ऑफ सेलिसबरी**,**मार्सिलियो ऑफ पेडूआ** और **अल्थूसियस** भी इसका समर्थन करते हैं।

जहां की प्राचीन विचारकों ने राज्य की जीवित प्राणी से तुलना मात्र की है। उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ विचारक राज्य ने इस संकल्पना को आगे बढ़ाते हुए राज्य को एक जैविक प्राणी के सदृश चरितार्थ किया है। इसमें जर्मन विचारक **ब्लंटष्ली** प्रमुख थे जो राज्य को 'मानव जीव की छवि' मानते हैं।

हर्बर्ट स्पेंसर ने समाज को जैविक प्राणी सदृश्य माना है। स्पेंसर ने समाज के विकास की तुलना जीवों के क्रम विकास (evolution) से की। उन्होंने समाज की उत्पादन, संचार एवं शासन प्रणालियों की तुलनाजैविक प्राणी के पोषण, परिसंचरण और नियंत्रण तंत्र से की।

अल्बर्ट शाफल, औगस्ट कोम्ट, फ़्रोइए और रिने वर्म्ज़ इससिद्धान्त के अन्य समर्थक रहे हैं।

अर्नेस्ट बार्करका इस सिद्धान्त पर कहना हैकि राज्य कुछ मायनों में जीव जैसा ज़रूर है और उसकी जीव से तुलना की जा सकती है, लेकिन उसी जीवित प्राणी सदृश मानना सही नहीं है।

5.5.3 मार्क्सवादी सिद्धान्त

कार्ल मार्क्स साम्यवाद के प्रवर्तक थे। मार्क्स के अनुसार समाज का आधार उसकी आर्थिक संरचना (base) है अर्थात - उत्पादन के साधन जो उत्पादन के सम्बन्धों को तय करते हैं। यह आधार वृहत समाज की संरचना को रूप देता है जिसे वह अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर / superstructure) नाम देते हैं। राज्य अधिरचना काभाग है। मार्क्स के लिए राज्य वर्ग संघर्षकी उपज है, शोषक वर्ग के हितों का संरक्षण और संवर्धन के लिए ही उसका आविष्कार हुआ है।मार्क्सवादियों के अनुसार राज्य पूंजीपति वर्ग के हितों की कार्यपालक समिति (executive committee of bourgeoisie) मात्र है। साम्यवाद की स्थापना के बाद शोषित और शोषक वर्ग के अस्तित्व में नहीं रहने के कारण राज्य की आवश्यकता भी खत्म हो जाएगी और तब मार्क्स के अनुसार राज्य धीरे धीरे गायब हो जाएगा (withering away of the state)।

अंटोनियो ग्रामशी ने आधार और अधिरचना की संकल्पना पर आधारित हेगेमोनी या **वर्चस्व**(hegemony) का सिद्धान्त प्रदत्त किया था। ग्रामशी के अनुसार अधिरचना भी आर्थिक आधार को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अधिरचना बौद्धिक और सांस्कृतिक माध्यम से मौजूदा आर्थिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए शोषित वर्ग में सहमति बनाने का काम करती है और इस प्रकार आर्थिक आधार और संरचना को वैधानिकता प्रदान करती है। राज्य इस प्रक्रिया में प्रमुख भूमिका निभाता है।

नव-मार्क्सवादियों में राज्य की प्रकृति को लेकर **उपकरणवादी बनाम संरचनावादी बहस** छिड़ी। **राल्फ़ मिलिबेण्ड** ने अपनी पुस्तक **द स्टेट इन कैपिटलिस्ट सोसाइटी** में राज्य का

उपकरणवादी दृष्टिकोण सामने रखा। उनके अनुसार राज्य आभिजात्य और शासक वर्ग का उपकरण मात्र है। शासक वर्ग के सदस्य ही राज्य का नेतृत्व करते हैं इस कारण राज्य पूंजीवादी शासक वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता है।

निको पोलन्त्ज़ास अपनी पुस्तक **पॉलिटिकल पावर एंड सोशियल क्लास** राज्य की एक व्यवस्था के रूप में स्वायत्तता पर आर्थिक और सामाजिक संरचना के प्रभाव और दबाव पर ज़ोर देते हैं। राज्य मौजूदा सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को बनाए रखने में प्रमुख भूमिका निभाता है। राज्य द्वारा मजदूर वर्ग के कल्याण के कार्य भी अंततः पूंजीवाद को बनाए रखने के लिए किये जाते हैं।

बॉब जेस्सप के अनुसार राज्य पूँजीपति वर्ग द्वारा वर्ग संघर्ष को दबाने का उपकरण मात्र नहीं है परंतु वह एक ऐसा संस्थाओं का समूह है जिसमें शासक वर्ग के विभिन्न उपवर्ग अपने हितों के लिए और अपने वर्चस्व के लिए संघर्षरत हैं।

5.5.4 आदर्शवादी सिद्धान्त

आदर्शवादी दृष्टिकोण में राज्य को एक नैतिक और आदर्श संस्था के रूप में प्रस्तुत किया जाता हैजो कि नैतिक मूल्यों का मूर्त रूप है।प्राचीन यूनान में राज्य की संकल्पना एक नैतिक समुदाय के रूप में की गयी थी। यह संकल्पना हम **प्लेटो** और **अरस्तू** के दर्शन में भी देख सकते हैं।

बाद के वर्षों में आदर्शवादी राज्य की यह संकल्पना प्रखर रूप से हमें **हेगेल** के विचारों में मिलती है। हेगेल ने मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व के तीन स्तर या पड़ावों को निरूपित किया है। परिवार जो की परटिक्युलर परार्थवाद (particular altruism) का क्षेत्र है, दूसरा नागरिक समाज जो की विश्वजनीन स्वार्थवाद (universal egoism) का क्षेत्र है और आखिर में राज्य जो की विश्वजनीन परार्थवाद (universal altruism) का क्षेत्र है। इस प्रकार राज्य को हेगेल एक नैतिक समुदाय के रूप में देखते हैं जिसका मौलिक मूल्य आपसी सहानुभूति (विश्वजनीन परार्थवाद) है। इस प्रकार आदर्शवादी विचारक एक आदर्श समुदाय के रूप में राज्य का महिमा-मंडन करते हैं। **कान्त, ट्रीट्ष्के** और **बोसाङ्के** भी राज्य की अदरशवादी संकल्पना के समर्थक रहे हैं।

5.5.5 बहुलवादी सिद्धान्त : बहुलवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य समाज में एक निष्पक्ष और तटस्थ अंपायर या रेफ्री की भूमिका में होता है। उदरवादी विचारधारा से प्रभावित इस दृष्टिकोण में राज्य समाज में प्रतिद्वंदी समूहों, व्यक्तियों और संस्थाओं के बीच एक निष्पक्ष मध्यस्थ की भूमिका में

होता है। वह सभी नागरिकों के अधिकारों का संरक्षण करता है और दूसरों द्वारा उनके हनन से उन्हें बचाता है।बहुलवादी सिद्धान्त के अनुसार उदार लोकतान्त्रिक समाजों मेंशक्ति एवं सत्ता व्यापक और समान रूप से समाज में वितरित होती है।

एफ़ एम जी केन्र्स के अनुसार, राज्य विभिन्न प्रतिस्पर्धी समूहों के बीच संतुलन बनाए रखने वाला तटस्थ अंपायर (neutral umpire) है। उनके अनुसार लोकतान्त्रिक समाज में शक्ति समान रूप से वितरित होती है और कोई एक समूह राज्य पर हावी नहीं हो सकता। **आर के डाहल** अपनी पुस्तक **हू गवर्न्स: डेमॉक्रसी एंड पावर इन एन अमेरीकन सिटि** में लिखते हैं कि लोकतान्त्रिक समाजों में सत्ता कई समूहों में विभाजित होती है। कोई एक समूह सर्वशक्तिशाली नहीं होता और नीति निर्माण विभिन्न समूहों कि प्रतिस्पर्धा और सहयोग का परिणाम है।

आधुनिक बहुलवादी (neo-pluralist) थोड़ा आलोचनात्मक रवैय्या अपनाते हैं वह और इस बात को स्वीकारते हैं की आधुनिक राज्यों में कुछ हितों और समूहों को विशेषाधिकार (privileged position) प्राप्त होता है। राज्य ऐसे हितों के दबाव के प्रति अधिक संवेदनशील होता है। **जे.के. गेलब्रेथ** ने अपनी पुस्तक **न्यू इंडस्ट्रियल स्टेट** में यह तर्क दिया है कि आधुनिक औद्योगिक समाज में कॉर्पोरेट कंपनियों का प्रभाव बाज़ार के साथ सरकार और उसकी नीति-निर्माण गतिविधियों पर भी पड़ता है। राज्य शक्तिशाली औद्योगिक समूहों के प्रभाव के प्रति अत्यधिक संवेदनशील होता है। **चार्ल्स लिण्डब्लोम** ने अपनी पुस्तक**पॉलिटिक्स एंड मार्केट्स**में यह तर्क दिया है कि राज्य के भीतर व्यावसायिक हितों का प्रभाव अन्य हितों और समूहों की तुलना में कहीं अधिक होता है, क्योंकि वे निवेश और रोजगार का सबसे बड़ा स्रोत होते हैं। उनके अनुसार, इस कारण सरकारें व्यवसायिक वर्ग के हितों को विशेष प्राथमिकता देती हैं।

एरिक नोर्ड्लिंगर अपनी पुस्तक **ऑन द ऑटोनॉमी ऑफ द डेमोक्रेटिक स्टेट** में बहुलवाद की आलोचना करते हुए तर्क देते हैं कि राज्य केवल दबाव समूहों का दास नहीं होता, बल्कि उसकी अपनी स्वायत्त शक्ति और उद्देश्य होते हैं। उनके अनुसार आधुनिक राज्य एक स्वायत्त, संगठित और केंद्रीकृत सत्ता है, जिसे वह 'स्वायत्त लोकतान्त्रिक राज्य' की संज्ञा देते हैं।

5.6 राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई? यह प्रश्न सदैव राजनीतिक विचारकों के मध्य चिंतन का विषय रहा है क्योंकि राज्य की उत्पत्ति को समझने से हम राज्य के उद्देश्य, प्रकृति और स्वरूप को भी बेहतर ढंग

से जान सकते हैं। ऐतिहासिक स्रोतों के अध्ययन से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि राज्य की उत्पत्ति वास्तव में किस प्रकार हुई होगी। इस अनिश्चितता के कारण विभिन्न विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति को समझाने के लिए विविध सिद्धांत प्रस्तुत किए हैं।

प्राचीन यूनान तथा भारत में भी राजनीतिक विचारकों ने इस प्रश्न पर गहन चिंतन किया है। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में जैसे की महाभारत और दीघनिकाय में भी राज्य की उत्पत्ति पर चिंतन किया गया है। उसी प्रकार पाश्चात्य राजनीतिक विचारकों में भी राज्य की उत्पत्ति पर विभिन्न मत रहे हैं।

5.6.1 राज्य की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धान्त

यह राज्य की उत्पत्ति के प्राचीनतम सिद्धांतों में से एक है। राज्य की दैवीय उत्पत्ति का सिद्धान्त राज्य को ईश्वरीय देन मानता है। यह सिद्धान्त राज्य को दैवीय आधार पर वैधता प्रदान करने का प्रयास करता है। इस सिद्धान्त को हम विश्व के सभी राजनीतिक विचार परम्पराओं में किसी न किसी रूप में पाते हैं। प्राचीन मिस्र और चीन से लेकर प्राचीन भारत तक राजा को ईश्वर का मूर्त रूप माना जाता था।

यूरोप में भी राजा को ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में देखा जाता था। मध्यकालीन यूरोप में इस सिद्धान्त का सहारा राजशाही और राजा की शक्तियों को वैधानिकता प्रदान करने के लिए किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक दैवीय संस्था है जिसकी रचना मानवमात्र के लिए ईश्वर ने की है तथा राजा को ईश्वर ने धरती पर अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किया है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होने के कारण केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदाई है न की अपनी प्रजा के प्रति। यह सिद्धान्त राजा की शक्ति पर किसी भी प्रकार के नियंत्रण को अस्वीकार करता है एवं राजा द्वारा निरंकुश शासन का समर्थन करता है। **रोबर्ट फ़िल्मर** ने अपनी **पुस्तक पेट्रीयार्का (1680)** में राज्य की दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन ईसाई धर्मशास्त्रों के आधार पर करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार जब ईश्वर द्वारा प्रथम मानव आदम की रचना की गयी तो ईश्वर ने उसे मानव मात्र का प्रथम राजा भी नियुक्त किया था तथा राजा और राजशाही इस दैवीय व्यवस्था के उत्तराधिकारी हैं अतः राजा की आज्ञा का अनुपालन ईश्वर की आज्ञा के अनुपालन के समान है। राजा का विरोध सिर्फ राजद्रोह ही नहीं परंतु पाप की श्रेणी में आता है क्योंकि यह ईश्वर द्वारा स्थापित सत्ता का विरोध है। फ्रांस में बूसे (Bousset) ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। इंग्लैंड के राजा जेम्स प्रथम ने यह घोषणा की कि राजा पृथ्वी पर ईश्वर का मूर्त रूप हैं (breathing imagesGod uponearth) और राजशाही पृथ्वी कि सर्वोच्च

व्यवस्था है, एक बुरा राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदाई है, प्रजा का कर्तव्य है कि वह राजा कि आज्ञा का अनुपालन करे चाहे वह राजाबुरा हो या भला।

यूरोप में प्रबोधन और पुनर्जागरण कल के बाद से वैज्ञानिक प्रवृत्ति और तार्किक विचारों के प्रसार के कारण धार्मिक विश्वासों पर आधारित इस सिद्धान्त पर प्रश्न उठने लगे। राजा की निरंकुश शक्तियों पर नियंत्रण के आकांशी विचारकों ने राज्य का आधार दैवीय सत्ता में न खोज कर मनुष्यों के बीच आपसी सेहमति और अनुबंध में खोजना प्रारम्भ किया इसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त का उद्भव हुआ। राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त, दैवीय उत्पत्ति सिद्दंत का प्रमुख प्रतिद्वंदी बन कर उभरा। राजशाही के विरोध में जनता के अधिकारों के लिए हुए संघर्ष के परिणाम स्वरूप लोकतन्त्र का उद्भव होने लगा। 1688 की गौरवपूर्ण क्रांति, 1776 की अमरीकी क्रांति और 1789 की फ्रांसीसी क्रांति और लोकतन्त्र के क्रमिक विकास ने राज्य की दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्वीकारिता को पूर्णतः नष्ट कर दिया।

5.6.2 राज्य की उत्पत्ति का शक्ति/बल सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के पीछे मूल तत्व बल या शक्ति है। जो मनुष्य अपनी शक्ति से दूसरों पर अधिकार स्थापित कर सका वह प्रथम राजा बना, अपनी शक्ति, संगठन और अनुयायियों के बल पर जिसने दूसरों पर अपनी सत्ता स्थापित करने मैं सफलता प्राप्त करी वही राजा बना और इस प्रकार ही राज्य की स्थापना हुई।अँग्रेजी में एक चर्चित कहावत है ‘ वॉर बिगोट द किंग ’(war begot the king)अर्थात युद्ध ही राजा का जनक है, यह कहावत राज्य की उत्पत्ति के शक्ति के सिद्धान्त को चरितार्थ करती है।

संत औगस्टिन जब कहते हैं कि‘राज्य वृहत स्तर पर डकैती नहीं है तो क्या हैं?’ (what are kingdoms butrobberies on a larger scale?) उनका अभिप्राय है कि राज्यका आधार शक्ति और बल है और उसका उद्भव निश्चित ही युद्ध और हिंसा से हुआ है। **पोप ग्रेगरी सप्तम** ने राजशाही के उद्भव पर कहा है की ‘ राजा मूलतः वह लोग थे जो ईश्वर से विमुख थे उन्होंने अपने अहंकार, लोभ, तृष्णा और लूटपाट की प्रवृत्ति के कारण अपने सहचरों पर हुक्म चलाने और शासन करने की युक्ति निकाल ली।’ उसी प्रकार **डेविड ह्यूम** के अनुसार जन समूह पर शासन करने वाला प्रथम व्यक्ति युद्ध का विजेता पक्ष रहा होगा। अपनी पुस्तक ‘अ शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिक्स’ में **ई॰ जेंक्स** कहते हैं की ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो सभी आधुनिक राजनीतिक समुदायों की उत्पत्ति युद्ध में सफलता से हुई है। इस सिद्धान्त के अन्य समर्थकों में **ओपनहाईमर, स्माल** और **वार्ड** भी शामिल हैं। इस सिद्धान्त को मानने वालों के अनुसार अतीत में शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा

अपने शौर्य, बाहुबल और समर्थकों के बल से अन्य लोगों पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। ऐसे व्यक्ति प्रारम्भिक काल में राजा बने और राज्य की उत्पत्ति इस प्रकार हुई।

समीक्षा-ऐतिहासिक दृष्टि से इस सिद्धान्त में आंशिक सत्य निहित है। परंतु राज्य की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त राज्य निर्माण प्रक्रिया का अति-सरलीकरण माना जा सकता है।

5.6.3 राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक संविदा सिद्धान्त

सामाजिक संविदा या समझौता सिद्धान्त के अनुसार राज्य दैवीय संस्था नहीं अपितु एक मानवीय संस्था है जिसका निर्माण व्यक्तियों के बीच आपसी समझौते के आधार पर हुआ है। सामाजिक संविदा सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण सिधान्त है जिसका पुनर्जागरण काल के बाद उन्नीसवीं शताब्दी तक पाश्चात्य राजनीतिक विचार परंपरा में प्राधान्य रहा है। कुछ विचारकों के अनुसार यह एक प्राचीन सिद्धान्त है जिसके अंश हम प्राचीन यूनान और रॉम के राजनीतिक विचारों में भी देख सकते हैं। **सेलेस्टफ्रेंड** के अनुसार, **प्लेटो** की रचना***क्रीटो***में **सुकरात** द्वारा अपने मृत्युदंड को स्वीकार करने और एथेंस से पलायन करने के मित्रों के प्रस्ताव को ठुकराने के पक्ष में दिए गए तर्कों में सामाजिक संविदा सिद्धांत के विचारों से उल्लेखनीय समानता पाई जाती है। यूनानी **एपिक्यूरियन** विचारक तथा रोमन विचारक **पोलिबियस** और **सीसेरो** के कुछ विचार भी सामाजिक संविदा सिद्धान्त से काफी मेल खाते हैं। परंतु सामाजिक संविदा सिद्धान्त का वास्तविक उद्भव और पूर्ण विकास हम सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी यूरोप में तीन विचारकों **हॉबज़**(लेव्याथन, 1651)**, लॉक**(टू ट्रिटाइसेज़ ऑन गवर्नमेंट जिसका प्रकाशन,1689)और **रूसो**(सोश्ल कांट्रैक्ट, 1762) में पाते हैं।

इन विचारकों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों में कुछ समानताएँ हैं । इन सभी विचारकों के अनुसार राज्य की उत्पत्ति व्यक्तियों के बीच समझौते से हुई है। और इन सभी विचारकों ने मानव इतिहास को दो भागों में विभाजित किया है-

1. सामाजिक संविदा से पूर्व - प्रकृतिक अवस्था का काल

2. सामाजिक संविदा से नागरिक जीवन के प्रारम्भ का काल

परंतु प्रकृतिक अवस्था के स्वरूप, सामाजिक संविदा के ढांचे और संविदा के बाद प्रारम्भ हुए नागरिक जीवन के स्वरूप पर इन विचारकों में भारी मतभेद हैं।

संक्षेप में बताया जाय तो सामाजिक संविदा सिद्धान्त प्रथमतः एक प्रकृतिक अवस्था की बात करता है जो राज्य और समाज से पूर्व की स्थिति है। इस स्थिति में हर मनुष्य पूर्णतः स्वतंत्र है और किसी स्थायी प्राधिकरण के अंतर्गत नहीं है। सभी अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भी करने के लिए स्वछंद हैं परंतु सब को उपलब्ध यह स्वतन्त्रता आपस में हितों के टकराव का कारण बनती है। अतः अपने हितों के बेहतर साधन के लिए वह अन्य व्यक्तियों के साथ समझौता या अनुबंध करता है जिसके तहत वह अपने कुछ अधिकारों का समर्पण करता है बशर्ते बाकी सब भी उन अधिकारों का समर्पण करें। इस प्रकार के समझौते से राज्य उत्पन्न होता है। अपनी स्वतंत्र स्थिति से निकलकर व्यक्ति अपने ऊपर राज्य का प्राधिकार स्वीकार करते हैं और नागरिक जीवन प्रारम्भ करते हैं। इस प्रकार उत्पन्न राज्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्यों द्वारा सृजित एक संस्था है न की कोई दैवीय व्यवस्था।

5.6.4 राज्य की उत्पत्ति कापितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक सिद्धान्त

यह सिद्धान्त परिवार को राज्य की उत्पत्ति का स्रोत मानता है। प्राचीन समय में सामाजिक संगठन का आधार परिवार, कुल और कुटुंभ ही था।इस व्यवसथा के विस्तार से ही राज्य की उत्पत्ति हुई होगी इस विचार पर यह सिद्धान्त आधारित है। परिवार मनुष्य जीवन की प्रथम सामाजिक इकाई है। परिवार मनुष्य के जीवन की मौलिक आवश्यकताओं को पूर्ण करता है साथ ही उसके जीवन को नियंत्रित भी करता है। इस प्रक्रिया का ही वृहत रूप राज्य जैसी संस्था में देखा जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसारपरिवार राज्य के क्रम-विकास का सबसे सरल और प्रारम्भिक स्तर है। परिवार जनों पर पिता का प्राधिकार और नियंत्रण राज्य की शक्ति की प्रारम्भिक आवृत्ती है। अर्थात राज्य परिवार का एक वृहत रूप है।

इस सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक थे **सर हेनरी मेन**।अपनी पुस्तकों **एंशिएंटलॉ** और **हिस्ट्री ऑफ इंस्टीट्यूशंस**में मेन ने दावा किया है की प्रारम्भिक वर्षों में समाज परिवारों का समूह था। परिवार में नेतृत्व और नियंत्रण सबसे वरिष्ठ पुरुष या फिर सबसे वरिष्ठ वंश का सबसे बुज़ुर्ग पुरुष करता था। रोम में परिवार के मुखिया की 'पेट्रिया पोटेस्टास' शक्ति का उल्लेख करते हुए मेन कहते हैं की पिता को परिवार पर पूर्ण नियंत्रण थाऔरउसकी शक्ति अप्रतिरोध्य थी।वंशके महत्व के कारण पितृत्व पर भरी ज़ोर दिया जाता था। स्थायी विवाह का नियम था और कुल की महिलाओं पर सख्त नियंत्रण रखा जाता था।परिवार राजनीतिक समाज की प्रथम इकाई थी औरराज्य और सरकार जैसी संस्थाओं का विकास इस बीज से ही हुआ है।

मेन के इस सिद्धान्त की आलोचना **मैकलेनन,जेंक्स** और **मॉर्गन** जैसे विद्वानोंने की है। उनके अनुसारअति प्राचीन प्रारम्भिक समाज में पिता परिवार का मुखिया नहीं था। पुरातन समाज मातृसत्तात्मक था, स्थायी विवाह जैसी सामाजिक व्यवस्था के पूर्व पितृत्व निर्धारण संभव नहीं था अतः वंश माँ से निर्धारित होता था । प्राचीन काल में विवाह का स्वरूप बहुपति विवाह था। ऐसे विवाहों का जहां भी चलन रहा है वहाँसमाज मातृस्थानीय (matrilocal) और मातृवंशीय (matrilineal) होता है। ऐसे समाजों में विवाह संबंध अस्थायी होते हैं, वंश और रिश्ते माँ से लगाए जाते हैं, मातृ सत्ता होती है और संपत्ति का अनुक्रमण भी माँ से ही होता है। मैकलेननके अनुसार यही मानव समाज की प्रारम्भिक व्यवस्था थी न की पितृसत्तात्मक समाज।

यह दोनों ही सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त हैं। इन सिद्धांतों में आंशिक सत्यता तो हो सकती है परंतुयह सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति के प्रश्न का अति सरलीकरण हैं। विलोबी के अनुसार राज्य भले ही कुछ पहलुओं में परिवार के समान है परंतु दोनों संस्थाएं मूलतःभिन्न हैं (different in essence)। परिवार में प्राधिकार और सत्ता प्रकृतिक है,अधीनता (subordination) परिवार मेंस्वाभाविक हो सकती है परंतु राज्य समता पर आधारित होता है। राज्य के कार्य एवं उद्देश्य भी परिवार से काफी भिन्न हैं इस कारण यह कहना की राज्य का विकास परिवार के विस्तार से हुआ है सही नहीं होगा।

5.6.5 राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक/ क्रम-विकास सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धांतों की आलोचनात्मक समीक्षा करते हुए **गार्नर**कहते है कि राज्य न तो ईश्वर की रचना है, न केवल शक्ति और बल का परिणाम, न किसी प्रस्ताव या अनुबंध से उत्पन्न हुई व्यवस्था, और न ही परिवार काविस्तार मात्र है।

गार्नर के अनुसार राज्य का जन्म और विकास मानव समाज की आवश्यकताओं से हुआ है। यह एक सामाजिक संस्था है, जो मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विकसित हुई और इसका विकास समाज के विकास के साथ-साथ क्रमिक रूप से होता गया।

बर्गेस भी इसी विचार का समर्थन करते हुए कहते है जैसे-जैसे मानव समाज जटिल और संगठित होता गया, राज्य की संस्था भी अधिक परिष्कृत और संगठित रूप में विकसित होती गई।

यह सिद्धांत मुख्यतः ऐतिहासिक स्रोतों, पुरातत्वविदों द्वारा किए गए उत्खननों और अध्ययन, समाजशास्त्रियों तथा मानवविज्ञानियों द्वारा आदिम समाजों के राजनीतिक संगठनों के अध्ययन आदि पर आधारित है। इन स्रोतों से यह समझने में सहायता मिलती है कि राज्य किसी एक घटना या कारण

से अचानक उत्पन्न नहीं हुआ, बल्कि यह विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक कारकों के सम्मिलित प्रभाव से धीरे-धीरे विकसित हुआ।

इस सिद्धांत के अनुसार राज्य के प्रारंभिक विकास में कई कारकों का योगदान रहा, जिनमें प्रमुख हैं:

1.परिवार

मानव समाज की प्रथम संगठनात्मक इकाई परिवार था। व्यक्ति अपनी सुरक्षा, आजीविका और अन्य सभी आवश्यकताओं के लिए परिवार पर निर्भर था। परिवार का विस्तार कुल और कबीले थे । कबीलाई समाज में समान पूर्वज या रक्त-संबंध सामाजिक एकता और संगठन का आधार था। यही संगठन आगे चलकर राज्य की प्राथमिक इकाई बना। राज्य की उत्पत्ति का पितृसत्तात्मक/मातृसत्तात्मक सिद्धांत भी इस बात को रेखांकित करता है कि प्रारंभिक राजनीतिक संगठन परिवार और कुल के रूप में विकसित हुए थे।

2.धर्म

जैसे-जैसे समाज जटिल हुआ, विभिन्न जातियों और समूहों को एकजुट रखने की चुनौती उत्पन्न हुई। इस चुनौती का समाधान था संगठित धर्म का विकास। संगठित धर्म न केवल नैतिकता और आचार संहिता प्रदान करता हैपरंतु विविध समूहों को एक साझा पहचान और विचारधारा के माध्यम से जोड़ता है और राज्य को एकीकृत रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

3. संपत्ति और उसके संरक्षण की आवश्यकता

समाज के विकास के साथ निजी संपत्ति की अवधारणा मजबूत हुई। भूमि, पशु, कृषि उत्पादन और अन्य संसाधनों के स्वामित्व ने संपत्ति के संरक्षण की आवश्यकता को जन्म दिया। संपत्ति के संरक्षण और विवादों के समाधान के लिए एक संगठित शक्ति की आवश्यकता महसूस हुई। राज्य ने इस भूमिका को निभाया और संपत्ति के अधिकारों की रक्षा करने वाली संस्था के रूप में विकसित हुआ। राज्य के संरक्षण में व्यक्ति अपनी संपत्ति का शांतिपूर्वक उपभोगकर सकता था, व्यवसायऔर अन्य उद्यम कर सकता था।

4. शक्ति और बल

शक्ति और बल भी राज्य की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण कारक रहे हैं। प्रारंभिक समाजों में युद्ध और संघर्ष सामान्य बात थे। राज्य के उद्भव में किस प्रकार शक्ति और बल की भूमिका रही है यह हम राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त में पढ़ ही चुके हैं। युद्ध और संघर्ष में विजयी समूहों ने इतिहास में कई बार प्रारम्भिक राज्यों की नींव रखी है।

5. राजनीतिक चेतना

राज्य की उत्पत्ति का अंतिम और निर्णायक तत्व राजनीतिक चेतना का विकास था। जैसे-जैसे समाज अधिक जटिल और संगठित होता गया, लोगों में एक स्थायी और संगठित सत्ता के प्रति स्वीकृति और समझ विकसित हुई। यह राजनीतिक चेतना ही थी जिसने राज्य को समाज में एक पृथक, स्थायी और वैध संस्था के रूप में स्थापित किया।

अतः इतिहास में राज्य का विकास धीरे-धीरे हुआ। पहले छोटे परिवार और कुल-आधारित संगठन बने, फिर कबीलों और जनजातियों का गठन हुआ। इन कबीलों में मुखियाओं या सरदारों के नेतृत्व में एक प्रारंभिक राजनीतिक संरचना दिखने लगी। इसके बाद जैसे-जैसे आबादी बढ़ी, कृषि का विकास हुआ और स्थायी बस्तियां बनीं, वैसे-वैसे राजनीतिक संगठन अधिक परिष्कृत और केन्द्रीयकृत होते गए। नगर-राज्य, साम्राज्य और आधुनिक राष्ट्र-राज्य इसी क्रमिक विकास की कड़ियां हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की जनसंख्या कितनी निर्धारित की थी?

A) 10,000

B) 5,040

C) 1,000

D) 50,000

2. बहुलवादी सिद्धांत राज्य को किस रूप में देखता है?

A) एक दमनकारी मशीनरी

B) एक नैतिक संस्था

C) एक तटस्थ अंपायर

D) एक विधिक आदेश

3. रोबर्ट डहल और जे के गेलब्रेथ किस सिद्धान्त का समर्थन करते थे

A) विधिशास्त्रीय

B) सावयव

C) मार्कस्वाद

D) बहुलवाद

5.8 सारांश

यद्यपि राज्य का अध्ययन राजनीति विज्ञान का केन्द्रीय बिन्दु है, परंतु राज्य की परिभाषा, संकल्पना, प्रकृति एवं उसकी उत्पत्ति पर राजनीतिक विचारकों में मतेक्य नहीं है। राज्य की प्रकृति और उसके स्वरूप से संबन्धित विभिन्न सिद्धांतों को हमने इस इकाई में पढ़ा। साथ ही, हमने राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धांतों के माध्यम से राज्य को समझने के भिन्न दृष्टिकोणों से परिचय प्राप्त किया। राज्य की प्रकृति और संकल्पना को लेकर चलने वाली बहस राजनीतिक विज्ञान में आज भी जारी है। ये विविध और जटिल दृष्टिकोण राज्य की संरचना और स्वरूप को समग्र रूप से समझने में हमारी सहायता करते हैं।

5.9 शब्दावली

1. राज्य की उत्पत्ति का शक्ति सिद्धान्त - एक परिकल्पना जो कहती है कि राज्य की उत्पत्ति बल, युद्ध या प्रभुत्व के माध्यम से हुई। यह सिद्धांत राज्य की नींव को शक्ति पर आधारित मानता है।

2. बहुलवादी सिद्धांत - यह दृष्टिकोण मानता है कि राज्य समाज के विभिन्न समूहों और संस्थाओं के बीच संतुलन बनाए रखने वाला एक तटस्थ माध्यम है, जो किसी एक वर्ग के पक्ष में नहीं होता।

3.मार्क्सवादी दृष्टिकोण - यह राज्य को शोषण का उपकरण मानता है, जो पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षा करता है और वर्ग संघर्ष की उपज है। राज्य अंततः सर्वहारा क्रांति के बाद समाप्त हो जाएगा।

4.दैवीय सिद्धांत- यह मान्यता कि राज्य दैवीय संस्था है और शासक ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। यह सिद्धांत मध्यकालीन राजनीतिक दर्शन में लोकप्रिय था।

5.10 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

उत्तर- 1. B), 2. C), 3. D)

5.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. एस लीकॉक - एलिमेंट्स ऑफ पॉलिटिकल साइन्स

2. आर जी गेटेल - इंट्रोडक्शन टू पॉलिटिकल साइन्स

3. ए सी कपूर - प्रिंसिप्ल्ज़ ऑफ पोलिटिक साइन्स

4. एंड्रू हेवुड - पॉलिटिक्स

5.12 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. एच जे लास्की - अ ग्रैमर ऑफ पॉलिटिक्स

5.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. राज्य की प्रकृति के विधिशास्त्रीय और सावयव सिद्धांत की तुलनात्मक व्याख्या कीजिये।

2. राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त और सामाजिक अनुबंध सिद्धांतों की तुलना कीजिये।

3. राज्य की प्रकृति के मार्क्सवादी, आदर्शवादी और बहुलवाड़ी सिद्धांतों पर एक लेख लिखें।

इकाई-6 राज्य के कार्य का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

6 .1 प्रस्तावना
6 .2 उद्देश्य
6 .3 परिचय
6 .4 राज्य के कार्यों के संबंध में उदरवादी दृष्टिकोण
6 .5 राज्य के कार्यों के संबंध में समाजवादी दृष्टिकोण
6 .6 लोक कल्याणकारी दृष्टिकोण
6 .7 सारांश
6 .8शब्दावली
6 .9अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6 .10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
6 .11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
6 .13 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

राज्य का कार्यक्षेत्र क्या है? इस प्रश्न पर राजनीतिक विचारकों में विभिन्न मत हैं। इस इकाई में हम इस प्रश्न से सम्बंधित तीन प्रमुख दृष्टिकोणों - उदारवादी, समाजवादी और लोक-कल्याणकारी - के अनुसार राज्य के कार्य एवं उसके कार्यक्षेत्र के सिद्धांतों के बारे में जानेंगे।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम -

- उदरवाद के उद्भव एवं विकास को समझेंगे, साथ ही उदरवाद की प्रमुख दो धाराओं और उनके अनुसार राज्य के कार्यों की व्याख्या करेंगे।
- समाजवादी विचारधारा के अनुसार राज्य के कार्यों और उसकी भूमिका का विश्लेषण करेंगे।

- लोक-कल्याणकारी राज्य की संकल्पना, उसके उद्देश्य और कार्यक्षेत्र को समझेंगे।

6.3 राज्य के कार्यों के संबंध में उदारवादी दृष्टिकोण

उदारवाद व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए इस बात का समर्थन करता है कि व्यक्ति समस्त मानवीय क्रियाओं व व्यवस्थाओं का केन्द्र है तथा अन्य संस्थाओं, समाज और राज्य व्यक्ति के कल्याण के लिए है। इसलिए सभी प्रकार की व्यवस्थाओं का निर्धारण, चाहे वो राजनीतिक हो या आर्थिक या सामाजिक, व्यक्ति को केन्द्र में मानकर की जानी चाहिए। उदारवाद न तो सिद्धान्तों का समूह है न ही कोई विशेष सिद्धान्त। उदारवाद जिस प्रकार व्यक्ति को समस्त मानवीय व्यवस्थाओं का केन्द्र मानता है, इस आधार पर प्राक उदारवाद को व्यक्तिवाद का पर्यायवाची माना जाता है।

उदारवाद की उत्पत्ति लैटिन भाषा के Liber शब्द से हुई है, जिसका अर्थ स्वतंत्रता है। जॉन लॉक को उदारवाद का जनक माना जाता है। उदारवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता पर केन्द्रित एक आधुनिक विचारधारा है, जिसका विकास 17वीं व 18वीं शताब्दी में यूरोप में हुआ। 19वीं शताब्दी में यह विचारधारा चरमोत्कर्श पर थी।डेविड स्मिथ के अनुसार "उदारवाद ऐसी नीतियों और तरीको में विश्वास और प्रतिबद्धता है, जिसका सामान्य उद्देश्य व्यक्ति की अधिकतम् स्वतंत्रता है।"

कालक्रम की दृष्टि से उदारवाद को दो भागों में विभाजित किया गया है। पहला- **पुरातन या नकारात्मक उदारवाद** जो 18वीं व 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चला। पुरातन उदारवाद के समर्थकों में जॉन लॉक, एडम स्मिथ व जेर्मी बेन्थम के नाम प्रमुख हैं। इन उदारवादियों ने 'यदभाव्यम का सिद्धान्त' (TheoryOf Laissez Fair) को विकसित किया। जिसका तात्पर्य था, कि राज्य व्यक्ति को उसके हाल पर छोड़ दे और उसके जीवन में न्यूनतम हस्तक्षेप करें। इस बात के समर्थन में उन्होंने ये निम्न तर्क दिये।

(1) व्यक्ति अपने हितों के बारे में राज्य से, सर्वश्रेष्ठ तरीके से सोच सकता है।

(ii) राज्य द्वारा अधिक कार्यों को किये जाने से व्यक्ति आत्मनिर्भर नहीं बन सकता ।

(iii) यह राज्य के हित में है कि "सर्वश्रेष्ठ का अस्तित्व" (Survival the Fitest) ही बरकरार रहें।

(iv) राज्य व्यक्ति के कार्यों में हस्तक्षेप न करें।

पुरातन उदारवादी राज्य को मात्र एक ही कार्य सौंपना चाहते थे, कि राज्य समाज में शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करें ताकि अराजकता रहित वातावरण में आर्थिक और व्यावसायिक गतिविधियाँ सुचारू रूप से चल सके।

दूसरा - **आधुनिक या सकारात्मक उदारवाद** जो 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से चला आ रहा है। इसके प्रबल समर्थकों में जे०एस० मिल, ग्रीन व लास्की प्रमुख हैं। इन विचारकों ने यह महसूस किया कि पुरातन उदारवादी के इस सिद्धान्त (यद्धाव्यम का सिद्धान्त) का परिणाम कुछ ही लोगों के हाथों में पूंजी के केन्द्रित होने के रूप में सामने आ रहा है। अतः इसमे संशोधन किया जाए। इसी संशोधन को आधुनिक या सकारात्मक उदारवाद कहा गया। आधुनिक उदारवाद के अनुसार राज्य का कार्य उन समस्त परिस्थितियों का निर्माण है, जिसमें व्यक्ति का विकास हो सके। आधुनिक उदारवादी सिद्धान्त से ही 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 'लोक कल्याण राज्य' की अवधारणा विकसित हुई।

उदारवाद के जन्म के कारण

1. **औद्योगिक क्रान्ति और पूँजीपति वर्ग का जन्म** - मध्य युग में नागरिकों को आर्थिक स्वतंत्रताएँ प्राप्त नहीं थी। श्रमिक और कृषक पूँजीपति वर्ग के अधीन थे। व्यापार पर भी अनेक नियंत्रण थे। चर्च भी आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करता था तथा गतिविधियों के सम्वन्ध में अनेक नैतिक व धार्मिक नियम थे। 18वीं शताब्दी के अन्त में औद्योगिक क्रान्ति हुई जिसके परिणाम स्वरूप भारी मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। इस उत्पादन के परिणाम स्वरूप समृद्धि आयी तथा आर्थिक जीवन में भी परिवर्तन आने लगे जिससे नये समृद्धिशाली वर्ग उत्पन्न हुए। जिनका ध्येय अधिक से अधिक धन अर्जन करना था। इस वर्ग ने आर्थिक क्षेत्र में लगे सभी प्रतिबन्धों का उल्लघंन किया और इससे ये आर्थिकदृष्टि से अत्यधिक समृद्धशाली हो गये। जिस कारण यह वर्ग सामाजिक जीवन में बहुत प्रभावशाली हो गया। इस वर्ग ने अपने प्रभाव के बल पर इस बात को स्वीकृति दिला दी कि आर्थिक जीवन में किसी भी तरह का नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक नियंत्रण नहीं होना चाहिए और आर्थिक स्वतंत्रता की इस भावना ने उदारवाद को जन्म दिया।

2. **पुनर्जागरण** :- प्राचीन समय में यूनानी सभ्यता के अन्तर्गत मानव जीवनको विशेष महत्व प्राप्त था। उनके चिंतन का रूप लौकिक था। यूनानी लोगों ने कला, विज्ञान, साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति की थी, लेकिन मध्य काल में चिंतन के क्षेत्र में पारलौकिक मान्यता को अपना लिया गया और चिंतन का एकमात्र केन्द्र बिन्दु ईश्वर हो गया। जिस कारण जीवन के कई क्षेत्र में प्रगति रूक सी गई और व्यक्ति की महत्ता को भूला दिया गया। आधुनिक युग में पुनः यूनानी चिंतन

पर दृष्टि डाली गई और नवजागरण के नाम पर बौद्धिक आन्दोलन शुरू हो गया। जिस कारण लोगों के चिंतन में, आदर्शों में व विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया। पुनर्जागरण ने व्यक्ति व उसके व्यक्तित्व को सर्वोच्चता प्रदान की और दृष्टिकोण को लौकिक बनाया तथा यह सिखाया कि सत्य की प्राप्ति के लिए अंधविश्वास नहीं बल्कि बुद्धि व विवेक चाहिए। इस प्रकार पुनर्जागरण ने व्यक्ति की स्वतंत्रता को महत्व देकर उदारवाद को जन्म दिया।

3. **धर्म सुधार** :- मध्य युग में धार्मिक निरंकुशता अपने चरम पर थी, जिसने राजनीतिक निरंकुशता को भी पाला-पोसा था। पोप धार्मिक निरंकुशता के सर्वोच्च पर थे। पोप शास्त्रों की जो व्याख्या करते थे वह प्रमाणिक होता थी। 16वीं शताब्दी में धार्मिक सुधार आरम्भ हुआ। ज्विगली तथा काल्विन व मार्टिन लूथर आदि धार्मिक सुधारकों ने धार्मिक निरंकुशता का प्रबल विरोध आरम्भकर दिया। इन धर्म सुधारकों ने परम्पराओं को अमान्य करते हुए, आध्यात्मिक स्वतंत्रता का प्रतिपादन किया और यह बतलाया कि व्यक्ति अपने प्रयत्नों से स्वयं ईश्वर को प्राप्त कर सकता है तथा धार्मिक क्षेत्र में शक्ति प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार धार्मिक सुधार ने धर्म में व्याप्त सारी बुराईयों को अन्त करके व्यक्ति को वास्तविक धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की। इस धार्मिक स्वतंत्रता ने उदारवाद का मार्ग प्रशस्त किया।

4. **निरंकुश शासन व्यवस्था का विरोध**:- निरंकुश शासन के विरूद्ध प्रतिक्रिया, उदारवाद के जन्म का सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण कारण रहा। यूरोपीयशासन 17वीं व 18वीं शताब्दी में निरंकुशता के लिए प्रसिद्ध रहा। कई राज्यों राजाओं ने राज्य को दैवीय उत्पत्ति का स्वरूप बतलाकर स्वयं को ईश्वर का अवतार माना और कहा कि उनके आदेश स्वयं ईश्वर के आदेश है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादित कर कुछ राज्य तो इतने निरंकुश व स्वेच्छाचारी हो गये थे कि जनता के जीवन के अधिकार को भी समाप्त कर दिया। काननों को अर्थहीन कर दिया और स्वयं के आदेशों को कानून का स्थान देकर नागरिकों पर अत्याचार किये और उन्हें अपने मनमाने आदेशों के लिए बाध्य किया। जिसके विरूद्ध प्रतिक्रिया स्वभाविक थी। जिस कारण अनेक विचारकों ने व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रतिपादन कर, उदारवाद को जन्म दिया।

उदारवाद के मूल सिद्धान्त

उदारवाद के मूल सिद्धान्त निम्नलिखित

1. स्वतंत्र समाज की स्थापना: उदारवादी एक स्वतंत्र समाज की स्थापना पर बल देते है, जहाँ सभी व्यक्ति स्वतंत्र हो। उनके अनुसार राज्य का लक्ष्य है स्वतंत्रता की प्राप्ति तथा दमन की समाप्ति। तभी समाज में स्वतंत्र जीवन की स्थापना हो पायेगी।

2. रूढ़ीवादिता का विरोध: रूढ़ीवादी, परम्परा पर विश्वास रखते है और परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते। उदारवाद उसका विरोध करता है तथा वे प्रगति वनवीन मान्यताओं में आस्था रखते है। उदारवाद भविष्य की ओर देखता है तथा वर्तमान में परिवर्तन लाना चाहता है। इसी कारण उदारवादी रूढ़ीवादिता का विरोध करते है।

3. सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन उदारवादी विचारधारा व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन करती है। जॉन लॉक ने सम्पत्ति के निजी अधिकार का समर्थन किया है। लॉक का मानना है कि सम्पत्ति की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य है और यह बात उसने अपने 'मूल्य के श्रम सिद्धान्त' में स्वीकार की है।

4. व्यक्ति की बुद्धि व विवेक में आस्था - उदारवादी मानव के बुद्धि व विवेक में आस्था रखते है। जिस कारण व्यक्ति को साध्य माना गया है और राज्य को साधन। इसी कारण उदारवादी, व्यक्ति के ऊपर अन्य संस्थाओं का नियंत्रण व विवेक को स्वीकारने के स्थान पर व्यक्ति को ही बुद्धिमान समझते है।

5. इतिहास तथा परम्पराओं का विरोध - जैसा कि स्पष्ट है कि उदारवादी रूढ़िवाद या परम्परा का विरोध करते है और परम्पराओं को प्रगति के रास्ते मेंरूकावट मानते है। उदारवादी प्रगति के मार्ग में बढ़ते चले जाने का समर्थन करते है. चाहे इसके लिए उन्हें इतिहास और परम्पराओं का विरोध ही क्यों न करना पड़े।

6. लोकतांत्रिक पद्यति में आस्था - उदारवादियों का मानना है कि समस्त मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुए है। इस कारण उनके ऊपर अन्य किसी के आदेशों को थोपा नहीं जाना चाहिए। व्यक्ति के समर्थन व सहमति से ही शासन होना चाहिए। लोकतंत्र का यही मूलमंत्र है कि शासन की शक्ति जनता के हाथों में हो। इसलिए उदारवादी लोकतंत्र का समर्थन करते हैं। क्योंकि उदारवाद का जन्म ही स्वेच्छाचारी शासन के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था।

7. शासन की स्वेच्छाचारिता का विरोध उदारवादी ऐसे शासन सत्ता का विरोध करते है जो जनता कि इच्छाओं और आकांक्षाओं की अनदेखी करते है। उदारवादी मानते है कि शासन कानून के

अनुकूल चलना चाहिए और कानून जनहित को दृष्टि में रखकर बनने चाहिए। अर्थात् विधि सम्मत शासन हो और किसी व्यक्ति विशेष की शासन में निरंकुशता कायम नहीं होनी चाहिए।

8. धर्म-निरपेक्ष राज्य का आदर्श - उदारवादी धर्म-निरपेक्ष राज्य के आदर्श में विश्वास करते है। उनके अनुसार राज्य का कोई धर्म नहीं होना चाहिए तथा राज्य में सभी नागरिकों को पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए और राज्य का किसी धर्म विशेप के प्रति कोई लगाव नहीं होना चाहिए।

9. व्यक्ति साध्य तथा राज्य साधन - उदारवादियों द्वारा व्यक्ति को विवेकवान माना गया है तथा उदरवाद का मूल आधार ही व्यक्ति है। इसलिए वे व्यक्ति को साध्य मानते है तथा राज्य व समाज को साधन मात्र। जो व्यक्ति के विभिन्न लक्ष्यों व आकांक्षाओं की पूर्ति में व्यक्ति को सहायता प्रदान करता है।

10. प्राकृतिक अधिकारों की धारणा में विश्वास उदारवादी मनुष्य के जन्म के साथ ही प्राप्त और अनुल्लंघनीय प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन करते है। ये अधिकार है जीवन की सुरक्षा का अधिकार व स्वतंत्रता का अधिकार, भोजन व आवास का अधिकार। उदारवादियों के अनुसार व्यक्ति को ये सभी प्राकृतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

अतः यह कहा जा सकता है उदारवादियों ने उपरोक्त जितने सिद्धान्तों को अपनाया है वे सभी लोकतंत्र के लिए मार्गदर्शन का कार्य करते है। इसी कारण उदारवाद को लोकतंत्र का पर्यायवाची माना जाता है।

आधुनिक उदारवाद :- आधुनिक उदारवाद को जनतंत्रात्मक व सकारात्मकउदारवाद के नाम से भी जाना जाता है। आधनिक उदारवाद 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विकसित हुआ। तव तक अधिकांश उदारवादी लोकतंत्र और आर्थिक क्षेत्र में राज्य के 'अहस्तक्षेप की नीति' पर विश्वास करने लगे थे। लेकिन परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति को अपनाने के परिणाम श्रमिक व निर्धन वर्ग के लिए हितकारी नहीं हुए और यह आवश्यक हो गया कि श्रमिक वर्ग के हितों की रक्षा के लिए राज्य आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करें। ब्रिटेन उदारवाद की जन्म स्थली थी और व्यापक मताधिकार के कारण प्रत्येक राजनीतिक दल (ब्रिटिश उदार दल) के लिए यह आवश्यक हो गया कि राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए निर्धन निम्न वर्गों पर ध्यान केन्द्रित किया जाय तथा आधुनिक उदारवादियों द्वारा यह कहा गया कि साधन होन, अशिक्षित व निर्धन वर्ग अपने हितों की रक्षा नहीं कर सकते और साचन सम्पन्न धनिक वर्ग उनका शोषण करने का प्रयास

करता है। अतः नागरिकों के हितों सम्बन्धी सभी कार्य शासन सत्ता के क्षेत्र में आ जाने चाहिए। इसी दृष्टिकोण से उदारवादियों ने मद्य-निषेध, स्कूलों की व्यवस्था, श्रमिकों के लिए उचित पारिश्रमिक और क्षतिपूर्ति की व्यवस्था, बच्चों तथा स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा आदि का कार्य राज्य द्वारा किये जाने का समर्थन किया और इस बात पर बल दिया कि राज्य द्वारा वृद्धा अवस्था के लिए पेंशन योजना, व्यापार, बेकारी, बीमारी व बीमा योजनाओं की व्यवस्था को अपनाया जाय।

आधुनिक उदारवाद ने राज्य के कार्य क्षेत्र में वृद्धि की। इस नवीन रूप को टी०एच०ग्रीन ने प्रतिपादित किया। इंग्लैण्ड का उदारवादी दल आज भी उदारवाद के इस रूप का समर्थन करता है। उदारवाद का यह आधुनिक रूप समाजवाद और कल्याणकारी राज्य के अधिक निकट है।

आधुनिक उदारवाद के सम्बन्ध में थामस हिल ग्रीन के विचारः-टी०एच० ग्रीन को आधुनिक उदारवादी विचारधारा का प्रतिपादक कहा जाता है। ग्रीन ने व्यक्तिवादियों के 'हस्तक्षेप की नीति' और राज्य को दैवीय स्तर देने वाले हीगलवादी आदर्शवाद दोनों को नकार दिया तथा औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए आधुनिक जनतंत्रात्मक उदारवाद का प्रतिपादन किया।

ग्रीन ने राज्य को कभी भी एक साध्य नहीं माना। उसके अनुसार राज्य साध्य की प्राप्ति का एक साधन मात्र है और साध्य है व्यक्तियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास। उसने इस बात पर लगातार जोर दिया कि संस्थाओं का अस्तित्वव्यक्ति के लिए होता है. व्यक्तियों का अस्तित्व संस्थाओं के लिए नहीं। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास को बहुत अधिक महत्व देता हैऔर उसका विचार है कि व्यक्ति अपने अन्तःकरण की मॉग पर शासन सत्ता के कार्यों का विरोध भी कर सकता है। उसका यह विचार उदारवादी अवधारणा के सापेक्ष है।

ग्रीन एक उदारवादी विचारक है, परन्तु ऐसा परम्परागत उदारवादी नहीं जो राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हुए राज्य का आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र में हस्तक्षेप का विरोध करते हैं। वह राज्य को एक आवश्यक बुराई न मानते हुए उसे एक नैतिक संगठन मानता है। जबकि परम्परागत उदारवादी मिल आदि राज्य के कार्यो को सीमित करते हुए, केवल रक्षा करना तक राज्य के कार्यो को सीमित करते है। लेकिन ग्रीन राज्य के कार्य क्षेत्र को व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास तक मानते है। यद्यपि राज्य प्रत्यक्ष रूप से नागरिकों को नैतिक नहीं बना सकता, किन्तु नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली बाँधाओं को दूर करने का प्रयत्न कर सकता है। इस दृष्टिकोण से राज्य द्वारा अज्ञानता, मद्य-निषेध, दरिद्रता आदि बाँधाओं को दूर करके ऐसे कानूनों का निर्माण कर सकता है जो श्रमिक

वर्ग के हितों की अधिक से अधिक रक्षा कर सके तथा सभी नागरिकों को शिक्षा व स्वास्थ्य के क्षेत्र में पूर्ण सुविधाऐं प्रदान करें। वह राज्य द्वारा जिस सञ्जीवन की प्राप्ति की बात करता है उसने वीसवीं शदीं में लोक-कल्याणकारी राज्य की नींव डाली।

ग्रीन ने आदर्शवाद और उदारवाद की कमियों को दूर करते हुए एक संतुलित विचारधारा का प्रतिपादन किया। उसकी सफलता यह थी कि उसने उदारवाद को एक नया आयाम दिया और उसे बदलते समय में जनहित और प्रजातंत्र के अनुकूल बनाया। उदारवाद को आधुनिक रूप प्रदान कर ग्रीन ने तानाशाही के विरूद्ध उदारवाद की सुरक्षा का कार्य किया।

1. उदारवादी दृष्टिकोण के अनुसार राज्य के कार्य

राज्य के कार्यों एवं उद्देश्यों के सम्बन्ध में उदारवादियों के दृष्टिकोण में भिन्नता रही है और परिस्थितियों के अनुसार उनके विचारों में परिवर्तन आते रहे और विकसित होते रहे। इस सम्बन्ध में उदारवादी के दो रूपों के आधार पर राज्य के उद्देश्य व कार्यों में भी अन्तर पाया गया है।

पहला- परम्परागत उदारवाद में राज्य के कार्य व स्वरूप :- परम्परागत उदारवाद का जन्म तानाशाही शासन के कार्यों के विरूद्ध एक आन्दोलन के रूपमें हुआ। परम्परागत उदारवाद का मूल विषय स्वतंत्रता ही रहा। जॉन लॉक मिन उसके प्रतिपादकों में से माने जाते है। परम्परागत उदारवाद में राज्य के उददेश्य व कार्य इस प्रकार है-

1. नागरिक स्वतंत्रता :- उदारवादियों ने व्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थन किया है। क्योंकि उनके अध्ययन के केन्द्र में व्यक्ति है। उनके अनुसार मनुष्यों के ऊपर मनुष्यों का नहीं वरन् कानून का शासन होना चाहिए। मध्य युग में सामंतवादी शासन व्यवस्था में नागरिकों को जीवन व सम्पत्ति की सुरक्षा प्राप्त नहीं थी और उन पर अत्याचार किए जाते थे। नागरिक स्वतंत्रता का आदर्श इसी स्वेच्छाचारिता के विरोध में किया गया और राज्यों को व्यक्तियों के ऊपर लगे अंकुश को समाप्त करते हुए यह प्रतिपादित किया गया कि व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार जीवन यापन का अधिकार होना चाहिएतथा राज्य को नागरिकों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

2. वित्तीय स्वतंत्रता उदारवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन करते है और उसे व्यक्तियों का एक पवित्र अधिकार मानते है। इसलिये उदारवादियों ने राज्य को नागरिकों के ऊपर मनमाने कर लगाने की बिल्कुल मनाही की है तथा नागरिकों पर कर लगाने का अधिकार जनप्रतिनिधियों के बहुमत से ही होना चाहिएऔर शासन उत्तरदायी होना चाहिए।

3. व्यक्तिगत स्वतंत्रता उदारवादियों द्वारा व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रबल समर्थन किया गया है। उनका मत है कि व्यक्ति को अपने जीवन के सभी क्षेत्रों में अपने सम्बन्ध में निर्णय लेने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। व्यक्तियों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर राज्य को तब तक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, जब तक ऐसा करना आवश्यक न हो या उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता से राज्य के कार्यों में हस्तक्षेप होता हो। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अन्तर्गत, विचार, भाषण, धर्म, रहन-सहन आदि स्वतंत्रताऐं शामिल है।

4. सामाजिक स्वतंत्रता उदारवादी सामाजिक स्वतंत्रता पर विशेष बल देते है। सामाजिक स्वतंत्रता का यह अर्थ है कि व्यक्ति जन्म, जाति, वर्ण, धर्म, लिंग के आधार पर व्यक्ति, व्यक्ति में कोई भेद नहीं होना चाहिए। विकास के सभी अवसर सभी नागरिकों को समान रूप से प्राप्त होने चाहिए। क्योंकि इसके अभाव में साामाजिक स्वतंत्रता संभव नहीं है।

5. आर्थिक स्वतंत्रता :- आर्थिक स्वतंत्रता से उदारवादियों का तात्पर्य है कि व्यक्तियों के आर्थिक जीवन और उनके द्वारा उद्योग तथा व्यापार में राज्य कोहस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मध्य युग में सामंती शासन में राज्यों ने भूमि, वस्तुओं तथा सम्पत्ति के क्रय-विक्रय, धन, उधार लेने आदि पर अनेक प्रतिबन्ध लगा रखे थे। आर्थिक क्षेत्र में लगे इन प्रतिबन्धों को हटाने के लिए लोगों द्वारा आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप को अनुचित ठहराया गया तथा इस बात पर बल दिया गया कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य द्वारा 'हस्तक्षेप की नीति' (Policy of Laissez Fair) अपनायी जानी चाहिए। राज्य द्वारा व्यापार के क्षेत्र में 'मुक्त प्रतियोगिता' को ग्रहण कर लेना चाहिए।

6. पारिवारिक स्तवंत्रता :- उदारवादियों के अनुसार परिवार में विशेषकरस्त्रियों को सम्पत्ति तथा अन्य व्यक्तिगत निर्णयों में पुरूष के समान ही अधिकार प्राप्त होने चाहिए। बच्चों को भी विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत अपने अभिभावकों के निर्णयों का विरोध करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए तथा माता-पिता को बच्चों के सवांगिण विकास के लिए जिम्मेदार बनाया जाना चाहिए।

7. जाति तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता उदारवादी राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के प्रवल समर्थक रहें। प्रशासकीय तथा भौगोलिक दोनों क्षेत्रों में वे स्वशासन के सिद्धान्त का समर्थन करते है। जातीय समानतापर भी बल देते है। किन्तु उदारवादियों का जाति तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता का समर्थन मात्र यूरोपीय राष्ट्रों तक ही सीमित था।

8. अन्तर्राष्ट्रीय स्वतंत्रता : उदारवाद राज्यों व राज्यों के विरूद्ध युद्ध का प्रवल विरोधी रहा है। उदारवादियों का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग व शान्ति के आधार पर विश्व के राष्ट्रों को कार्य करना चाहिए। आर्थिक व सांस्कृतिक गतिविधियों के माध्यम से राष्ट्रों को एक दूसरे के निकट आना चाहिए।

9. राजनीतिक स्वतंत्रता : उदारवाद राजनीतिक स्वतंत्रता का प्रबल समर्थक है। उदारवादियों के अनुसार नागरिकों को राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए। यही राजनीतिक स्वतंत्रता है। उदारवादियों के अनुसार राजनीतिक स्वतंत्रता में नागरिकों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार, सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार, राजनीतिक गतिविधियों की जानकारी का अधिकार आदि है।

इस प्रकार उदारवाद लोकतंत्र व स्वतंत्रता का पर्यायवाची है।

आधुनिक उदारवाद में राज्य के कार्य:- 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से अब तक का समय आधुनिक उदारवाद कहा जाता है। उदारवादियों के अनुसार राज्यका कार्य उन समस्त परिस्थितियों का निर्माण करना है, जिससे व्यक्ति का विकास हो सके। आधुनिक उदारवादियों ने परम्परागत उदारवादियों के राज्य की 'अहस्तक्षेप की नीति' को अस्वीकार किया और यह कहा कि राज्य का कार्य मात्र व्यक्ति की सुरक्षा करना व शान्ति बनाये रखना नहीं है।

ग्रीन को आधुनिक उदारवाद का प्रतिनिधि माना जा सकता है। उसने राज्य के अहस्तक्षेप पर बल देने वाले परम्परागत उदारवाद को अस्वीकार किया। उसने माना कि राज्य का कार्य मात्र सुरक्षा प्रदान करना नहीं है, बल्कि राज्य का मुख्य कार्य व्यक्ति द्वारा उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करवाना है। वह राज्य को एक आवश्यक बुराई मानने के स्थान पर उसे एक नैतिक संगठन मानता है। ग्रोन राज्य को कभी साध्य नहीं मानता उसके अनुसार राज्य साध्य को प्राप्ति का एक साधन मात्र है। राज्य व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से नैतिक नहीं बना सकता, लेकिन उसके नैतिक विकास में आने वाली बाधाओं को दूर कर सकता है। इसलिए राज्य द्वारा अशिक्षा, अज्ञानता, नशाखोरी आदि बाधाओं को दूर किया जाना चाहिए। ऐसे कानूनों का निर्माण राज्य द्वारा किया जाना चाहिएजो गरीब व निम्न वर्गों के हित में भी हो। राज्य को तमस्त नागरिकों को स्वास्थ्य व शिक्षा के लिए अधिक से अधिक सुविधाएँ देनी चाहिए।

ग्रीन द्वारा राज्य के लिए यह महत्वपूर्ण कार्य सुझाया गया कि राज्य के द्वारा सजीवन के मार्ग में आने वाली बाधोंओं को दूर किया जाना चाहिए। इस प्रकार आधुनिक उदारवाद ने राज्य के लिए ऐसे कार्य सुझाये की 'लोक कल्याणकारी राज्य के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सके।

6.4 राज्य के कार्यों के संबंध में समाजवादी दृष्टिकोण

समाजवादी विचारधारा व्यक्तिवाद व पूँजीपति-राज्य के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में सामने आयी। यह विचारधारा वर्तमान समय में बहुत ही लोकप्रिय है। इस विचारधारा के अनुसार व्यक्ति को स्वतंत्र छोड़ देने की नीति से जनसाधारण के हितों की पूर्ति नहीं हो सकती, बल्कि साधन सम्पन्न व्यक्तियों के ही हितों की पूर्ति होती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि राज्य का कार्यक्षेत्र इतना व्यापक हो कि वह सभी के हितों की साधना के सब कार्य कर सके, और व्यक्ति की स्वतंत्रताओं को मर्यादित कर सके। समाजवादी विचारधारा राज्य को एक आवश्यक बुराई न मानकर, उसका समर्थन करते हैं, कि राज्य होना चाहिए तथा राज्य को यह अवसर दिये जो व्यक्ति के जीवन को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक हो। जैसा गार्नर कामत है कि "समाजवादी व्यक्तिवादियों की तरह राज्य को एक बुराई मानकर राज्य में विश्वास न करने और उसके कार्यक्षेत्र को कम करने के स्थान पर, राज्य को अनिवार्य और लाभप्रद मानते हैं और चाहते है कि राज्य व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास एंव हितों की अभिव द्वि करे।"

समाजवादी विचारधारा के अनुसार राज्य का कार्य क्षेत्र :-

राज्य के कार्यक्षेत्र के संबंध में समाजवादी विचारधारा व्यक्तिवादी व पूँजीवादी राज्य के कार्यों से एकदम भिन्न है। समाजवाद के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत होना चाहिए तथा उसे सब अवस्थाओं में व्यक्ति के आचरण का संचालन व नियमन करना चाहिए, जिससे सर्वसाधारण का हित हो सके। इस आधार पर राज्य का कार्यक्षेत्र मात्र सुरक्षा तक ही सीमित न होकर सुधारात्मक भी हो। राज्य के कार्यक्षेत्र में वे सब कार्य होने चाहिए जो व्यक्ति व समाज की उन्नति के लिए आवश्यक हो। इस आधार पर सामाजिक जीवन के प्रायः सभी कार्य राज्य के कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाते है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत यो सभी कार्य आ जाते है जो व्यक्तिगत क्षेत्र द्वारा या तो बिल्कुल नहीं हो सकते या व्यक्तिगत तौर पर ठीक प्रकार से नहीं किये जा सकते तथा राज्य को वे सब कार्य भी करने चाहिए, जिससे व्यक्तिगत सम्पादन में भ्रष्टाचार या अव्यवस्था होती हो और जिसका सम्पादन राज्य के नियंत्रण में ही उचित ढंग से हो सकता हो। इस प्रकार इस विचारधारा का उदय व्यक्तिवादी विचारधारा के उस विशेष रूप के विरूद्ध प्रतिक्रिया के तौर पर

हुआ, जिसे व्यक्तिवाद ने आर्थिक क्षेत्र में ग्रहण किया हुआ था क्योंकि व्यक्तिवादी व्यक्ति को आर्थिक क्षेत्र में स्वतंत्र छोड़ देने की नीति (अहस्तक्षेप की नीति) अपनाये हुये थे। जिसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्तिवाद का स्वरूप पूँजीवादी हो गया और राज्य का कार्यक्षेत्र संकुचित हो गया तथा व्यक्ति की अनियंत्रित स्वतंत्रता समाज व मानव जाति के लिए घातक हो गई। इसलिए समाजवादी विचारधारा व्यक्तिवाद के इसी पूँजीवादी स्वरूप का विरोध करती है और इसी कारण समाजवाद का जन्म हुआ। अतः इस विचारधारा के अनुसार यह मुख्यतः राज्य के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत समझा जाता है कि राज्य पूँजी और भूमि के अधिकार के संबंध में उचित नियमों का निर्माण करें तथा ऐसी व्यवस्था का निर्माण करे कि शासन व्यवस्या कुछ लाभार्थ विशेष व्यक्तियों के हाथों में न होकर, जन साधारण के हित में हो। इस विचारधारा के अनुसार व्यवसाय, व्याापार, पूंजी व भूमि आदि सभी की व्यवस्था राज्य के माध्यम से होनी चाहिए। राज्य इन सब का संचालन स्वंय अपने हाथों में ले लें और उनकासंचालन इस प्रकार करें कि सम्पत्ति का उचित वितरण हो सके और प्रत्येक व्यक्ति को उसके श्रम का उचित वेतन मिल सके।

समाजवाद का मूल्यांकन समाजवाद के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते है तथा इसकी आलोचना भी की जाती है। समाजवाद राज्य के कार्यक्षेत्र को व्यापकतम बनाने की बात करता है। इस आधार पर इसके पक्ष में अनेक तर्क दिये जाते है :-

1. इसके पक्ष में यह कहा जाता है कि सम्पत्ति के उचित वितरण के लिए राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत होना आवश्यक है ताकि व्यक्तिवाद के उस विकृत रूप को समाप्त किया जा सके, जो उसने आर्थिक क्षेत्र में अपना रखा है। व्यक्तिवाद द्वारा आर्थिक क्षेत्र में 'अहस्तक्षेप की नीति' पूँजीवाद को बढ़ावा देती है, जो समाज में सर्वसाधारण के लिए हितकर नहीं है। इसलिए इसके अवांछनीय प्रभाव को समाज से समाप्त करने के लिए समाजवाद को ग्रहण किया जा एऔर राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत किया जाय, ताकि प्राकृतिक संसाधनों और उत्पादन के साधनों का उचित वितरण किया जा सके।

2. इसके पक्ष में दूसरा तर्क यह है कि आर्थिक असमानता को दूर करने के लिए राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक होना चाहिए। जिसमें उद्योगों, भूमि, व्यापार आदि का राष्ट्रीयकरण न्यायसंगत होगा। ताकि सभी व्यक्तियों को समान रूप से लाभ मिल सके और आर्थिक विमता को दूर किया जा सकें।

3. इसके समर्थन में तीसरा तर्क यह है कि समाजवादी विचारधारा जीव-शास्त्रीय विचारधारा के अधिक निकट है। इस विचारधारा पर आधारित समाज, व्यक्तिवादी विचारधारा पर आधारित समाज की तुलना में जीय-शास्त्रीय विचारधारा के अधिक निकट है। क्योंकि राज्य को हम एक 'प्राणधारी

संस्थान' (Organic Body) मानते है। जिस आधार पर समाजवाद के माध्यम से ही समाज का कल्याण हो सकता है। क्योंकि समाजवाद यह प्रतिपादित करता है कि सम्पूर्ण समाज की देख-रेख समान रूप से की जानी चाहिए, और इसके लिए राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत होना चाहिए तभी सम्पूर्ण समाज का विकास हो सकता है।

4. समाजवाद के पक्ष में चौथी बात यह कही जाती है कि यह समाज में संघर्ष व प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग को बढ़ावा देता है। इसलिए राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत होना चाहिए।

समाजवाद की आलोचना जहाँ समाजवाद के पक्ष में तों को रखते हुए, राज्य के कार्यक्षेत्र की व्यापकता की बात कही जाती है. वहीं यह माना जाता है कि राज्य के कार्यक्षेत्र की व्यापकता दोष मुक्त नहीं है जिस कारण इसकी आलोचना की जाती है।

1. इसकी पहली आलोचना इस आधार पर की जाती है कि राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक होने के कारण, राज्य अपना कार्य कुशलतापूर्वक नहीं कर सकता। अपने कार्यों के लिए राज्य को अपने कर्मचारियों पर आश्रित रहना पड़ेगा, जो अपने स्वार्थ के लिए राज्य की कार्यप्रणाली को दूषित भी कर सकते हैं। कर्मचारी वेतन-भोगी होने के कारण, राज्य अपने व्यापक कार्यक्षेत्र का निर्वाह नहीं करा सकता।

2. इसके विपक्ष में दूसरा तर्क यह है कि राज्य के नियंत्रण में उत्पादन के साधन होने से उनका दुरूपयोग भी हो सकता है, क्योंकि राजकीय उत्पादन से व्यक्ति को व्यक्तिगत तौर पर कोई लाभ नहीं होगा। वह मात्र अपने वेतन से मतलब रखेगा, जिस कारण वह उतना परिश्रम नहीं करेगा, जितना उसे करना चाहिएऔर वह राजकीय साधनों का अनुचित प्रयोग भी करेगा।

3. इसकी आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि राज्य के कार्यक्षेत्र की व्यापकता से व्यक्ति की नैतिक हानि होगी और वह प्रत्येक कार्य के लिए राज्य की ओर देखेगा। जिस कारण व्यक्ति आलसी हो जायेगा और अपनी उन्नति के लिए स्वंय प्रत्यनशील न होकर राज्य पर निर्भर रहेगा। जिससे उसकी योग्यता धीरे-धीरे समाप्त हो जायेगी। इससे राज्य के कार्यक्षेत्र की व्यापकता पर बड़ा अनैतिक प्रभाव पड़ेगा। इसलिए राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत नहीं होना चाहिए।

6 .6 लोक कल्याणकारी दृष्टिकोण

आधुनिक उदारवादी सिद्धान्त से ही 20वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा विकसित हुई। टी०एच० ग्रीन को इस अवधारणा का अग्रदूत माना जा सकता है। लोक कल्याणकारी राज्य से आशय ऐसे राज्य से है, जिसमें शासन सत्ता की शक्ति का प्रयोग किसी वर्ग विशेष के हितों की पूर्ति के लिए न होकर सम्पूर्ण जनता के कल्याण के लिए हो। लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा का विचार बहुत पुराना है। भारत में प्राचीन कालसे ही 'राम राज्य' की धारणा प्रचलित है। महाभारत में राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप के विषय में 'वेदव्यास' ने कहा "जो राजा अपनीप्रजा को अपनी संतान समझ कर उसके चहुमुखी उन्नति का प्रयत्न नहीं करता वह नरक का भागीदार है"। यही धारणा यूनान के नगर राज्यों में भी प्रचलित थी। प्लेटो, अरस्तू द्वारा राज्य को एक नैतिक संगठन माना गया। जिसका कार्य किसी वर्ग विशेष के हित में कार्य करना नहीं बल्कि सभी नागरिकों के हित में कार्य करना है। मध्य युग में इस विचार के दर्शन नहीं होते लेकिन 18वीं व 19वीं शताब्दी में थामस जेकरसन, कान्ट, बेन्थम, टामस पेन व ग्रीन आदि विचारकों की विचारधाराओं में इस आदर्श को पुनः स्थान मिला, कि राज्य अपने नागरिकों के हित में कार्य करें। इस प्रकार लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा हर काल में विद्यमान रही।

'लोक कल्याणकारी राज्य' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आर्क विशप टैम्पिल ने अपनी रचना 'Citizen And Churchman' में अधिनायकों के 'सत्तावादी राज्य' शब्द के विरोध में किया। इसमें बिमारी, अज्ञानता, गंदगी, गरीबी तथा बेकारी की ओर राज्य का ध्यान आकर्तित किया गया।

टी०डब्लू० केन्ट ने 'कल्याणकारी राज्य' को स्पष्ट करते हुए कहा "कल्याणकारी राज्य वह राज्य है, जो अपने नागरिकों के लिए व्यापक समाज सेवाओं की व्यवस्था करता है"।

डा० अब्राहम के मातानुसार "कल्याणकारी राज्य वह है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन, आय के अधिक से अधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।"

इन्साइक्लोपिडीया ऑफ सोसल साइंस में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है "लोक कल्याणकारी राज्य से तात्पर्य ऐसे राज्य से है जो अपने सभी नागरिकों को न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करना अपना प्रमुख उत्तरदायित्व समझता है।"

लोक-कल्याणकारी राज्य के लक्षण लोक कल्याणकारी राज्य के प्रमुख रूप से निम्नलिखित लक्षण है-

1. लोकतंत्रात्मक शासन लोककल्याणकारी राज्य का वह एक प्रमुख लक्षण है। जिसमे व्यक्ति अपने विवेक के आधार पर अपने राजनीतिक अधिकारों का उपभोग कर सकता है। क्योंकि व्यक्ति राजतंत्र, कुलीन तंत्र व अधिनायकतन्त्र के अन्तर्गत अपने विवेक व इच्छानुसार अपने राजनीतिक अधिकारों का उपभोगनहीं कर पाता था। लोक कल्याणकारी राज्य में व्यक्ति के राजनीतिक हितों को आर्थिक हितों के समान ही समझा जाता है। एक लोकतंत्रीय शासन व्यवस्या वाला राज्य लोक कल्याणकारी राज्य हो सकता है।

2. नागरिक स्वतंत्रता कल्याणकारी राज्य में व्यक्ति को नागरिक स्वतंत्रता प्राप्त होती है। नागरिक को अपना राजनीतिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए स्वंत्रतता का वातावरण चाहिए। जिसमें नागरिकों को विचार व्यक्त करने की, संगठन बनाने की, राजनीतिक दलों का गठन करने की स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। इन स्वतंत्रताओं के अभाव में लोकहित का कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि लोकहित का कार्य लोक कल्याणकारी राज्य की आत्मा है।

3. आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था लोक कल्याणकारी राज्य में आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था रहती है। क्योंकि राजनीतिक शक्ति उन्हीं लोगों को प्राप्त होती है। जो आर्थिक तौर पर शक्तिपाली होते है। इसलिए राजनीतिक शक्ति को जनसाधारण में धारण करने और जनसाधारण के हितों में इसका प्रयोग करने के लिए आर्थिक सुरक्षा व्यवस्था की नितान्त आवश्यकता है। लोक कल्याणकारी राज्य के परिपेक्ष में आर्थिक सुरक्षा, सभी व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त करवाना है। सभी व्यक्तियों कों उनकी योग्यतानुसार कार्य अवश्य मिलना चाहिए, जो व्यक्ति किसी भी प्रकार का कार्य करने में असमर्थ है। उसके लिए 'बेरोजगारी बीमा'की व्यवस्था होनी चाहिएतया प्रत्येक मनुष्य को उसके कार्य के बदले न्यूनतम जीवन स्तर की गांरटी होनी चाहिए। यदि सम्पत्ति और आय की पूर्ण समानता संभव ना हो तो अधिकतम समानता की स्थापना की जानी चाहिए।

4. सामाजिक समानता की व्यवस्था लोक कल्याणकारी राज्य में सामाजिक समानता की स्थापना इसका एक प्रमुख लक्षण है। सामाजिक समानता से तात्पर्य है। व्यक्ति, व्यक्ति में धर्म, जाति, वंष, रंग, और सम्पत्ति के आधार पर भेद न किया जाय, क्योंकि लोक कल्याणकारी राज्य जीवन के सभी न पक्षों में समानता के सिद्धान्त को प्रतिठित करता है।

5. राज्य के कार्य क्षेत्र में वृद्धि लोक कल्याणकारी राज्य, राज्य के कार्य क्षेत्र में वृद्धि चाहता है क्योंकि राज्य का कार्य मात्र शांति व सुरक्षा व्यवस्था तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि राज्य को वो सभी कार्य करने होते हैं जो जनहित के लिए आवश्यक हों।

6. अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना: लोक कल्याणकारी राज्य में अन्तर्राष्ट्रीयसहयोग की भावना होती है। लोक कल्याणकारी राज्य अपने राष्ट्रीय हितों तक ही सीमित न होकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्य राष्ट्रों को सभी तरह की सहायता की सोच भी रखता है। जिस कारण मानवीय संकट व प्राकृतिक आपदाएँ आने पर राष्ट्र एक दूसरे को सहयोग करते है और एक दूसरे के बहुत निकट आ जाते है एक लोक कल्याणकारी राज्य 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के विचार पर आधारित होता

लोक कल्याणकारी राज्य के कार्य:- लोक कल्याणकारी राज्य के कार्यों के संबंध में लार्ड विलियम बेवरिज की रिर्पोट (1943) सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जिसमें पाँच बड़ी बुराइयों बीमारी, बेरोजगारी, अज्ञानता, भुखमरी तथा आवास का अभाव के उन्मूलन में राज्य की सकारात्मक भूमिका के लिए आग्रह किया गया है। बेवरिज रिर्पोट को इग्लैण्ड की 'एटली सरकार' द्वारा लागू किया गया। इसलिए ब्रिटेन को पहला लोक कल्याणकारी राज्य माना जाता हैं। लोक कल्याणकारी राज्य द्वारा 'पुलिस राज्य' (Police State) के कार्यों का इस प्रकार सम्पादन किया जाता है कि नागरिको की स्वतंत्रता पर कोई ऑच न आये। इसके द्वारा सामाजिक दृष्टि से उपयोगी कार्य निष्पादित किए जाते हैं। लोक कल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य निम्नलिखित है:-

1. शान्ति व सुव्यवस्था की स्थापना एक राज्य का यह महत्वपूर्ण कर्तव्य है, कि वह शांति व सुव्यवस्था स्थापित करें। राज्य आंतरिक तौर पर शांति व सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए संवैधानिक तौर शासन का संचालन करें। कोई ऐसे कार्य न करे जो जनहित में न हो। राज्य अपने नागरिको के अधिकारों व स्वतंत्रताओं की रक्षा करे व उनका सम्मान करें। जनहित के विरूद्ध कार्य अशान्ति को जन्म देते है। लोक कल्याणकारी राज्य जहाँ राष्ट्रीय तौर पर शांति के लिए प्रयत्नशील रहता है। वही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शांति स्थापना के लिए कोई ऐसे कार्य नहीं करता, जो विश्व समुदाय व मानव अस्तित्व के लिए खतरा हो और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उन कार्यों की निन्दा हो। इसलिए एक लोक कल्याणकारी राज्य शांति व सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए हमेषा प्रयत्नषील रहता है।

2. कृषि, उद्योग तथा व्यापार का नियमन और विकास :- आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न राज्य ही लोक कल्याणकारी राज्य के दायित्वों को पूरा कर सकता है। इस प्रकार के राज्य द्वारा उद्योग, कृषि

और व्यापार के नियमन व विकास का कार्य किया जा सकता है। इसमें मुद्रा निर्माण, प्रमाणिक माप तौल की व्यवस्या, व्यवसाय के नियम, कृषकों को सरकारी सहायता, नहरों का निर्माण,बीज वितरण के गोदाम और कृषि सुधार आदि विषय शामिल है। राज्यों के द्वारा प्राकृतिक सम्पदा की रक्षा की जानी चाहिए। कृषि तथा उद्योग के बीच संतुलन स्थापित किया जाना चाहिए।

3. जनमानस के जीवन स्तर को उँचा उठाना लोक कल्याणकारी राज्य :-द्वारा नागरिकों के जीवन स्तर को उपर उठाने का भरपूर प्रयास किया जाना चाहिए तथा राज्य द्वारा नागरिकों के न्यूनतम जीवन स्तर की गारंटी दी जानी चाहिए। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि नागरिको को स्वंय को स्वस्थ बनाये रखने के लिए पर्याप्त भोजन, साधन, आवास, शिक्षा, और स्वास्थ की सामान्य सुविधाएँ अवश्य प्राप्त हो।

4. शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं का प्रबन्ध करना लोक- कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य व्यक्तियों के लिए उन सभी सुविधाओं की व्यवस्था करना है, जो उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। इसके लिए शिक्षा व स्वास्थ्य सुविधाओं का विशेष प्रबन्ध किया जा सकता है। इसके लिए राज्य शिक्षण संस्थाओं की स्थापना करें और शिक्षा को अनिवार्य और निःशुल्क बनाये। व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। चिकित्सालयों का निर्माण किया जाना चाहिए। जन साधारण को निःशुल्क चिकित्सा सुविधा दी जानी चाहिए।

5. सार्वजनिक सुविधाओं की व्यवस्था करना लोक कल्याणकारी राज्य को अपने नागरिकों को सार्वजनिक सुविधा प्रदान की जानी चाहिए। लोक कल्याणकारी राज्य द्वारा परिवहन, संचार, सिचाई के साधन, बैंक, विद्युत, कृषि के साधनों आदि की व्यवस्था से सम्बन्धत सार्वजनिक सुविधा के कार्य किये जाने चाहिए। इन सुविधाओं का महत्व इसलिए है कि व्यक्ति इन साधनों की व्यवस्था स्वयं नहीं कर सकता। यें सुविधाऐं राज्य द्वारा ही व्यक्तियों को प्रदान की जानी चाहिए और जो लाभ (धन) इन सुविधाओं से राज्य को प्राप्त होता है, उसे सार्वजनिक कोषो में जमा किया जाना चाहिए।

6. समाज सुधार :- लोक कल्याणकारी राज्य की यह एक महत्वपूर्ण कार्य है। इस राज्य को और्थिक व सामाजिक कल्याण के साथ-साथ समाज सुधार का कार्य करना चाहिए। इसके लिए राज्य द्वारा बाल-विवाह, मद्यपान, छुआछुत, जाति-व्यवस्था, धार्मिक सद्भाव और परम्परागत सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के सम्पूर्ण प्रयास किये जाने चाहिए

7. आन्तरिक सुव्यवस्था व वाह्य आक्रमण से रक्षा :- लोक कल्याणकारी राज्य को अपने नागरिको की सुरक्षा व शांति के लिए आन्तरिक सुव्यवस्या स्थापित करनी चाहिए। आन्तरिक सुव्यवस्था में राज्य को नागरिकों के अधिकार व सम्मान की रक्षा करनी चाहिए। जातीय व धार्मिक दंगों पर नियंत्रण करना चाहिए। कानूनों के दुरूपयोग को रोकना चाहिए। राज्य का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वह वाह्य आक्रमण से राष्ट्र की सीमाओं व नागरिकों के जान-माल की रक्षा करें।

8. नागरिको के पारस्परिक संबंधो एंव नागरिकों व राज्य के बीच संबंध स्थापित करना :- लोक कल्याणकारी राज्य को व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्थापित करना चाहिए। अलग-अलग विचार व कार्यों के कारण व्यक्तियों में भेद व सघर्ष हो जाता है। इसलिए राज्य को कानून द्वारा व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों को स्थापित करना चाहिए। पुलिस व न्यायालयों की सहायता से राज्य यह कार्य करता है। राज्य एवं व्यक्तियों के बीच संबंध स्थापित करने के लिए राज्य को संवैधानिक तरीके से शासन का संचालन करना चाहिए तथा नागरिको के अधिकारों व स्वतंत्रताओं की रक्षा करनी चाहिए। जिससे नागरिको व राज्य के बीच मधुर सम्बन्ध बना रहें।

9. अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य लोक कल्याणकारी राज्य का यह भी दायित्व है कि वो अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे तथा अपने निहित स्वार्थो के लिए कोई ऐसा कार्य न करे जो मानवता के विरूद्ध अपराध हो और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की एकता व नियमों के विरूद्ध हो। लोक कल्याणकारी राज्य को विश्व समुदाय की एकता के लिए विश्व समुदाय को प्राकृतिक आपदाओं में सहायता व मानवीय विकास के लिए आर्थिक सहयोग करना चाहिए तथा किसी भी राष्ट्र की प्रभुसत्ता में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

अपने इन कार्यों की वजह से वर्तमान समय में लोक कल्याणकारी राज्य बहुत अधिक लोकप्रिय है और प्रत्येक राष्ट्र इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास भी कर रहा है। परन्तु कुछ लोगों ने लोक कल्याणकारी राज्य की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना भी की है।

1. कुछ लोगों का मानना है कि लोक-कल्याणकारी राज्य में राज्य का कार्य बहुत अधिक बढ़ जाने से राज्य इतना शक्तिशाली हो जाता है कि इससे वैयक्तिक स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है।

2. लोक कल्याणकारी राज्य में नौकरशाही भी शाक्तिशाली हो जायेगा। जिस कारण जनहित में कार्य न होकर व्यक्तिगत स्वार्थो की पूर्ति होगी।

3. कुछ लोगों ने लोक कल्याणकारी राज्य को बहुत अधिक खर्चीला बताया है। अधिकांश जन सेवाओं का कार्य इस राज्य द्वारा किये जाने के कारण राज्य का बहुत धन खर्च होगा। इस संबंध में सीनेटर टाफ्ट ने कहा "लोक-कल्याण की नीति राज्य को दिवालियेपन की ओर ले जायेगी।"

अभ्यास प्रश्न

1. उदारवाद की प्रमुख विशेषता कौन-सी है?
   A. राज्य द्वारा उत्पादन के साधनों का स्वामित्व
   B. सामाजिक समानता से पूर्ण असहमति
   C. व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकारों पर बल
   D. धार्मिक राज्य की स्थापना

2. समाजवाद किस बात पर बल देता है?
   A. निजी संपत्ति की पूर्ण स्वतंत्रता
   B. राज्य का न्यूनतम हस्तक्षेप
   C. आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय
   D. सैन्य शक्ति का विस्तार

3. लोक कल्याणकारी राज्य का प्रमुख उद्देश्य क्या है?
   A. केवल धनी वर्ग की सुरक्षा
   B. राज्य को केवल रक्षक बनाना
   C. नागरिकों के सामाजिक और आर्थिक कल्याण को सुनिश्चित करना
   D. करों में वृद्धि करना

6 .7 सारांश

राज्य के कार्य के संबंध में उदरवाद, समाजवाद और लोक-कल्याणकारी राज्य तीन प्रमुख दृष्टिकोण हैं। उदरवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकाओं पर बल देता है अतः उदरवाद न्यूनतम हस्तक्षेप राज्य का सुझाव देता है। दूसरी तरफ समाजवाद, समानता पर बल देता है और आर्थिक समानता,

संसाधनों के सामूहिक स्वामित्व और सामाजिक न्याय की वकालत करता है। लोक कल्याणकारी राज्य की संकल्पना इन दोनों का समन्वय करते हुए राज्य को जनता के सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक कल्याण की एक संस्था के रूप में स्थापित करने की बात करता है।

6.8 शब्दावली

1.**उदारवाद(Liberalism):**एक राजनीतिक विचारधारा जो व्यक्ति की स्वतंत्रताऔरउसके अधिकारों को प्राथमिकता देती है।

2. **समाजवाद (Socialism):**एकराजनीतिक सिद्धांत जो समानता पर बल देता है अतः संसाधनों के समान वितरण, सामाजिक न्याय और राज्य के व्यापक हस्तक्षेप की बात करता है।

3. **लोक कल्याणकारी राज्य (Welfare State):**ऐसा राज्य जो नागरिकों के सामाजिक और आर्थिक कल्याण हेतु शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार जैसी सेवाएँ उपलब्ध कराता है।

4.**न्यूनतम हस्तक्षेप राज्य (Minimal InterventionState):**
ऐसी स्थिति जहाँ सरकार केवल आवश्यक कार्यों तक सीमित रहती है और व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप नहीं करती।

6.9 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

1. C. व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकारों पर बल
2. C. आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय
3. C. नागरिकों के सामाजिक और आर्थिक कल्याण को सुनिश्चित करना

6.10 संदर्भ ग्रंथ सूची सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. डा॰ पुष्पेश पांडे,डा॰विजय प्रकाश पंत & डा॰ घनश्याम जोशी - राजनैतिक सिद्धान्त

2. ए सी कपूर - प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल साइन्स

3. एंड्रू हेवुड - पॉलिटिक्स

6 .11 निबंधात्मक प्रश्न

1. उदारवाद की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए तथा स्पष्ट कीजिए कि उदारवादी विचारधारा राज्य के कार्यों की क्या संकल्पना प्रस्तुत करती है।

2. समाजवाद की अवधारणा और सिद्धांतों की विवेचना करते हुए बताइए कि समाजवादी दृष्टिकोण में राज्य की भूमिका और कार्यों की क्या संकल्पना है।

3. लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का विश्लेषण कीजिए तथा समझाइए कि यह राज्य के कार्यों को किस प्रकार परिभाषित करता है और कैसे यह उदारवाद तथा समाजवाद का समन्वय करता है।

इकाई 7 संप्रभुता

इकाई की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3परिचय
7.4 संप्रभुता: अर्थ और परिभाषाएँ
7.5 संप्रभुता केप्रमुख लक्षण
7.5 संप्रभुता के विविध स्वरूप
7.7 संप्रभुता के स्रोत
7.8 ऑस्टिन का संप्रभुता सिद्धान्त
7.9 राज्य की संप्रभुता के सिद्धान्त के विरुद्ध बहुलवादियों के तर्क
7.10 सारांश
7.11शब्दावली
7.12अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.13संदर्भ ग्रन्थ सूची
7.14निबंधात्मक प्रश्न

7 .1 प्रस्तावना

राजनीति विज्ञान में ‘संप्रभुता’ (Sovereignty) एक केंद्रीय अवधारणा है-यह वह सिद्धांत है जो राज्य को अन्य संस्थाओं से अलग और सर्वोच्च बनाता है। लेकिन बात यहीं खत्म नहीं होती। संप्रभुता सिर्फ शक्ति या अधिकार की बात नहीं करती, यह उस अधिकार की प्रकृति, स्रोत, सीमाएं और उसके प्रयोग के तौर-तरीकों पर भी रोशनी डालती है।

इस इकाई में हम संप्रभुता की परिभाषाओं और इसके विभिन्न स्वरूपों की पड़ताल करेंगे-कानूनी, राजनीतिक, आंतरिक, बाह्य, नाममात्र और वास्तविक संप्रभुता जैसे आयामों के ज़रिये। इसके

अलावा हम यह भी समझेंगे कि किन विशेषताओं के आधार पर कोई सत्ता 'संप्रभु' कही जाती है, और कैसे यह संप्रभुता राज्य के ढांचे को वैधता और स्थायित्व प्रदान करती है।

ऑस्टिन जैसे विद्वानों ने संप्रभुता को विधिक दृष्टिकोण से परिभाषित किया, जहां सर्वोच्च सत्ता के आदेश को कानून माना गया। वहीं, बहुलवादी विचारकों ने इस एकात्मक दृष्टिकोण को चुनौती दी और कहा कि समाज में सत्ता के कई केंद्र होते हैं-राज्य उनमें से केवल एक है।

इसलिए इस इकाई का उद्देश्य सिर्फ संप्रभुता को परिभाषित करना नहीं, बल्कि इसके विभिन्न सिद्धांतों, आलोचनाओं और विकसित होती राजनीतिक वास्तविकताओं के साथ इसका संबंध स्थापित करना भी है।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत शिक्षार्थी:

1. संप्रभुता की अवधारणा और विभिन्न परिभाषाओं को स्पष्ट रूप से समझ पाएंगे।
2. संप्रभुता के प्रमुख लक्षणों और उनके महत्व को पहचान सकेंगे।
3. संप्रभुता के विविध स्वरूपों-जैसे कानूनी, राजनीतिक, आंतरिक एवं बाह्य संप्रभुता-का विश्लेषण कर सकेंगे।
4. संप्रभुता के स्रोतों की पहचान और उनकी वैधता पर विचार कर सकेंगे।
5. ऑस्टिन के विधिक संप्रभुता सिद्धांत को समझेंगे और उसकी आलोचना कर सकेंगे।

7.3 परिचय

सम्प्रभुता की अवधारणा आधुनिक युग के राष्ट्रीय राज्य की स्थापना के साथ राज्य की सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्थापित की गयी। वस्तुतः यह मध्ययुग में सामंतशाही व्यवस्था में बिखरी हुई सत्ता के खिलाफ संघर्ष का एक परिणाम थी। आधुनिक काल से पूर्व सम्प्रभुता का विचार अपूर्ण और अस्पष्ट था। इसे सरकार की शक्ति के रूप में जाना जाता था न कि राज्य के एक विशेष गुण अथवा प्राणतत्व के रूप में। राज्य की सर्वोच्च शक्ति के रूप में प्राचीन काल में यूनानी चिन्तन में सम्प्रभुता का विचार अस्तित्व में नहीं था। प्लेटो और

अरस्तू ने समाज और राज्य में कोई अन्तर नहीं किया। व्यक्ति के ऊपर समाज की सत्ता थी और व्यक्ति को सामाजिक प्राणी माना गया। यद्यपि यूनानी चिन्तन में स्पष्ट रूप से सम्प्रभुता के बारे में कोई विचार नहीं किया गया तथापि अरस्तू द्वारा जहाँ राज्यों/संविधानों का वर्गीकरण किया गया है वहाँ उसका एक आधार 'राज्य की सर्वोच्च सत्ता' को बनाया है। रोमन काल में सर्वोच्च सत्ता के लिए 'सुम्मा पोटेस्टास' शब्द का प्रयोग किया गया। किन्तु यह सत्य है जैसा कि फिगिस ने लिखा है कि "आधुनिक अर्थ में सम्प्रभुता नाम की कोई वस्तु मध्य युग में नहीं थी।" यद्यपि मध्य युग के कई दार्शनिक चिन्तकों, एक्विनास, मार्सेलियों ऑफ पेडुआ, विलियम ऑफ ओकम, गर्सन, निकोलस ऑफ कूसा आदि ने सम्प्रभुता पर अस्पष्ट विचार प्रस्तुत किये।

14वीं शदी से सांमतवादी शोषण अपने चरम की ओर बढने लगा फलतः जनता ने उसका विरोध करने के लिए राजाओं की शक्ति बढ़ाने का प्रयास किया। राजा को निरंकुश और असीमित शक्ति प्रदान की जाने लगी। फ्रांस की जनता राजा को आन्तरिक व वाह्य मामलों में स्वतंत्र अस्तित्व देने में जुट गयी। फ्रांसिसी विचारकों ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उधर दूसरी ओर इटली की एकीकरण की चिन्ता में मैकियावेली ने जिस 'प्रिस' की रचना की उसमें उसने शासक को अत्यधिक शक्तिशाली व निरंकुश बनाने का प्रयास किया। यह पहली स्पष्ट झलक थी जिसमें सम्प्रभुता के बीज दिखाई देते हैं। किन्तु सम्प्रभुता को वास्तविक अर्थ मैं स्थापित करने का श्रेय फ्रांसिसी विचारक जीन बोंदा को जाता है जिसने मैकियावेली से प्रेरणा लेकर 1576 ई0 में अपनी फ्रांसिसी पुस्तक 'डि रिपब्लिका लाइबर सिक्स' (सिक्स बुक्स कनसरनिंग रिपब्लिक) में सम्प्रभुता का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया। इसी कारण बोंदा को सम्प्रभुता की अवधारणा का जनक माना जाता है। बोंदा के बाद, हॉब्स, लॉक, रूसो, ह्यूगो ग्रोसश, बेन्थम, हीगल, ग्रीन, बोसांके और ऑस्टिन ने सम्प्रभुता पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये।

7.4 संप्रभुता: अर्थ और परिभाषाएँ

सम्प्रभुता शब्द अंग्रेजी भाषा के 'सॉवरेन्टी' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, जिसे लैटिन भाषा के सुपरेनस शब्द से लिया गया है, जो स्वयं दो शब्दों 'सुपर और एनस' के योग से बना है। जहाँ 'सुपर' का अर्थ सर्वोच्च और 'एनस' का अर्थ 'शक्ति' से लिया गया है। इस प्रकार सॉवरेन्टी का शाब्दिक अर्थ है- सर्वोच्च शक्ति। राज्य के सन्दर्भ में जब इस शब्द का प्रयोग किया जाता है तो यह 'राज्य की सर्वोच्च

शक्ति' की ओर इशारा करती है। जैसा कि उपर उल्लेख किया गया है कि राजनीतिक अवधारणा के तौर पर इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सन् 1576 ई० में फ्रांसिसी विचारक जीन बोंदा ने अपनी पुस्तक 'डिरिपब्लिका लाइबर सिस्क' में किया।

सम्प्रभुता को अनेक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से परिभाषित करने का प्रयास किया है। कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाऐं निम्नांकित है :-

1. **बोंदा** के अनुसार, "सम्प्रभुता नागरिकों और प्रजाजनों पर राज्य की सर्वोच्च शक्ति है जो स्वयं कानून द्वारा अबाधित है।"

2. **बिलोबी** के अनुसार, "सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।"

3. **बर्गेस** के अनुसार, "सम्प्रभुता राज्य के व्यक्तियों और समुदायों पर मौलिक, परम और असीम शक्ति है।"

4. **पोलक** के शब्दों में, "सम्प्रभुता वह शक्ति है जो न तो अस्थाई है, न हस्तांतरण के योग्य, न ही गैर-परिवर्तनीय नियमों के अधीन है और न ही पृथ्वी पर किसी अन्य शक्ति के प्रति जबावदेय है।"

5. **ब्लैकस्टोन** ने सम्प्रभुता को परिभाषित करते हुए कहा, "सम्प्रभुता सर्वोच्च, अप्रतिरोधनीय, परम अनियंत्रित शक्ति है जिसमें राज्य की उच्चतम वैधानिक शक्ति निवास करती है।"

6. **डुग्वी** के अनुसार, "सम्प्रभुता राज्य की आदेश देने की शक्ति है, यह राज्य के व्यवस्थित राष्ट्र की इच्छा है, यह राज्य के क्षेत्र में सभी व्यक्तियों को अनियंत्रित रूप से आदेश देने का अधिकार है।"

7**. जेलनिक** के शब्दों में, "सम्प्रभुता राज्य की वह विशेषता है जिसके कारण इसे अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति द्वारा वैधानिक रूप में नियंत्रित नहीं किया जा सकता अथवा इसे स्वयं के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता।"

8. **आस्टिन** के अनुसार, "यदि किसी समाज का अधिकांश भाग किसी निश्चित प्रधान मानव की आज्ञाओं का पालन करता हो और वह निश्चित मानव प्रधान किसी अन्य वैसे ही मानव-प्रधान की आज्ञाओं का पालन करने का अभ्यस्त न हो, तो उस समाज में वह मानव-प्रधान सम्प्रभु है तथा उस सम्प्रभु सहित वह समाज राजनीतिक और स्वतंत्र है।"

सम्प्रभुता की परिभाषाओं के शब्दजाल से बाहर निकलें, तो इसका सीधा सा अर्थ है- राज्य की सर्वोच्च शक्ति। जिसके दो आयाम है- आन्तरिक सम्प्रभुता व वाह्य सम्प्रभुता । आन्तरिक सम्प्रभुता से तात्पर्य है कि राज्य अपने सीमा क्षेत्र में निवास करने वाली जनता तथा उनके विविध समूहों के ऊपर बाध्यकारी नियंत्रण शक्ति है। अर्थात् राज्य इनके सम्बन्ध में स्वतंत्रता पूर्वक कानून निर्माण कर सकता है, साथ ही कानूनों का अनुपालन बाध्यकारी घोषित कर सकता है। कानूनों के उल्लघंन की स्थिति में राज्य दोषी व्यक्ति अथवा संस्था या संघ को दण्डित कर सकता है। लास्की ने लिखा, "राज्य अपने प्रदेश के सब मनुष्यों तथा समुदायों को आज्ञा प्रदान करता है और उसे उनमें से कोई आदेश नहीं देता है।उसकी इच्छा पर किसी प्रकार का कोई कानूनी प्रतिबंध नहीं होता है। किसी विषय में अपनी इच्छा प्रकट कर देने से वह उसका अधिकारी हो जाता है।"

बाह्य सम्प्रभुता से तात्पर्य राज्य की उस शक्ति से है जिसके आधार पर वह अपने वैदेशिक सम्बन्ध निर्धारित करते समय स्वतंत्रापूर्वक, बिना किसी दबाव में निर्णय लेता है। उसके निर्णय अपने निर्णय होते है। व्यापारिक सम्बन्ध, संधियों, सैन्य समझौते करना आदि राज्य की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है। इनके सम्बन्ध में वह वाह्य हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं करता है। लास्की ने वाह्य सम्प्रभुता की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा कि, "आधुनिक राज्य सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य होता है। अतः यह अन्य राष्ट्रों के सामने स्वतंत्र होता है। वह अपनी इच्छा को इन राज्यों के बारे में इस प्रकार व्यक्त करता है कि उस पर किसी बाहरी शक्ति के दबाव की आवश्यकता न हो।"

7.5 संप्रभुता के प्रमुख लक्षण

सम्प्रभुता के प्रमुख लक्षण निम्नलिखितहै :-

1. व्यापकता :- सम्प्रभुता, व्यापक (Unversal) है। अर्थात राज्य के भीतर रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक संघ या समुदायों पर सम्प्रभु द्वारा निर्मित कानून बाध्यकारी है और इनमें से कोई भी सम्प्रभु की शक्ति से मुक्त होने का दावा नहीं कर सकता। राज्य के अन्तर्गत यदि किसी वर्ग विशेष को या व्यक्ति विशेष अधिकार प्राप्त होते है, तो इन विशेषाधिकारों का अस्तित्व राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है।

2. असीम या निरंकुश: सम्प्रभुता असीम या निरंकुश है। यह सर्वोच्चशक्ति और निरपेक्ष है। यह आंतरिक और वाह्य दोनों क्षेत्रों में निरंकुश और सर्वोच्च होती है। यह किसी की इच्छा से बाधित नहीं है। यह विधि द्वारा भी नियंत्रित नहीं है, क्योंकि विधि स्वयं इसके द्वारा निर्मित हैं। आन्तरिक क्षेत्र में यह समुदायों और व्यक्तियों पर नियंत्रण रखती है और शक्ति के बल पर अपनी आज्ञाओं का पालन करवाती है तथा बाहरी क्षेत्र में यह एक राज्य दूसरे राज्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में पूर्णतया स्वतंत्र होते है। आन्तरिक और वाह्य किसी भी क्षेत्र में सम्प्रभुता पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं होता। स्वयं आस्टिन के शब्दों में ''सम्प्रभु अन्य सभी से आदेश पालन कराने का अभ्यस्त है, परन्तु स्वयं किसी के आदेश पालन का अभ्यस्त नहीं होता।"

3. स्थायित्व :- सम्प्रभु स्थाई होता है, क्योंकि सम्प्रभुता का अन्त करना राज्य का अन्त करना है। शासन (सरकार) और सम्प्रभुता में अन्तर को दर्शाते हुएयह कहावत ब्रिटिश संविधान में प्रचलित है 'राजा मृत है, राजा चिरायु हो।'

सम्प्रभुता इस रूप में होती हैं जो कभी समाप्त नहीं होती। सरकारों के बदलने से राज्य द्वारा दूसरे राज्य पर विजय प्राप्त करने से सम्प्रभुता के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह नई सरकार व राज्य को हस्तान्तरित हो जाती है। गार्नर ने सम्प्रभुता के स्थाईत्व के सम्बन्ध में कहा है कि "स्थाईत्व से तात्पर्य यह है कि जब तक राज्य रहता है, तब तक सम्प्रभुता भी रहती है। सम्प्रभुधारी की मृत्यु अथवा पदच्युति व राज्य के पुनः संगठन के कारण सम्प्रभुता का नाश नहीं होता।"

4. अपृथककरणीयता :- सम्प्रभुता अपृथककरणीय होती है। इसे राज्य सेअलग नहीं किया जा सकता। राज्य स्वयं को नष्ट कि एबिना सम्प्रभुता को नहीं त्याग सकता। राज्य इसे किसी को हस्तान्तरित नहीं कर सकता। सम्प्रभुता को राज्य से अलग करने का अर्थ होगा राज्य का विनाा। इस सम्बन्ध में लायबर का कथन है ''राज्य सम्प्रभुता को अपने से उतना ही अलग कर सकता है, जितना की आत्म-नाश की परवाह किए बिना कोई व्यक्ति अपने जीवन के अधिकार को अथवा कोई वृक्ष अपने फलने-फूलने के स्वभाव को।"

5. मौलिकता :- राज्य की सम्प्रभुता मौलिक होती है। इसे किसी अन्य सत्ताद्वारा प्रदान नहीं किया जा सकता। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि सम्प्रभुता प्रदान की जाती है तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि सम्प्रभुता प्रदान करने वाला राज्य व सम्प्रभुता दोनों से उपर है और वह उसे वापस भी ले सकता है। सम्प्रभुता से उच्च अन्य किसी संस्था का कोई अस्तित्व नहीं है।

6. अविभाज्यता :- सम्प्रभुता अविभाज्य होती है। यह अपने में पूर्ण होतीहै। इसे विभाजित नहीं किया जा सकता। सम्प्रभुता को विभाजित करने का अर्थ है, उसे नष्ट करना। गार्नर का इस सम्बन्ध में कथन है कि "यदि सम्प्रभुता सम्पूर्ण नहीं है, तो राज्य का अस्तित्व नहीं है। यदि सम्प्रभुता विभाजित है तो एक से अधिक राज्यों का अस्तित्व है।" कैलहां के अनुसार ‘‘सम्प्रभुता एक समग्र वस्तु है। इसे विभाजित करना, इसे नष्ट करना है। राज्य में यह सर्वोच्च शक्ति है और शायद हम अर्ध-वृत्त या अर्ध-त्रिभुज की भॉति अर्ध-सम्प्रभुता की बात नहीं कर सकते" इस सम्बन्ध में रूसो कहता है "विभाजित सम्प्रभुता एक धोखा है।"

7.6 संप्रभुता के प्रमुख स्वरूप

सम्प्रभुता की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए विद्वानों ने इसको भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से परिभाषित किया । तद्रूप सम्प्रभुता के कई रूप सामने आये।

सम्प्रभुता के प्रमुख स्वरूप निम्नांकित है :-

1. नाममात्र की सम्प्रभुता :- नाममात्र की सम्प्रभुता को औपचारिकसम्प्रभुता या ध्वजमात्र की सम्प्रभुता भी कहा जाता है। नाममात्र की सम्प्रभुता से तात्पर्य उस व्यक्ति अथवा संस्था से जिसके नाम राज्य की समस्त शक्तियों होती हैं किन्तु वह उनका प्रयोग स्वयं नहीं करता है। जिसके नाम पर शासन के समस्त कार्य चलते है किन्तु उनका प्रयोग कोई अन्य करता है। ब्रिटेन में नाममात्र की सम्प्रभुता का इतिहास संवैधानिक शासन के इतिहास से जुड़ा है। 'टाइट्यूलर सावरेन्टे' (नाममात्र की सम्प्रभुता) शब्द का प्रयोग उस राजा या राजतंत्रीय शासक के लिए किया जाता है जो किसी समय वास्वत में सम्प्रभु था, पर अब काफी समय से वास्तविक सम्प्रभु न रहकर नाममात्र का सम्प्रभु रह गया है। उसके नाम पर ब्रिटेन का शासन चलता है किन्तु उसकी शक्तियों का प्रयोग उसका मंत्रीमण्डल करता है। यही स्थिति भारतीय राष्ट्रपति की है। संघ की समस्त शक्तियाँ राष्ट्रपति के नाम पर प्रयोग की जाती है किन्तु उनका वास्तविक प्रयोग मंत्रीमण्डल करता है। इस प्रकार ब्रिटेन में राजा अथवा रानी तथा भारत में राष्ट्रपति नाममात्र की सम्प्रभुता के प्रतीक है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नाममात्र की सम्प्रभुता राज्य का ऐसा प्रतीक है जिसके नाम पर शासन की सभी शक्तियों का प्रयोग किया जाता है, जो स्वयं किसी शक्ति का प्रयोग नहीं करता है।

2. वास्तविक सम्प्रभुता :- वास्तविक सम्प्रभुता, राज्य की उस संस्था कोकहते है जिसके द्वारा शासन की शक्तियों का वास्तव में प्रयोग किया जाता है। जैसा कि उपर उल्लेख किया जा चुका है

कई देशों में शासन शक्ति किसी एक संस्था के नाम पर होती है, किन्तु उसका प्रयोग दूसरी संस्था के द्वारा किया जाता है। पहली संस्था नाममात्र की सम्प्रभुता है, जबकि दूसरी संस्था वास्तविक सम्प्रभुता है। उदाहरण के लिए ब्रिटेन में सम्राट का मंत्रीमण्डल एवं भारत में राष्ट्रपति का मंत्रीमण्डल वास्तविक सम्प्रभुता के प्रतीक है। वस्तुतः सम्प्रभुता का यह भेद नाममात्र व वास्तविक-संसदीय शासन व्यवस्थाओं का गुण है। अध् यक्षात्मक शासन व्यवस्था में ऐसा भेद समाप्त हो जाता है। वहाँ दोनों प्रकार की सम्प्रभुताऐं एक ही संस्था में निहित होती है।

3. वैधानिक सम्प्रभुता :- किसी देश की कानून बनाने वाली सर्वोच्च शक्तिको वैधानिक सम्प्रभुता कहा जाता है। उसको उस देश में विधि निर्माण व विधि संशोधन करने की अन्तिम शक्ति प्राप्त होती है। ऐसी संस्था द्वारा निर्मित विधि सम्बद्ध लोगों तथा संस्थाओं पर अनिवार्य रूप से लागू होती है। ब्रिटेन की संसद वैधानिक सम्प्रभुता का सर्वोत्तम उदाहरण है। ब्रिटिश संसद की सम्प्रभुता पर लिखते हुए डायसी का कथन है, "ब्रिटिश संसद सर्व शक्तिमान है वह किसी भी अवयस्क को वयस्क घोषित कर सकती है, राजद्रोही को मृत्युपरांत भी प्रताड़ित कर सकती है, अवैध शिशु को वैध घोषित कर सकती है और यदि उचित समझे तो किसी व्यक्ति को अपने ही मामले में न्यायाधीश बना सकती है" वैधानिक सम्प्रभुता की कुछ विशेषताऐं है- यह निश्चित होती है और न्यायालय इसे स्वीकार करते है। यह किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह में निहित होती है। यह निश्चित रूप से संगठित, स्पष्ट और विधि द्वारा मान्य होती है। वैधानिक दृष्टि से राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति का एकमात्र अधिकार इसी को प्राप्त होता है।

4. राजनीतिक सम्प्रभुता :- प्रत्येक राज्य में वैध सम्प्रभुता के अतिरिक्त एकअन्य शक्ति भी होती है। वही शक्ति सर्वोच्य सिद्ध होती है। यह वैध सम्प्रभुता की भाँति न तो संगठित है और न ही दृष्टिगोचर ही होती है। यह कोई निश्चित व्यक्तियों का समूह भी नहीं जो कि कानून बनाने का परम अधिकारी हो। यह वैध सम्प्रभुता के पीछे छिपी रहती है। डायसी ने इस सन्दर्भ में लिखा, "जिस सम्प्रभुता को वकील लोग स्वीकार करते है उसके पीछे एक दूसरी सम्प्रभुता है जिसके समक्ष कानूनी सम्प्रभुता को सिर झुकाना पड़ता है।" गार्नर ने भी कुछ इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये। उसने लिखा, "कानूनी सम्प्रभुता के पीछे एक दूसरी सम्प्रभुता भी है जो कानूनी रूप से अज्ञात व असंगठित है और जिसमें इतनी शक्ति नहीं होती कि वह राज्य की हर इच्छा को कानून का रूप दे सके, परन्तु फिर जो ऐसी सत्ता है जिसके समक्ष कानूनी प्रभुसत्ता को झुकना पड़ता है, यह है राजनीतिक प्रभुसत्ता । राजनीतिक प्रभुसत्ता को स्पष्ट करते हुए गिलक्राइस्ट ने लिखा, "राजनीतिक सम्प्रभुता का अर्थ, राज्य में कानून के पीछे रहने वाले सामुहिक प्रभाव से है। आधुनिक प्रतिनिधित्यात्मक प्रजांतत्र में उसे

लोगों की इच्छा या जनमत कहा जा सकता है अतः राजनीतिक सम्प्रभुता से हमारा आय मतदाताओं तथा राज्य में उन सब अन्य प्रभावों से है जो लोकमत बनाते है। लोकतंत्र में मतदान, समाचार पत्र, सभाऐं, विरोध आदि मिलकर कानून बनाने वाली शक्ति पर प्रभाव डालती हैं तथा उस पर अंकुश लगाती है। संक्षेप मेंमतदाताओं और लोकमत के योग को राजनीतिक सम्प्रभुता कहा जा सकता है। राजनीतिक सम्प्रभुता वैध तथ्य नहीं है। न्यायालय इसकी सत्ता को नहीं मानते है, वे केवल कानूनी सम्प्रभु की इच्छा का सम्मान करते है व उसके अनुसार निर्णय देते है। वस्तुतः कानूनी सम्प्रभुता व राजनीतिक सम्प्रभुता एक ही सर्वोच्च शक्ति के दो पहलु है। आदर्श स्थिति यही होगी कानूनी सम्प्रभुता सदैव राजनीतिक सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति करें।

5. लौकिक सम्प्रभुता :- लौकिक सम्प्रभुता को सार्वजनिक सम्प्रभुता, जनसम्प्रभुता और 'पापुलर सावरेन्टी' नाम से भी जाना जाता है। इस सम्प्रभुता का अर्थ है कि राज्य की सर्वोच्च शक्ति जनता में निवास करती है। गार्नर ने लिखा है, "लौकिक प्रभुसत्ता का अभिप्राय केवल यह है कि जिन राज्यों में वयस्कों को मताधिकार प्राप्त है, उनमें मतदाताओं को अपनी इच्छा प्रकट करने और उस पर अमल करवाने की सत्ता प्राप्त है।" रूसो को लौकिक सम्प्रभुता का जनक माना जाता है।

6. विधितः और वस्तुतः सम्प्रभुता :- विधितः (डि-जूरे) और वस्तुतः यातथ्यतः (डि-फैक्टो) सम्प्रभुता के दो महत्वपूर्ण रूप है। विधितः सम्प्रभुता वह होती है जिसे वैधानिक दृष्टि से राज्य की सर्वोच्च शक्ति प्राप्त हो और वह कानूनन आदेश जारी कर सकता हो। आदेशों को अनिर्वाय व बाध्यकारी रूप से लागू करवा सकता हो। विधिवत चुनी गयी सरकार जो इन शक्तियों का प्रयोग करती है विधितः सम्प्रभु है।

जब कभी गैर-संवैधानिक तरीकों के द्वारा कोई सरकार स्थापित की जाती है या विद्यमान वैधानिक सरकार का तख्ता पलट कर, सैनिक विद्रोह द्वारा या अन्य किसी प्रकार से गैर संवैधानिक सरकार बनायी जाती है, सत्ता अपने हाथ में ले ली जाती है तो इस प्रकार प्राप्त सत्ता को वस्तुतः सम्प्रभु कहते है। वस्तुतः सम्प्रभु वह होता है जिसकी आज्ञाओं का पालन होता है चाहे उसकी सम्प्रभुता का आधार कानूनी हो या न हो। यह सम्भव है कि सम्प्रभुता जनता से वैधता प्राप्त कर स्वयं को विधितः सम्प्रभुता में बदल ले।

7.7 संप्रभुता के स्रोत

सम्प्रभुता के स्रोत या अधिवास :- 'सम्प्रभुता' राजनीतिशास्त्र की एकअत्यन्त महत्वपूर्ण खोज है। सम्प्रभुता के स्रोत क्या है व सम्प्रभुता कहाँ निवास करती है या सम्प्रभुता कहाँ पाई जाती है। इसका उत्तर तो बहुत जटिल है, फिर भी इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मत हैं :-

1. सम्प्रभुता का निवास राजा में है :- राजतंत्र शासन व्यवस्थाओं में शासन की समस्त शक्तियों राजा के हाथ में रहती थी। इसलिए राजा स्वयं ही राज्य था और सम्प्रभुता उसी में निवास करती थी। फ्रांसिसी राजा लुई चौदहवां कहता था 'मैं ही राज्य हैं, मैं ही शासक हूँ ।' परन्तु राजतंत्र तक ही सम्प्रभुता राजा में निहित थी।

2. सम्प्रभुता का अधिवास जनता में है:सम्प्रभुता जनता में निहित है इसविचार को सर्वप्रथम रोमन दार्शनिक सिसरो (Cicero) द्वारा प्रतिपादित किया गया। लेकिन यह विचार उस समय के राजतंत्र की तानाशाही के विरूद्ध होने के कारण अमान्य हो गया। 16वीं व 17वीं शताब्दी में यूरोप में जन आन्दोलन होने पर जॉन लॉक व रूसो द्वारा इस बात पर बल दिया गया कि शासन जनता की स्वीकृति (सहमति) पर आधारित होना चाहिएऔर सम्प्रभुता वास्तविक तौर पर जनता में ही है। अमरीकी व फ्रांसिसी क्रान्ति और जैफरसन जैसे विद्वानों द्वारा इस विचार को सत्यता प्रदान की गई तथा यह विचार वर्तमान में बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ और इसके माध्यम से लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली का आधार तैयार हुआ। इसे स्वीकार करने में कुछ कठिनाईयाँ हैं। पहला- जन-समुदाय अंसगठित होने के कारण, वह (जनता) सम्प्रभु नहीं हो सकती, क्योंकि सम्प्रभुता संगठित होती है। दूसरा- निर्वाचितों को भी सम्प्रभु नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे राज्य में मुट्ठी भर लोग ही होते हैं।

3. सम्प्रभुता संविधान-निर्मात्री सभा में है: 16वीं शदी में कुछ प्रतिभासम्पन्न न्याय-शास्त्रीयों ने इस बात पर बल दिया कि सम्प्रभुता संविधान-निर्मात्री सभा में निहित है। उनके अनुसार देश का सर्वोच्च कानून संविधान, जिसका निर्माण संविधान निर्मात्री सभा करती है, वहीं वास्तविक सम्प्रभु है। किन्तु इसके विपक्ष में यह कहा गया कि सम्प्रभुता स्थाई होने के कारण, उसका निवास संविधान-निर्मात्री सभा में नहीं हो सकता क्योंकि यह स्थाई नहीं होती तथा संविधान-निर्मात्री को वैधानिक सम्प्रभु कहा जा सकता है, राजनीतिक नहीं।

4. सम्प्रभुता का निवास विधानमण्डल में है:- आधुनिक विचारकों द्वारा यह प्रतिपादित किया गया कि सम्प्रभुता का निवास विधानमण्डल में है। क्योंकि कार्यपालिका व न्यायपालिका विधानमण्डल द्वारा पारित किये गये कानूनों के आधार पर कार्य करती है। इस विचार के विरोध में भी

तर्क दिये गये। पहला-विधानमण्डल ही कानूनों का निर्माण करती है और उसकी शक्तियों असीमित है। यह बात असत्य है। व्यवहार में विधानमण्डल की शक्तियों रीति-रिवाज, धार्मिकनियम, जनमत, निर्वाचन व संविधान आदि के माध्यम से नियंत्रित होती हैं। दूसरा- जिन लोकतंत्रात्मक शासन वाले राज्यों में संविधान लिखित और कठोर होता है। वहाँ यह बात लागू नहीं होती। लोकतंत्र में शासन की शक्तियाँ विभाजित होती हैं।

5. सम्प्रभुता का निवास विधि-निर्माण की समस्त संस्थाओं के योग में है :- कुछ विद्वानों ने जैसे-गैटेल ने इस बात का समर्थन किया है कि सम्प्रभुता उन समस्त संस्थाओं के योग में निवास करती है, जो विधि-निर्माण का कार्य करती है। ये संस्थाऐं है- प्रतिनिधियात्मक व्यवस्थाएँ- राष्ट्रीय, राज्यीय व स्थानीय न्यायालय जब कानून का निर्माण करती है। कार्यपालिका- जब अध्यादेश जारी करती है। निर्वाचक मण्डल- जब वे जनमत के माध्यम से अपनी शक्ति का प्रयोग करते है। सभाएँ और सम्मेलन- जब वे संविधान में परिवर्तन या नये संविधान के निर्माण का कार्य करते है। गैटेल द्वारा संस्थाओं के विभाजन और इनके द्वारा अपनी-अपनी शक्तियों का प्रयोग और इनका समन्वय ही सम्प्रभु है। क्योंकि ये मिलकर राज्य संस्था का निर्माण करते है तथा राज्य को ही सम्प्रभु माना गया है और सरकार के विभिन्न अंग व्यवहार में इस सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करते है।

7.8 ऑस्टिन का संप्रभुता सिद्धान्त

आस्टिन 19वीं शताब्दी का एक प्रसिद्ध अंग्रेज न्यायविद था। जिसने सम्प्रभुता की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। आस्टिन, बेन्थम व हॉब्स के विचारों से प्रभावित था। आस्टिन, बेन्थम के समान ही कानून और परम्परा के बीच भेद करना चाहता था। कानून के सम्बन्ध में आस्टिन का विचार यह था कि 'सर्वोच्च द्वारा अपने अधिनस्थ को दिया गया आदेश ही कानून है।' सम्प्रभुता सम्बन्धी उसके विचार उसकी प्रसिद्ध कृति **"The Province of Jurisprudence Determined"**में मिलते है। उस के अनुसार सम्प्रभु को मानवीय इकाई होना चाहिए। जिसकी आज्ञा का पालन समाज का बहुसंख्यक आदतन करता हो। वह सम्प्रभुता को अदेय, अविभाज्य तथा अमर्यादित मानता है। उसका कथन है कि "कानून सम्प्रभु की आज्ञा है।" सम्प्रभुता को स्पष्ट करते हुए आस्टिन कहता है कि "यदि कोई निश्चित उच्च मानव सत्ताधिकारी, जो स्वयं किसी अन्य उच्च मानव सत्ताधिकारी की आज्ञा पालन का आदि न हो, लेकिन किसी समाज की अधिकांश संख्या से स्वाभाविक आज्ञा पालन कराता हो, तो उस समाज में वह उच्च सत्ताधारी व्यक्ति सम्प्रभु है तथा वह समाज एक

राजनीतिक और स्वतंत्र समाज होता है।"आस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी इस विचार से उसके सम्प्रभुता सिद्धान्त की कुछ विशेषताएँ सामने आती हैं।

1. प्रत्येक राज्य या राजनीति समाज में कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह आवश्यक रूप से सम्प्रभु होता है। राज्य या राजनीतिक समाज में सम्प्रभु का होना उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार पदार्थ के किसी पिण्ड में गुरूत्वाकर्षण केन्द्र का होना।

2. सम्प्रभु मानव या मानव समूह में, आवश्यक रूप से निश्चित होना चाहिए। सम्प्रभुता भावनात्मक प्रतीकों जैसे प्राकृतिक कानून, दैवी इच्छा, सामान्य इच्छा, जनमत आदि पर आधारित नहीं होती। यह तो एक ऐसी सत्ता या ऐसा मानव होना चाहिए, जिस के उपर कोई कानूनी प्रभुत्व न हो।

3. सम्प्रभु प्राप्त व्यक्ति या सत्ता की शक्तियों असीमित होती है। अन्य कोई उच्च सत्ता प्राप्त उससे अपनी आज्ञाओं का पालन नहीं करा सकता।

4. सम्प्रभु का आदेश कानून है। इस आदेश की अवहेलना करने वाला कठोर दण्ड का भागीदार होता है।

5. सम्प्रभुता की शक्ति को विभाजित नहीं किया जा सकता, यह अपने में समग्र है। इसलिए इसे व्यक्तियों या संघों में बॉटा नहीं जा सकता।

यद्यपि आस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त बहुत सुलझा हुआ था, किन्तु इसकीफिर भी आलोचना हुई :-

1. आस्टिन एक न्यायशास्त्री था। अतः उसने सम्प्रभुता की व्याख्या मात्र वैधानिक पक्ष को ही सामने रख कर की। उसने उसके व्यावहारिक पक्ष पर ध्यान नहीं दिया, जिस कारण आलोचकों ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचला की।

2. आस्टिन जिस प्रकार के सम्प्रभु की बात करता है कि सम्प्रभुता एक निश्चित श्रेष्ठ मानव या सत्ता में होनी चाहिए। व्यवहार में ऐसा निश्चित श्रेष्ठ मानव को खोज पाना असम्भव है। इस सम्बन्ध में हेनरी मेन ने कहा कि "इतिहास में इस प्रकार के निश्चित श्रेष्ठजन के उदाहरण नहीं मिलते।"

3. आस्टिन का यह सिद्धान्त कि सम्प्रभु कोई निश्चित शक्ति होती है, लोकप्रभुता की मान्यता के विपरीत है। लोकमत या जनता की इच्छा ही राज्य में सर्वोपरि है। अतः आस्टिन के सम्प्रभुता

सिद्धान्त के वैधानिक पक्षको स्वीकार करने का यह परिणाम होगा कि जनमत पर आधारित प्रभुसत्ता और राजनीतिक प्रभुसत्ता, दोनों को ही अस्वीकार करना होगा। जब कि वर्तमान समय की लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनतंत्र में ऐसा करना सम्भव नहीं है। वह निरंकुश प्रभुसत्ता का समर्थन करता है।

4. आस्टिन कानून को सम्प्रभु शक्ति प्राप्त सत्ताधारी का आदेश मानता है, जो उचित नहीं है। 'सम्प्रभु का आदेश ही कानून है।' यह सर्वथा अनुचित है। क्योंकि कानून का एक मात्र स्रोत सम्प्रभुता नहीं है।

5. आस्टिन का यह कथन कि सम्प्रभुता अविभाजित है, गलत है। क्योंकि व्यवहारिक रूप में सम्प्रभुता की अविभाज्यता के गुण को स्वीकार नहीं किया जा सकता। वर्तमान समय में राज्यों के कार्य बॅटे रहते है, तो इससे स्पष्ट होता है कि सम्प्रभुता अविभाजित नहीं रह सकती।

6. आस्टिन का यह दावा कि सम्प्रभु की आज्ञा का पालन स्वाभाविक है। एक सीमा तक तो उचित है, किन्तु ऐसा सदा के लिए नहीं हो सकता। आमतौर पर कानूनों का पालन डर या दबाव से होता है। इसलिए कभी-कभी अनुशासनहीन समाज को मजबूर किया जाता है कि वह कानूनों का पालन शांति व्यवस्था बना एरखने के लिए अनिवार्य रूप से करें।

7. अपने सम्प्रभुता सिद्धान्त के माध्यम से आस्टिन ने शक्ति को बहुत अधिक महत्व दिया है। उसका यह कहना उचित नहीं है कि सम्प्रभु शक्ति के कारण ही लोग उसके आदेशों का पालन करते है। लोग आदेशों का पालन इसलिए करते है कि इसमें उन्हीं का कल्याण होता है तथा कानून जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है।

8. आस्टिन के सम्प्रभुता में एक मुख्य बुराई यह है कि उसने सम्प्रभुता को हवलदार बना दिया है। जिसके सामने नागरिक सदा नतमस्तक नजर आते है। हरनशाँ का यह आरोप सही है कि 'आस्टिन के सिद्धान्त में हवलदारी की गन्ध आती है।'

अनेक आलोचनाओं के बावजूद भी आस्टिन के सिद्धान्त की महत्ता समाप्त नहीं हो जाती। आस्टिन के सिद्धान्त को सही तौर पर न समझ पाने के कारण उसकी इतनी आलोचना हुई। वैधानिक दृष्टिकोण से देखा जा एतो आस्टिन का सिद्धान्त उचित है।

7.9 राज्य की संप्रभुता सिद्धान्त के खिलाफ बहुलवादियों के तर्क

राज्य की सम्प्रभुता सिद्धान्त के विरुद्ध बहलवादियों के तर्क बहुलवादियों ने राज्य की सम्प्रभुता सिद्धान्त के विरूद्ध अनेक तर्क दिये है, जो निम्नलिखित है:-

1. वर्तमान समाज की स्थिति और रचना के आधार पर :-

वर्तमान समय में जिस तरह की सामाजिक स्थिति है। ऐसे में राज्य अकेला ही मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। मानव अपने आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और धार्मिक संगठन बनाता है। आज के समुदाय भी राज्य के समान ही कुछ मामलों में तो राज्य से भी अधिक शक्तिशाली व महत्वपूर्ण है। राज्य द्वारा जहाँ राजनीति के क्षेत्र में कार्य किया जाता है वहीं अन्य समुदायों द्वारा आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि विविध पक्षों के सम्बन्ध में कार्य किया जाता है। वर्तमान समय में राज्य की अपेक्षा ये समुदाय अधिक महत्वपूर्ण हो गये है। व्यवहार में राज्य की अपेक्षा अधिक शक्ति रखते हैं और कई बार राज्यों को इनके आगे झुकना पड़ता है।

2. ऐतिहासिक दृष्टिकोण के आधार पर :- बहुलवादी यह तर्क देते है किइतिहास इस बात का प्रबल साक्षी है कि पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य की सत्ता कभी नहीं रहीं। यूनानी व भारतीय सन्दर्भ में भी इस तरह का कोई प्रभुत्व सम्पन्न राज्य नहीं था। अरस्तू ने राज्य को अन्य संगठनों से तो सर्वोच्च बताया है, किन्तु उसे कानून से सर्वोच्च नहीं माना। तत्कालीन राज्य परम्परागत मान्यताओं व नियमों की भी अनदेखी नहीं कर सकता था। प्राचीन भारत में धर्म राजा की आज्ञा से अधिक महत्वपूर्ण और सर्वोच्च था। मध्यकाल में भी राज्यों में अनेक प्रकार के सामाजिक और धार्मिक संगठन थे। राष्ट्रीय राज्यों के विकास के साथ, सम्प्रभुता का उदय हुआ। सम्प्रभुता, राजाओं के दैवीय सिद्धान्त से उत्पन्न होने वाले निरंकुश शासन का ही परिणाम है। अतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि सम्प्रभुता राज्यों के लिए आवश्यक नहीं है। सम्प्रभुता की मान्यता को समाप्त करके वर्तमान समय के राज्यों को भी प्राचीन एवं मध्य कालीन राज्यों की भॉति सम्प्रभुता विहीन बना देना उचित है।

3. व्यक्ति के विकास के आधार पर :- बहुलवादी सम्प्रभुता को व्यक्ति केविकास में बाधक मानते है। क्योंकि सम्प्रभुता राज्य को सर्वोच्चता प्रदान करती है और व्यक्ति को साधन मात्र बना देती है। जो वास्तविक स्थिति के एकदम विपरीत है। बहुलवादियों के अनुसार राज्य व्यक्ति के विकास और

उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र है तथा व्यक्ति का यह विकास और हित पूर्ति बहुमुखी होती है। बहुलवादियों के अनुसार सम्प्रभुता की शक्ति व्यक्ति केविकास में बाधक है और सम्प्रभु राज्य की शक्ति ही व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास का अधिकारी नहीं हो सकता।

4. लोकतंत्र के आधार पर बहुलवादी मानते हैं कि सच्चे लोकतंत्र कीस्थापना बहलवादी व्यवस्था में ही सम्भव है तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य में लोकतंत्र की स्थापना नहीं हो सकती। वास्तविक लोकतंत्र व्यक्ति के विकास में सहायक होता है और व्यक्ति शासन के सभी कार्यों में सक्रीय रूप में भाग लेता है। ऐसा केवल बहुलवादी व्यवस्था में ही सम्भव है, जो विकेन्द्रीकरण और मानव जीवन के सभी पक्षों के उचित महत्व पर आधारित है।

5. कानून के आधार पर :- आस्टिन कानून को सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य काआदेश मानता है और राज्य को कानून का एकमात्र स्रोत मानता है। किन्तु बहुलवादियों ने कानून की महत्ता को स्वीकार करते हुए यह मत व्यक्त किया कि राज्य न तो कानून से सर्वोच्च है और न ही कानून का निर्माता। राज्य तो मात्र उसकी घोषणा करने वाला अन्वेशक है। इस सम्बन्ध में डच विचारक ह्यूगो क्रैब का कथन है कि “कानून का उद्गम समुदाय की सही या उचित की भावना (Sence of Right) है और कोई नियम व कानून इस कारण मान्य नहीं होते कि वह सम्प्रभु के आदेश है या राज्य ने उन्हें बनाया है।"

6. अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर भीसम्प्रभुता सिद्धान्त की आलोचना की जाती है। कुछ बहुलवादी विद्वान मानते है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपस्थिति के परिणाम स्वरूप राज्य की सम्प्रभुता नष्ट हो गई है। कुछ बहुलवादी विद्वान यह भी मानते है कि सम्प्रभुता का सिद्धान्त ही संघर्ष और युद्धों का जनक है तथा विश्व शान्ति की स्थापना के लिए इस सिद्धान्त का त्याग कर देना चाहिए। लॉस्की सम्प्रभुता की अवधारणा को विश्व शान्ति के लिए खतरा मानते हुए यह कहता है कि "असीमित और अनुत्तरदायी सम्प्रभुता का सिद्धान्त मानवीय हितों से मेल नहीं खाता। जिस प्रकार राजाओं के दैवीय अधिकार समाप्त हो गये है। उसी प्रकार राज्य की सम्प्रभुता भी समाप्त हो जायेगी। यदि सम्प्रभुता के विचार को पूर्ण रूप से हमेशा के लिए त्याग दिया जाय तो यह राजनीतिशास्त्र के प्रति बहुत बड़ी सेवा होगी।

अभ्यास प्रश्न

1. संप्रभुता का अर्थ क्या है?

a) न्याय का वितरण

b) सर्वोच्च और अंतिम सत्ता

c) संसदीय शासन

d) मानव अधिकार

2.बाह्य संप्रभुता का तात्पर्य है-

a) राज्य की सीमाओं में शक्ति

b) अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में स्वतंत्रता

c) नागरिकों के अधिकार

d) न्यायालय की स्वतंत्रता

3. निम्नलिखित में से कौन संप्रभुता के बहुलवादी दृष्टिकोण का पक्षधर था?

a) जॉन ऑस्टिन

b) मैकाइवर

c) हॉब्स

d) रूसो

4. वह संप्रभुता जो व्यावहारिक शासन और नियंत्रण से जुड़ी होती है, उसे क्या कहते हैं?

a) बाह्य संप्रभुता

b) विधिक संप्रभुता

c) राजनीतिक संप्रभुता

d) सैद्धांतिक संप्रभुता

5. ऑस्टिन का संप्रभुता सिद्धांत किस पर आधारित है?

a) सामाजिक अनुबंध पर

b) अधिकारों के वितरण पर

c) आदेश सिद्धांत पर

d) लोक कल्याण पर

7 .10 सारांश

संप्रभुता राज्य की वह सर्वोच्च और अंतिम सत्ता होती है, जो किसी बाहरी या आंतरिक शक्ति से नियंत्रित नहीं होती। यह संकल्पना राज्य की कानूनी और राजनीतिक वैधता का आधार है।

इस इकाई में सबसे पहले संप्रभुता की परिभाषाओं को समझा गया है, जिनमें विभिन्न विचारकों की दृष्टियाँ सामने आती हैं। फिर इसके प्रमुख लक्षणों जैसे सर्वोच्चता, अनविभाज्यता, स्थायित्व, तथा अंतिमता का विश्लेषण किया गया है।

संप्रभुता के स्वरूपों को भी विस्तृत रूप में समझाया गया है, जैसे:

- **आंतरिक संप्रभुता**, जो राज्य की सीमाओं के भीतर सर्वोच्चता को दर्शाती है
- **बाह्य संप्रभुता**, जो अन्य देशों के साथ स्वतंत्र संबंध स्थापित करने की क्षमता को बताती है
- **विधिक व राजनीतिक संप्रभुता**, जिनके बीच व्यावहारिक अंतर होता है

ऑस्टिन का संप्रभुता सिद्धांत 'आज्ञा सिद्धांत' पर आधारित है, जिसमें संप्रभु वह होता है जिसकी आज्ञा अंतिम होती है और जिसे स्वयं किसी की आज्ञा का पालन नहीं करना पड़ता।

हालांकि, बहुलवादी विचारकों जैसे लास्की, मैकाइवर आदि ने इस अवधारणा की आलोचना करते हुए यह तर्क दिया कि राज्य समाज का केवल एक संगठन है; समाज में कई ऐसी संस्थाएं होती हैं जो अपने-अपने क्षेत्र में प्रभावशाली होती हैं।

इकाई का निष्कर्ष यह है कि आधुनिक वैश्वीकृत दुनिया में संप्रभुता की अवधारणा अब पूर्णतः निरपेक्ष नहीं रह गई है; यह अब सापेक्ष और व्याख्यायोग्य हो गई है।

7.11 शब्दावली

संप्रभुता उस सर्वोच्च सत्ता को कहते हैं जो किसी भी बाहरी या अंदरूनी शक्ति के अधीन नहीं होती और जिसके आदेश अंतिम होते हैं।

विधिक संप्रभुतासे आशय उस सत्ता से है जो कानून बनाने और लागू करने की सर्वोच्च वैधानिक शक्ति रखती है। इसमें कोई शक्ति उससे ऊपर नहीं होती।

राजनीतिक संप्रभुताव्यावहारिक सत्ता को दर्शाती है-जो वास्तविक रूप में शासन चला रही होती है, भले ही विधिक रूप से वह सर्वोच्च न हो।

आंतरिक संप्रभुताका अर्थ है कि राज्य अपनी सीमाओं के भीतर स्वतंत्र है, और अपने नागरिकों पर सर्वोच्च अधिकार रखता है।

बाह्य संप्रभुताउस स्वतंत्रता को कहते हैं जिसके तहत कोई भी राज्य दूसरे देशों से अपने संबंध बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के तय कर सकता है।

बहुलवादएक वैचारिक दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार राज्य समाज की केवल एक संस्था है-इसके अलावा भी परिवार, धर्म, व्यापारिक संगठन जैसी कई संस्थाएं समाज में प्रभावशाली भूमिका निभाती हैं।

7.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. **b)** सर्वोच्च और अंतिम सत्ता**,** **2.** b) अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में स्वतंत्रता,

3.b) मैकाइवर, **4.**c) राजनीतिक संप्रभुता**,** **5.**c) आदेश सिद्धांत पर

7.13 संदर्भ ग्रंथ सूची सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. डा० पुष्पेश पांडे, डा०विजय प्रकाश पंत & डा० घनश्याम जोशी - राजनैतिक सिद्धान्त

2. ए सी कपूर - प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल साइन्स

3. एंड्रू हेवुड - पॉलिटिक्स

7.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. संप्रभुता की अवधारणा का विस्तारपूर्वक विश्लेषण कीजिए। साथ ही इसके प्रमुख लक्षणों का उल्लेख कीजिए।

2. संप्रभुता के विभिन्न स्वरूपों की विवेचना करते हुए स्पष्ट कीजिए कि आधुनिक राज्य में किस स्वरूप की अधिक प्रासंगिकता है।

3. ऑस्टिन के संप्रभुता सिद्धांत की समीक्षा कीजिए। क्या यह सिद्धांत आज के लोकतांत्रिक और वैश्वीकृत संदर्भ में उपयुक्त है?

4. राज्य की संप्रभुता की अवधारणा के विरोध में प्रस्तुत बहुलवादी दृष्टिकोण का विश्लेषण कीजिए। क्या बहुलवाद राज्य की संप्रभुता को कमजोर करता है?

इकाई 8 स्वतंत्रता

इकाई संरचना

8.1प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 स्वतंत्रता का अर्थ

8.4 स्वतंत्रता की वैचारिक आधारशिला: नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता

8.5 सकारात्मक एवं नकारात्मक स्वतंत्रता का दार्शनिक पक्ष

8.6शास्त्रीय उदारवादी दृष्टिकोण: हॉब्स, लॉक, मिल

8.7मार्क्सवादी दृष्टिकोण - मुक्ति के रूप में स्वतंत्रता

8.8टी.एच. ग्रीन और एल.टी. हॉबहाउस की स्वतंत्रता की अवधारणा

8.9नारीवादी स्वतंत्रता की अवधारणा: समानता से आगे संरचनात्मक न्याय की ओर

8.10 सारांश

8.11 शब्दावली

8.12अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8.14 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना:

स्वतंत्रता राजनीतिक दर्शन और लोकतांत्रिक शासन की सबसे बुनियादी अवधारणाओं में से एक है, जो आज भी गहन बहस और चिंतन का विषय बनी हुई है। मूल रूप से, स्वतंत्रता का आशय व्यक्ति की सोचने, कार्य करने और अपने विचारों को बिना अनुचित हस्तक्षेप के व्यक्त करने की क्षमता से है। हालांकि, स्वतंत्रता का अर्थ और उसका क्षेत्रकालिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक संदर्भों के अनुसार अलग-अलग रूपों में विकसित होता रहा है। जैसे-जैसे समाज आगे बढ़ते हैं और नई चुनौतियों का सामना करते हैं, स्वतंत्रता की धारणा भी बदलती है, जिससे इसकी प्रासंगिकता, व्यावहारिकता और सीमाओं को लेकर नई जिज्ञासाएं और बहसें उत्पन्न होती हैं।

स्वतंत्रता पर विमर्श की जड़ें प्राचीन राजनीतिक चिंतन में मिलती हैं, लेकिन आधुनिक युग में इसने व्यवस्थित रूप से होब्स, लॉक और मिल जैसे विचारकों के लेखन में आकार ग्रहण किया, जिन्होंने उदार लोकतांत्रिक सिद्धांत की नींव रखी। इन शास्त्रीय दृष्टिकोणों को समय के साथ मार्क्सवादी, नारीवादी, उत्तर-आधुनिक और स्वदेशी दृष्टिकोणों द्वारा चुनौती दी गई और समृद्ध किया गया, जिससे स्वतंत्रता की परिभाषा केवल राजनीतिक या कानूनी अधिकार न रहकर एक व्यापक सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति बन गई।

20वीं और 21वीं शताब्दी में अधिनायकवाद, डिजिटल निगरानी, आर्थिक वैश्वीकरण, पहचान-आधारित बहिष्करण और पर्यावरणीय विनाश जैसी नई असमानताओं और वर्चस्व के रूपों ने स्वतंत्रता की धारणा के सामने नई चुनौतियाँ प्रस्तुत की हैं। समकालीन विचारक जैसे अमर्त्य सेन ने अपनी 'क्षमता दृष्टिकोण' (Capability Approach) के माध्यम से यह तर्क दिया कि स्वतंत्रता को केवल औपचारिक अधिकारों के रूप में नहीं बल्कि व्यक्तियों को वास्तव में उपलब्ध अवसरों और ठोस विकल्पों के रूप में देखा जाना चाहिए। इसी प्रकार, नारीवादी और उत्तर-संरचनावादी आलोचनाएं यह दर्शाती हैं कि किस प्रकार सत्तात्मक ढांचे, भले ही वे उदारवादी हों, व्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित कर सकते हैं।

यह इकाई स्वतंत्रता की दार्शनिक नींव, वैचारिक व्याख्याओं और संरचनात्मक चुनौतियों की गहन समझ प्रदान करने का प्रयास करती है। इसमें गांधी, अंबेडकर और टैगोर जैसे भारतीय चिंतकों के योगदान को भी शामिल किया गया है, जिन्होंने भारत की सामाजिक-राजनीतिक वास्तविकताओं में निहित विशेष दृष्टिकोण प्रस्तुत किए। वैश्विक और स्वदेशी दृष्टिकोणों के माध्यम से इस इकाई का

उद्देश्य शिक्षार्थियों को इस अवधारणा के आलोचनात्मक विश्लेषण के लिए सक्षम बनाना है ताकि वे एक न्यायपूर्ण और समानतामूलक समाज के निर्माण में इसकी भूमिका को समझ सकें।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् शिक्षार्थी निम्नलिखित योग्यताएँ प्राप्त कर सकेंगे:

1. स्वतंत्रता की मौलिक अवधारणाओं और दार्शनिक व्याख्याओं को समझ सकेंगे।
2. नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता के बीच के अंतर का आलोचनात्मक विश्लेषण कर सकेंगे।
3. स्वतंत्रता की धारणा में पश्चिमी और भारतीय राजनीतिक विचारकों के योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।
4. स्वतंत्रता के समक्ष विद्यमान संरचनात्मक चुनौतियों जैसे (एलियनेशन), दमन और सामाजिक-आर्थिक असमानताओं की पहचान कर सकेंगे।
5. समकालीन संदर्भों में स्वतंत्रता के पहलुओं-विशेषतः आस्था, अभिव्यक्ति और असहमति की स्वतंत्रता-का मूल्यांकन कर सकेंगे।
6. राजनीतिक सिद्धांत के वैश्विक और स्वदेशी दोनों परिप्रेक्ष्य में स्वतंत्रता की अवधारणा को स्थापित कर सकेंगे।

8.3स्वतंत्रता का अर्थ

स्वतंत्रता को व्यापक रूप में उस स्थिति के रूप में समझा जा सकता है जिसमें व्यक्ति बिना किसी अनुचित प्रतिबंध के अपने निर्णय ले सकता है और उन पर कार्य कर सकता है। यह व्यक्तिगत स्वायत्तता की वह स्थिति है जहाँ किसी के कार्यों और विकल्पों पर बाहरी शक्तियाँ मनमाने ढंग से नियंत्रण या बाधा नहीं डालतीं। हालांकि, स्वतंत्रता का अर्थ सभी प्रकार के प्रतिबंधों की पूर्ण अनुपस्थिति नहीं है। इसके बजाय, यह उन अवांछित और अनुचित प्रतिबंधों की अनुपस्थिति को दर्शाता है जो विशेष रूप से राजनीतिक या सामाजिक प्राधिकरणों द्वारा लगाए जाते हैं और जो व्यक्ति की स्वायत्तता के प्रयोग को बाधित करते हैं।

व्यवहारिक रूप में, किसी व्यक्ति को तभी स्वतंत्र माना जाता है जब उसके कार्य बाध्यकारी व्यवस्थाओं जैसे कि कारावास, बंधुआ मजदूरी या भेदभावपूर्ण कानूनों द्वारा रोके नहीं जाते हों। फिर भी, यह समझा जाता है कि कोई भी समाज बिना किसी प्रकार की कानूनी और नैतिक संरचना के कार्य नहीं कर सकता। आधुनिक लोकतंत्र इस सिद्धांत पर आधारित हैं कि व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं को सामाजिक व्यवस्था के साथ संतुलित किया जाना चाहिए, और कुछ हद तक स्वतंत्रता पर लगाई गई सीमाएँ आवश्यक होती हैं ताकि समाज के सभी सदस्यों के लिए समान स्वतंत्रता सुनिश्चित की जा सके। उदाहरण के लिए, घृणा भाषण पर रोक, हिंसा-विरोधी कानून, और सार्वजनिक स्वास्थ्य नियमों को ऐसे स्वीकार्य प्रतिबंध माना जाता है जो दूसरों की स्वतंत्रता और गरिमा की रक्षा करते हैं।

इस प्रकार की स्वतंत्रता को, जिसमें बाहरी बाधाओं की अनुपस्थिति को केंद्र में रखा जाता है, "नकारात्मक स्वतंत्रता" कहा जाता है। इसके दो प्रमुख रूप सामने आते हैं। पहला दृष्टिकोण यह मानता है कि कानून और सरकारी प्राधिकरण स्वतंत्रता में बाधा उत्पन्न करते हैं। थॉमस हॉब्स जैसे विचारकों का मानना था कि स्वतंत्रता केवल तब तक होती है जब तक कानून मौन रहते हैं-अर्थात जब व्यक्ति राज्य के हस्तक्षेप के बिना कार्य कर सकता है। हालांकि, जॉन लॉक जैसे दार्शनिकों ने एक संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उनके अनुसार, स्वतंत्रता का अर्थ कानून की अनुपस्थिति नहीं बल्कि ऐसे न्यायोचित कानूनों की उपस्थिति है जो किसी की स्वतंत्रता को दूसरों के अतिक्रमण से सुरक्षा प्रदान करते हैं।

नकारात्मक स्वतंत्रता की दूसरी व्याख्या व्यक्ति की "चयन की स्वतंत्रता" पर बल देती है। इस दृष्टिकोण को मिल्टन फ्रीडमैन ने अपनी कृति*Capitalism and Freedom* (1962) में प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने स्वतंत्रता को आर्थिक विकल्पों के संदर्भ में देखा: उपभोक्ता की यह स्वतंत्रता कि वह क्या खरीदे, श्रमिक की यह स्वतंत्रता कि वह कौन-सा पेशा चुने, और उत्पादक की यह स्वतंत्रता कि वह क्या और किसके लिए उत्पादन करे। इस रूप में स्वतंत्रता बाज़ार की आज़ादी और स्वैच्छिक निर्णय लेने से गहराई से जुड़ी हुई है। इसमें ज़ोर इस बात पर है कि व्यक्ति बिना किसी बाहरी दबाव या बाध्यता के विभिन्न विकल्पों में से स्वतः निर्णय लेने में सक्षम हो।

इस प्रकार की परिष्कृत समझ हमें यह विश्लेषण करने की अनुमति देती है कि स्वतंत्रता केवल बाधाओं को हटाने की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि ऐसे न्यायोचित सामाजिक-आर्थिक ढांचे का निर्माण भी है जिसमें सभी व्यक्ति समान रूप से अपने अधिकारों और विकल्पों का सार्थक प्रयोग कर सकें।

8.4 स्वतंत्रता की वैचारिक आधारशिला: नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता

सकारात्मक और नकारात्मक स्वतंत्रताकी अवधारणाएं राजनीतिक दर्शन और उदारवादी विचारधारा की बहसों का केंद्रीय हिस्सा हैं। ये दोनों दृष्टिकोण इस बात पर भिन्न मत प्रस्तुत करते हैं कि स्वतंत्रता क्या है?इसे कैसे प्राप्त किया जाता है?और इसमें राज्य व समाज की भूमिका क्या होनी चाहिए?

8.4.1 सकारात्मक स्वतंत्रता (Positive Liberty)

सकारात्मक स्वतंत्रता, जिसे अक्सर "कुछ करने की स्वतंत्रता" कहा जाता है, उस क्षमता को संदर्भित करती है जिससे व्यक्ति अपने जीवन के लक्ष्यों को प्राप्त करने और अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से विकसित करने में सक्षम हो। यह अवधारणा इस बात पर बल देती है कि केवल बाधाओं की अनुपस्थिति ही स्वतंत्रता नहीं है, बल्कि इसके लिए आवश्यक संसाधनों, अवसरों और अनुकूल परिस्थितियों की उपलब्धता भी जरूरी है।

सकारात्मक स्वतंत्रता की मुख्य विशेषताएं

1. **सशक्तिकरण**
   यह अवधारणा इस बात को मानती है कि व्यक्ति को अर्थपूर्ण विकल्प चुनने के लिए शिक्षा, संसाधन और अवसर प्रदान करना जरूरी है। यदि किसी को शिक्षा प्राप्त करने की स्वतंत्रता तो है लेकिन संसाधन नहीं हैं, तो वह वास्तविक स्वतंत्रता का उपयोग नहीं कर सकता।
2. **सामूहिक उत्तरदायित्व**
   सकारात्मक स्वतंत्रता राज्य और समाज को उत्तरदायी मानती है कि वे ऐसी परिस्थितियाँ बनाएं जो व्यक्तियों के कल्याण को बढ़ावा दें, जैसे-लोक शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाएं और सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम।
3. **आत्मबोध और आत्मविकास**
   यह स्वतंत्रता व्यक्ति को अपनी असली पहचान और क्षमताओं को विकसित करने का अवसर देने पर केंद्रित है-जैसे कला, खेल, सांस्कृतिक गतिविधियों और सामाजिक सेवा में भागीदारी।

सकारात्मक स्वतंत्रता के उदाहरण

- **शिक्षा:**सार्वजनिक स्कूल, छात्रवृत्तियाँ और व्यावसायिक प्रशिक्षण कार्यक्रम व्यक्ति को जीवन में आगे बढ़ने के अवसर प्रदान करते हैं।
- **स्वास्थ्य सेवाएं:**सार्वभौमिक स्वास्थ्य सेवाएं व्यक्ति को स्वस्थ जीवन जीने की क्षमता देती हैं जिससे वे अपने दीर्घकालिक लक्ष्यों की ओर बढ़ सकें।
- **सामाजिक सुरक्षा जाल:**बेरोजगारी भत्ता, खाद्य सहायता, और आवास योजनाएं व्यक्तियों को फिर से आत्मनिर्भर बनाने और समाज में सक्रिय भूमिका निभाने में सहायक होती हैं।

8.4.2 नकारात्मक स्वतंत्रता (Negative Liberty)

नकारात्मक स्वतंत्रता, जिसे "बाधाओं से मुक्ति" कहा जाता है, बाहरी हस्तक्षेप की अनुपस्थिति पर बल देती है। यह स्वतंत्रता इस विचार में निहित है कि व्यक्ति तभी वास्तव में स्वतंत्र होता है जब वह किसी अन्य (विशेष रूप से राज्य) के नियंत्रण या बाधा से मुक्त हो।

नकारात्मक स्वतंत्रता की मुख्य विशेषताएं

1. **अहस्तक्षेप (Non-interference)**
   नकारात्मक स्वतंत्रता राज्य या अन्य संस्थाओं की न्यूनतम भूमिका का समर्थन करती है। इसका उद्देश्य है कि व्यक्ति को निजी निर्णयों में हस्तक्षेप से बचाया जाए।
2. **व्यक्तिगत स्वायत्तता**
   यह स्वतंत्रता व्यक्तिगत निर्णय लेने की क्षमता को सर्वोपरि मानती है-जैसे धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन से संबंधित विकल्प।
3. **अधिकार आधारित दृष्टिकोण**
   यह दृष्टिकोण व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा को आवश्यक मानता है, जैसे कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, निजता का अधिकार और राज्य की मनमानी से सुरक्षा।

नकारात्मक स्वतंत्रता के उदाहरण

- अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता: किसी भी विचार या मत को बिना सेंसरशिप के व्यक्त करने का अधिकार।
- धार्मिक स्वतंत्रता: व्यक्ति को अपनी आस्था का पालन करने की स्वतंत्रता।
- निजता का अधिकार: राज्य या अन्य संस्थाओं की निगरानी से मुक्ति, जिससे व्यक्तिगत गरिमा की रक्षा होती है।

पहलू	सकारात्मक स्वतंत्रता	नकारात्मक स्वतंत्रता
मूल परिभाषा	अपने जीवन की संभावनाओं को साकार करने की स्वतंत्रता	बाहरी हस्तक्षेप से मुक्ति की स्वतंत्रता
प्राथमिक लक्ष्य	सशक्तिकरण और आत्म-विकास	व्यक्तिगत स्वायत्तता और हस्तक्षेप से मुक्ति
राज्य की भूमिका	अवसर और सुविधाएं प्रदान करने में सक्रिय भूमिका	न्यूनतम हस्तक्षेप, केवल सुरक्षा की भूमिका
समाज की दृष्टि	व्यक्ति के कल्याण हेतु सामूहिक उत्तरदायित्व	स्वतंत्र व्यक्तित्व पर बल
प्रमुख चिंतक	आइज़ैया बर्लिन (दोनों पर विचार), रूसो	जॉन स्टुअर्ट मिल, थॉमस हॉब्स
उदाहरण	शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, सामाजिक योजनाएं	अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता, निजता

8.5 सकारत्मक एवं नकारात्मक स्वतंत्रता का दार्शनिक पक्ष

सकारात्मक और नकारात्मक स्वतंत्रता को समझने के लिए जरूरी है कि हम उनके दार्शनिक मूल स्रोतों और चिंतकों का भी विश्लेषण करें। इन अवधारणाओं ने पश्चिमी राजनीतिक दर्शन में स्वतंत्रता की बहस को नई दिशा दी है।

8.5.1 सकारात्मक स्वतंत्रता का दार्शनिक पक्ष

जीन जैक रूसो (Jean-Jacques Rousseau), रूसो का मानना था कि सच्ची स्वतंत्रता वह है जब व्यक्ति "आत्म-नियंत्रण" (self-rule) के जरिए सामूहिक सामान्य इच्छा (general will) के अधीन होकर अपने जीवन का संचालन करता है। उनके अनुसार:**"Man is born free, and everywhere he is in chains."**रूसो के लिए स्वतंत्रता केवल व्यक्तिगत पसंद नहीं थी, बल्कि नैतिकता और सामाजिक अनुशासन का परिणाम थी।

टॉमस हिल ग्रीन (T.H. Green) , ग्रीन ने सकारात्मक स्वतंत्रता को नैतिक विकास से जोड़ा। उन्होंने कहा कि:**"Freedom is not the mere absence of restraint, but the presence of enabling conditions for self-realization."**उनके अनुसार, समाज को ऐसे संसाधन और स्थितियां प्रदान करनी चाहिए जिससे व्यक्ति अपने पूर्ण विकास की ओर अग्रसर हो सके।

चार्ल्स टेलर और अमर्त्य सेन, आधुनिक संदर्भ में, चार्ल्स टेलर और अमर्त्य सेन ने स्वतंत्रता को **'क्षमता' (capability)**से जोड़ा-यानि केवल विकल्प होना पर्याप्त नहीं, बल्कि उन्हें अपनाने कीवास्तविक क्षमताभी होनी चाहिए।

8.5.2नकारात्मक स्वतंत्रता का दार्शनिक पक्ष

थॉमस हॉब्स (Thomas Hobbes), हॉब्स ने स्वतंत्रता को बाधा की अनुपस्थिति के रूप में देखा। उनके अनुसार व्यक्ति तब स्वतंत्र होता है जब उसके मार्ग में कोई बाधा न हो। उन्होंने राज्य की भूमिका को सुरक्षा तक सीमित रखने का पक्ष लिया।

जॉन स्टुअर्ट मिल (J.S. Mill), मिल की पुस्तक**"On Liberty"**में उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए एक शक्तिशाली तर्क प्रस्तुत किया। वे कहते हैं:**"The only freedom which deserves the name is that of pursuing our own good in our own way."**उनके अनुसार, जब तक किसी का कार्य दूसरों को नुकसान नहीं पहुंचाता, राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

आइज़ैया बर्लिन (Isaiah Berlin), बर्लिन ने 1958 के अपने प्रसिद्ध व्याख्यान "Two Concepts of Liberty" में इन दोनों अवधारणाओं को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया। उन्होंने बताया कि:सकारात्मक स्वतंत्रता की आड़ में राज्य अक्सरअधिनायकवाद (authoritarianism) की ओर झुक सकता है, यदि सामूहिक भलाई के नाम पर व्यक्ति की स्वतंत्रता को कुचला जाए।बर्लिन ने नकारात्मक स्वतंत्रता को "**liberty from coercion**"कहा और इसे आधुनिक उदारवाद की बुनियादी शर्त बताया।

चिंतक	स्वतंत्रता की अवधारणा	स्वरूप	प्रमुख विचार
रूसो	सामान्य इच्छा के अधीन आत्म-नियंत्रण	सकारात्मक स्वतंत्रता	नैतिक व सामाजिक
टी.एच.ग्रीन	आत्म-विकास के साधन उपलब्ध कराना	सकारात्मक	नैतिक सुधार और सामाजिक भूमिका
अमर्त्य सेन	क्षमता आधारित स्वतंत्रता	सकारात्मक	व्यावहारिक विकल्पों की उपलब्धता
थॉमस हॉब्स	बाधाओं की अनुपस्थिति	नकारात्मक	न्यूनतम राज्य, सुरक्षा
जे.एस.मिल	स्वायत्तता और विकल्प की आज़ादी	नकारात्मक	व्यक्तिगत पसंद सर्वोपरि
आई.बर्लिन	दो प्रकार की स्वतंत्रता का विश्लेषण	दोनों	चेतावनी: सकारात्मक स्वतंत्रता का दुरुपयोग

8.6 शास्त्रीय उदारवादी दृष्टिकोण: हॉब्स, लॉक, मिल

8.6.1 थॉमस हॉब्स और स्वतंत्रता की अवधारणा

थॉमस हॉब्स (1588-1679), आधुनिक राजनीतिक चिंतन के एक प्रमुख विचारक माने जाते हैं। उन्हें आमतौर पर निरंकुश सरकार (Absolutist Government) के पक्षधर के रूप में जाना जाता है। हालांकि, उनके प्रमुख ग्रंथ*Leviathan* (1651) का सूक्ष्म अध्ययन यह दर्शाता है कि उनकी स्वतंत्रता की धारणा कुछ हद तक**प्रारंभिक उदारवादी (proto-liberal)**विचारों से मिलती है। यह खंड हॉब्स की स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा, उनके राजनीतिक सिद्धांत में उसकी भूमिका, और आधुनिक उदारवाद से उसकी तुलना को समझने का प्रयास करता है।

हॉब्स की स्वतंत्रता की परिभाषा

हॉब्स**नकारात्मक स्वतंत्रता (Negative Liberty)**की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं और इसे परिभाषित करते हैं:"The absence of external impediments of motion." (*Leviathan*, 1651)

इसका अर्थ है कि जब तक किसी बाहरी शक्ति द्वारा बाधा नहीं उत्पन्न की जाती, व्यक्ति स्वतंत्र माना जाता है। हॉब्स के अनुसार, स्वतंत्रता का अर्थ है**हस्तक्षेप से मुक्ति**न कि किसी विशेष लक्ष्य को प्राप्त करने की शक्ति।

सम्प्रभुता और स्वतंत्रता के बीच संबंध

हॉब्स भले ही**पूर्ण और निरंकुश शासक**की वकालत करते हों, वे यह नहीं मानते कि इससे स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। उनके अनुसार, जब तक कोई कार्य कानून द्वारा विशेष रूप से वर्जित नहीं है, तब तक व्यक्ति को उसे करने की**स्वतंत्रता प्राप्त है**। इस सिद्धांत को वे कहते हैं:

"The silence of the law" (*Leviathan*, Chapter 21)

अतः हॉब्स के सिद्धांत में, स्वतंत्रता सम्प्रभु सत्ता के साथ उन क्षेत्रों में सह-अस्तित्व में रहती है जहाँ स्पष्ट रूप से कोई नियम नहीं बनाए गए हैं। नागरिकों को व्यक्तिगत मामलों में स्वतंत्रता प्राप्त रहती है, जब तक कि वे सार्वजनिक व्यवस्था या शांति के लिए खतरा न बनें।

हॉब्स द्वारा मान्यता प्राप्त कुछ विशेष स्वतंत्रताएँ

हॉब्स कुछ सीमित लेकिन महत्वपूर्ण स्वतंत्रताओं को मान्यता देते हैं, जैसे:

- **स्वयं के विरुद्ध साक्ष्य न देने की स्वतंत्रता**
- **स्वयं को हानि पहुँचाने की बाध्यता से मुक्ति**
- यदि सम्प्रभु अपने दायित्व निभाने में असफल होता है, तो**नागरिक उसकी आज्ञा मानने के बाध्य नहीं होते**

यह दिखाता है कि हॉब्स अंधभक्ति या पूर्ण आज्ञाकारिता की नहीं, बल्कि एक**तार्किक, अनुबंध-आधारित आज्ञाकारिता**की बात करते हैं।

थॉमस हॉब्स स्वतंत्रता की एक ऐसी धारणा प्रस्तुत करते हैं, जो पूर्ण शासन के अंतर्गत भी कुछ सीमित स्वतंत्रताओं को बनाए रखती है। उनके अनुसार, सच्ची स्वतंत्रता तभी संभव है जब समाज मेंशांति और व्यवस्था हो। इस दृष्टिकोण से हॉब्स को एक ऐसे विचारक के रूप में देखा जा सकता है जिन्होंनेआधुनिक राजनीतिक विज्ञानऔरक्लासिकल उदारवादके बीज बोए। उनकी अवधारणा स्वतंत्रता कोनिरंकुशता नहीं, बल्कि अनुशासन और सुरक्षा के ढाँचे में विकसित करती है।

8.6.2. जॉन लॉकऔर स्वतंत्रता की अवधारणा:

जॉन लॉक (1632-1704)को आधुनिक राजनीतिक चिंतन में स्वतंत्रता के प्रमुख विचारक के रूप में जाना जाता है। उन्होंने स्वतंत्रता को केवल एक नैतिक आदर्श के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे राजनीतिक व्यवस्था की नींव बनाया। उनके अनुसार, मनुष्य जन्म से ही कुछप्राकृतिक अधिकारोंसे युक्त होता है, जिनमें जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति प्रमुख हैं।

“Locke was the first to build a system around liberty.”
- *Maurice Cranston, Locke and Liberty*

स्वतंत्रता और प्राकृतिक अधिकार

लॉक के अनुसार, मनुष्य जन्मजात रूप से कुछ अधिकारों के साथ आता है, जैसे:

- **जीवन का अधिकार (Right to life)**
- **स्वतंत्रता का अधिकार (Right to liberty)**
- **संपत्ति का अधिकार (Right to property)**

इन अधिकारों की उत्पत्ति**प्राकृतिक विधि (Natural Law)**से होती है, जिसे वे ईश्वर की इच्छाओं की अभिव्यक्ति मानते हैं। ये अधिकार**"inalienable"**हैं - अर्थात् उन्हें छीना नहीं जा सकता और न ही त्यागा जा सकता है।

सामाजिक अनुबंध और स्वतंत्रता की सुरक्षा

लॉक के अनुसार, जब व्यक्ति राज्य की स्थापना करता है तो वह अपने अधिकारों को शासक कोसंपूर्ण रूप से नहीं सौंपता, बल्कि केवल उतना अधिकार देता है जिससे समाज में शांति और न्याय बना रहे। यदि शासक लोगों के इन प्राकृतिक अधिकारों का उल्लंघन करता है, तो लोगों कोविद्रोह का अधिकारप्राप्त होता है।

"Locke's 'right to revolution'... derived not only from the social contract but also from the supremacy of God's law to man's."

स्वतंत्रता की सीमाएँ: यथार्थवादी दृष्टिकोण

लॉक पूर्ण स्वतंत्रता (absolute liberty) के पक्ष में नहीं थे। उनका मानना था कि वास्तविक स्वतंत्रता वही है जो**कानूनों की सीमाओं में रहकर दूसरों की स्वतंत्रता को क्षति पहुँचाए बिना प्राप्त हो।**

"The limits are set by the need to protect the life, property, and freedom of each individual from others, and from the society's common enemies."

इस प्रकार, स्वतंत्रता का उद्देश्यस्वेच्छाचार नहींहै, बल्कि एक ऐसा संतुलन है जिसमें व्यक्ति अपने अधिकारों का प्रयोग कर सके बिना समाज में अराजकता फैलाए।

स्वतंत्रता और संपत्ति का संबंध

लॉक के लिए स्वतंत्रता और संपत्ति आपस में गहराई से जुड़ी हुई थीं। उनका मानना था कि**व्यक्तिगत स्वतंत्रता तभी संभव है जब व्यक्ति को निजी संपत्ति का अधिकार हो।**उन्होंने कहा कि मनुष्य जब श्रम करता है और प्रकृति में बदलाव करता है, तो वह उस पर अधिकार अर्जित करता है।

"Personal freedom requires the private ownership of property."

धार्मिक सहिष्णुता और अंतरात्मा की स्वतंत्रता

लॉक ने**धार्मिक स्वतंत्रता और सहिष्णुता**के पक्ष में भी जोरदार तर्क दिए। उन्होंने माना कि किसी को भी उसकी आस्था के कारण दंडित नहीं किया जाना चाहिए। उन्होंने धार्मिक अल्पसंख्यकों और असहमति रखने वाले समूहों के अधिकारों की रक्षा की बात की।

"Locke argued for the toleration of dissidents and minorities."

इस तरह इसे आसान भाषा में कुछ इस तरह समझ सकते हैं कि लॉक की स्वतंत्रता की अवधारणा उनके समय में क्रांतिकारी थी और आज भी लोकतांत्रिक समाजों के लिए अत्यंत प्रासंगिक है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि:

- **स्वतंत्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है**, न कि राज्य द्वारा दिया गया विशेषाधिकार।
- सरकार का उद्देश्य इन अधिकारों की**रक्षा करना है, न कि उनका हनन करना।**
- **स्वतंत्रता और कानून**एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं।

"Locke set men on the road to the greatest possible liberty by the method he used to set them on the road to the greatest knowledge - teaching the impossibility of the absolute."

8.6.3. जे.एस.मिल और स्वतंत्रता की अवधारणा

19वीं शताब्दी के महान राजनीतिक विचारक **जॉन स्टुअर्ट मिल** (1806-1873) ने स्वतंत्रता को केवल राजनीतिक अधिकारों तक सीमित नहीं रखा, बल्कि इसे **विचार, अभिव्यक्ति, व्यक्तित्व**

और कार्य की स्वतंत्रतासे जोड़ते हुए एक**व्यापक सामाजिक और नैतिक दृष्टिकोण** में परिवर्तित किया। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ*On Liberty* (1859) आज भी**स्वतंत्रता के पक्ष में सबसे सशक्त तर्क**प्रस्तुत करता है।

"The worth of a state in the long run is the worth of the individuals composing it." - *J.S. Mill*

स्वतंत्रता बनाम सत्ता का स्वभाव:

मिल अपने ग्रंथ *On Liberty* की शुरुआत इस विचार से करते हैं कि इतिहास में स्वतंत्रता का मतलब हमेशा **राजनीतिक सत्ता की निरंकुशता से सुरक्षा**रहा है।

"The protection against the tyranny of political rulers."

जहाँ पहले स्वतंत्रता का उद्देश्य राजाओं और अभिजात वर्ग की शक्ति सीमित करना था, वहीं लोकतंत्र के उदय के साथ**"बहुसंख्यक की तानाशाही"** (Tyranny of the Majority) एक नया खतरा बनकर उभरी।

"Social tyranny... enslaves the soul itself."

मिल के अनुसार यह सामाजिक तानाशाही, राजनीतिक तानाशाही से अधिक खतरनाक है क्योंकि यह व्यक्ति की **सोच, अभिव्यक्ति और आत्मा**तक को प्रभावित करती है।

विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता: 'Harm Principle'

मिल की स्वतंत्रता की अवधारणा का केंद्रीय सिद्धांत है:
Harm Principle - अर्थात्, व्यक्ति को तब तक पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है जब तक कि उसका कार्य दूसरों को वास्तविक हानि नहीं पहुँचाता।

"The only freedom which deserves the name is that of pursuing our own good in our own way."

मिल अपने ग्रंथ में विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर तीन प्रमुख तर्क देते हैं:

(i) यदि suppressed विचार**सत्य**है:तो उसे दबाना पूरी मानवता के लिए हानिकारक है।

(ii) यदि वहआंशिक रूप से सत्यहै:तो बहस के माध्यम से हम सत्य और असत्य के बीच अंतर कर सकते हैं।

(iii) यदि वहपूरी तरह असत्यहै:तो भी वह हमारे मौजूदा विश्वासों को चुनौती देकर उन्हें "living truth"(जीवंत सत्य)बना देता है।

"All silencing of discussion is an assumption of infallibility." **(किसी भी चर्चा को प्रतिबंधित कर देना, यह मान लेने के समान है कि विचार या व्यक्ति त्रुटिरहित है।)**
"Even if all mankind minus one were of one opinion… that one person must not be silenced**." (यदि समस्त मानवजाति एक मत में हो और केवल एक व्यक्ति विपरीत मत रखता हो, तब भी उस एक व्यक्ति को चुप कराना उचित नहीं होगा।)**

समाज और राज्य की सीमाएँ (Limits to Authority)

मिल स्पष्ट करते हैं कि समाज और राज्य को केवल तभी व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने का अधिकार है, जब व्यक्ति का कार्य दूसरों के हितों को प्रत्यक्ष हानि पहुँचा रहा हो। अन्यथा, व्यक्ति को अपने आत्म-संबंधी कार्यों में पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए।

"There should be perfect freedom" in self-regarding acts.

मिल**पैतृक हस्तक्षेप (Paternalism)**के विरुद्ध हैं - यानी राज्य को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह व्यक्ति के भले के लिए उसे किसी कार्य से रोके।

राज्य की भूमिका और 'Laissez-faire' नीति

मिल आर्थिक मामलों में**लासे-फेयर (Laissez-faire)** - अर्थात् न्यूनतम सरकारी हस्तक्षेप - के पक्षधर थे। उन्होंने राज्य की शक्ति को सीमित रखने की चेतावनी दी:"The great evil of adding unnecessarily to its power."

हालाँकि वे व्यापार में कुछ नियमन को उचित मानते थे, लेकिन उनका मानना था कि**राज्य का अत्यधिक नियंत्रण नवाचार और प्रगति को बाधित करता है।**

8.7 मार्क्सवादी दृष्टिकोण - मुक्ति के रूप में स्वतंत्रता

8.7.1. वर्ग संघर्ष और भौतिक दशाओं से जुड़ी स्वतंत्रता

मार्क्सवादी चिंतन में स्वतंत्रता को केवल**कानूनी या राजनीतिक अधिकार**के रूप में नहीं, बल्कि**आर्थिक और सामाजिक मुक्ति**के रूप में समझा जाता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार, उदारवादी (liberal) दृष्टिकोण में जो स्वतंत्रता की बात की जाती है, वह **पूंजीवादी व्यवस्था की एक भ्रमपूर्ण अवधारणा**है जो शोषण को छिपाने का कार्य करती है।

"Man is free only when he is truly human - when he creates in solidarity with others, not in isolation." - *Karl Marx* पूंजीवाद के अधीन स्वतंत्रता: एक भ्रांति

मार्क्स के अनुसार, पूंजीवाद में दिखाई देने वाली स्वतंत्रता **वास्तव में एक भ्रम (illusion)**है। वह केवल **कानूनी समानता और निजी संपत्ति की रक्षा**की स्वतंत्रता है, जो वास्तविक शोषण और आर्थिक निर्भरता को छिपाती है।

- पूंजीवादी समाज में स्वतंत्रता**केवल अमीर वर्ग (bourgeoisie)**के लिए वास्तविक होती है।
- आम मेहनतकश वर्ग**मज़दूरी की मजबूरी**, **उत्पादन के साधनों से वंचित होना**, और**निर्णय लेने की शक्ति से बाहर होना** - इन सभी कारणों से वास्तविक स्वतंत्रता से वंचित होता है।

- ऐसे समाज में "स्वतंत्रता" का मतलब केवल**उत्पादों की उपभोग क्षमता**है, न कि आत्मविकास या सृजनशीलता।

वास्तविक स्वतंत्रता: सामूहिक स्वामित्व और वर्गहीन समाज में

मार्क्स के अनुसार, **वास्तविक स्वतंत्रता**तभी संभव है जब:

- **निजी संपत्ति समाप्त की जाए**
- **वर्ग विभाजन समाप्त हो**
- **सामूहिक स्वामित्व (Collective Ownership)**को लागू किया जाए

कार्ल मार्क्स की रचनाEconomic and Philosophic Manuscripts (1844) में प्रमुख अवधारणा:

- **विग्रहण (Alienation)**: पूंजीवाद के अंतर्गत श्रमिक अपने श्रम, उसके उत्पादों, और अन्य मनुष्यों से**अलगाव**महसूस करता है।
- वह स्वयं को**अपने श्रम का गुलाम**पाता है, जो उसकी सृजनात्मकता और मानवीयता को कुंद करता है।

"The worker becomes all the poorer the more wealth he produces." - *Marx*

सिर्फ एक**वर्गहीन, साम्यवादी समाज**में व्यक्ति वास्तविक रूप से मुक्त हो सकता है, जहाँ श्रमिक**अपने श्रम पर नियंत्रण**रख सके और**सामूहिक सहयोग**के माध्यम से सृजन कर सके।

8.7.2. हरबर्ट मार्क्यूज़: एक-आयामी समाज में स्वतंत्रता का संकुचन

हरबर्ट मार्क्यूज़ (Herbert Marcuse), फ्रैंकफर्ट स्कूल के एक प्रमुख चिंतक थे। अपनी पुस्तक*One-Dimensional Man*में उन्होंने तर्क दिया कि आधुनिक औद्योगिक समाज**स्वतंत्रता को संकुचित**कर देता है।

- उपभोक्तावादी संस्कृति (consumer capitalism) लोगों को **अभिसरण (conformity)**में ढाल देती है।
- राज्य और बाज़ार लोगों की**सृजनात्मकता, आलोचना की क्षमता, और असहमति**को शांत कर देते हैं।
- लोग स्वतंत्र दिखाई देते हैं, लेकिन वे**सांस्कृतिक नियंत्रण के अधीन रहते हैं**और सोचने की स्वतंत्रता खो बैठते हैं।

8.7.3.एंतोनियो ग्राम्शी: सांस्कृतिक वर्चस्व और चेतना का दमन

एंतोनियो ग्राम्शी (Antonio Gramsci) ने*Cultural Hegemony*की अवधारणा प्रस्तुत की, जिसमें उन्होंने बताया कि किस प्रकार**शासक वर्ग अपनी विचारधारा को सामान्य मान्यता**दिला देता है।

- **सांस्कृतिक वर्चस्व**के माध्यम से प्रभुत्वशाली वर्ग, शिक्षा, मीडिया, धर्म और भाषा जैसे संस्थानों को नियंत्रित करता है।
- इससे आम लोग उन विचारों को भी स्वीकार कर लेते हैं जो**उनके अपने हितों के विरुद्ध**होते हैं।
- इस प्रकार**स्वतंत्रता की चेतना**का भी दमन हो जाता है।

"Common sense is not something rigid and immobile, but is continually transforming itself." - *Gramsci*

ग्राम्शी के अनुसार, **सच्ची स्वतंत्रता**तभी संभव है जब जनता सांस्कृतिक वर्चस्व को पहचान कर उसे चुनौती दे और**नवीन चेतना का निर्माण**करे।

8.7.4स्वतंत्रता एक सामाजिक मुक्ति की प्रक्रिया

मार्क्सवादी दृष्टिकोण में स्वतंत्रता केवल "करने की स्वतंत्रता" या "सोचने की स्वतंत्रता" नहीं है, बल्कि यह एक**ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति शोषण, अलगाव और सामाजिक बाधाओं से मुक्त होता है।**

इस विचारधारा के अनुसार, स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए निम्न शर्तें आवश्यक हैं:

- **उत्पादन के साधनों पर सामूहिक नियंत्रण**
- **वर्गहीन समाज का निर्माण**
- **आलोचनात्मक चेतना और वैचारिक स्वतंत्रता का विकास**

8.8 टी.एच. ग्रीन और एल.टी. हॉबहाउस की स्वतंत्रता की अवधारणा

टी.एच. ग्रीन और एल.टी. हॉबहाउस आधुनिक राजनीतिक विचारधारा में**सकारात्मक स्वतंत्रता** (Positive Freedom) की अवधारणा को स्पष्ट रूप से स्थापित करने वाले प्रमुख चिंतक हैं। दोनों ही विचारकों ने यह तर्क दिया कि स्वतंत्रता केवल बाहरी नियंत्रण की अनुपस्थिति नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति की**आंतरिक क्षमताओं के विकास**, **नैतिक जिम्मेदारियों के निर्वहन**और**सामाजिक सहयोग**से जुड़ी हुई है।

8.8.1 टी.एच. ग्रीन: नैतिक आत्म-साक्षात्कार के रूप में स्वतंत्रता

टी.एच. ग्रीन स्वतंत्रता को दो भागों में बाँटते हैं-**विधिक (legal) स्वतंत्रता**और**सकारात्मक (positive) स्वतंत्रता**। विधिक स्वतंत्रता का अर्थ है व्यक्ति को अपनी पसंद के अनुसार कार्य करने की शक्ति प्राप्त होना। यह प्रारंभिक राजनीतिक स्वतंत्रता का एक रूप है जो केवल**विकल्प और अवसर**प्रदान करती है। लेकिन ग्रीन इसके आगे बढ़ते हैं और सकारात्मक स्वतंत्रता की बात करते हैं, जो किसी बाहरी अधिकार की अनुपस्थिति मात्र नहीं है, बल्कि एक व्यक्ति की वह शक्ति है जिसके माध्यम से वह**'जो करना चाहिए'**उसे करने में सक्षम होता है। यह स्वतंत्रता व्यक्ति के**नैतिक कर्तव्यों**को निभाने, **आत्म-संतोष**प्राप्त करने और**सामाजिक कल्याण**में योगदान देने की शक्ति है। ग्रीन के शब्दों में, *"सकारात्मक स्वतंत्रता वह शक्ति है जो व्यक्ति को दूसरों के साथ मिलकर कुछ सार्थक करने या अनुभव करने की क्षमता देती है।"*उनका मानना था कि राज्य की जिम्मेदारी है कि वह ऐसा सामाजिक और आर्थिक ढांचा तैयार करे जिसमें व्यक्ति अपनी नैतिक क्षमताओं को विकसित कर सके, जिससे**सामाजिक न्याय**को सुदृढ़ किया जा सके।

8.8.2 एल.टी. हॉबहाउस: कल्याण के रूप में स्वतंत्रता

एल.टी. हॉबहाउस स्वतंत्रता को एक**विकासशील प्रक्रिया**के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार स्वतंत्रता कोई स्थिर अधिकार नहीं, बल्कि**व्यक्ति के सतत विकास की संभावना**है। वह इसे केवल व्यक्ति का अधिकार नहीं बल्कि**समाज की आवश्यकता**मानते हैं। हॉबहाउस कहते हैं, *"स्वतंत्रता व्यक्ति का अधिकार नहीं, बल्कि समाज की आवश्यकता है।"*उनके अनुसार स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए तीन प्रमुख परिस्थितियाँ आवश्यक हैं-पहली, **आर्थिक परिस्थितियाँ**, जिनमें रोजगार, वेतन, और संसाधनों तक समान पहुँच शामिल है; दूसरी, **सामाजिक न्याय**, क्योंकि समानता के बिना स्वतंत्रता केवल एक भ्रम बनकर रह जाती है; और तीसरी, **नैतिक-सामाजिक संस्थाएँ**, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास में सहायक हों। हॉबहाउस का यह स्पष्ट कथन कि*"समानता के बिना स्वतंत्रता एक महान ध्वनि का नाम है, लेकिन इसका परिणाम घृणास्पद होता है"*इस विचार को और बल देता है। वे स्वतंत्रता को**कर्तव्यों के रूप में नहीं**, बल्कि**विकल्पों और अवसरों**के रूप में व्याख्यायित करते हैं। हॉबहाउस का मानना है कि व्यक्ति को केवल सही कार्य करने की स्वतंत्रता ही नहीं, बल्कि गलत कार्य को भी अस्वीकार करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। उनके अनुसार, *"व्यक्ति तभी सर्वोत्तम बन सकता है जब उसके पास उसे अस्वीकार करने की भी स्वतंत्रता हो।"*

इस प्रकार, ग्रीन और हॉबहाउस दोनों ही स्वतंत्रता को केवल अधिकार की भाषा में नहीं, बल्कि**कर्तव्य, नैतिकता, समानता और विकास**के व्यापक संदर्भ में परिभाषित करते हैं।

8.9नारीवादी स्वतंत्रता की अवधारणा: समानता से आगे संरचनात्मक न्याय की ओर

नारीवादी विमर्श स्वतंत्रता को केवल*नकारात्मक अर्थों* (freedom from constraints) में नहीं, बल्कि*सकारात्मक रूप में* (freedom to act, to be) परिभाषित करता है। पारंपरिक उदारवादी दृष्टिकोण के तहत स्वतंत्रता की अवधारणा को अक्सर सार्वजनिक क्षेत्र तक सीमित किया गया है, जबकि नारीवादी विचारकों का मत है कि**व्यक्तिगत जीवन भी राजनीतिक होता है**, और इसलिए वहां भी स्वतंत्रता का प्रश्न उतना ही प्रासंगिक है।**बेटी फ्रिडन**का प्रसिद्ध कथन **"The personal is political"** इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। इस कथन के माध्यम से यह समझाया जाता है कि

घेरलू कार्य, पारिवारिक भूमिकाएं और संबंध - सभी सत्ता संरचना के अंतर्गत आते हैं, और इन्हें विश्लेषण का विषय बनाना जरूरी है।

सैद्धांतिक पृष्ठभूमि और आलोचनात्मक अंतर्विरोध

नारीवादी स्वतंत्रता की अवधारणा को समझने के लिए जरूरी है कि हम**Isaiah Berlin**के 'Two Concepts of Liberty' को संदर्भ में लें। जहाँ Berlin स्वतंत्रता को नकारात्मक और सकारात्मक रूपों में विभाजित करते हैं, वहीं नारीवादी चिंतक इन दोनों सीमाओं को चुनौती देते हुए एक*तृतीय विमर्श*प्रस्तुत करते हैं, जो समाज की संस्थागत संरचनाओं और सत्ता-सम्बंधों की आलोचना करता है।

Judith Butlerकी पुस्तक*Gender Trouble*में बताया गया कि जेंडर कोई स्थायी सामाजिक पहचान नहीं, बल्कि**प्रदर्शित और पुनरावृत्त प्रक्रियाओं** (performative acts) का परिणाम है। इसी प्रकार, **Michel Foucault**की "power/knowledge" अवधारणा को नारीवादी विमर्श में इस रूप में लिया गया कि**सत्ता केवल दमन नहीं, बल्कि सामाजिक मानकों, संस्थाओं और ज्ञान की संरचना के माध्यम से काम करती है** - और यह पितृसत्तात्मक समाज के निर्माण में केंद्रीय भूमिका निभाती है।

पितृसत्ता, यौनिकता और पहचान का प्रश्न

नारीवादी चिंतन यह स्पष्ट करता है कि पितृसत्ता न केवल पारिवारिक और सांस्कृतिक संस्था है, बल्कि यह**राज्य, धर्म, कानून, भाषा और शिक्षा प्रणाली**में भी व्याप्त है। इस व्यवस्था में महिला की पहचान उसके संबंधों-जैसे बेटी, पत्नी, या मां-के आधार पर परिभाषित होती है, न कि एक स्वतंत्र नागरिक के रूप में।

Simone de Beauvoirने कहा: *"A woman is not born, she is made."*यानी, स्त्रीत्व कोई प्राकृतिक अवस्था नहीं, बल्कि**सामाजिक निर्माण**है। समाज ही तय करता है कि महिला को विनम्र, सुंदर, और देखभाल करने वाली होना चाहिए, जबकि पुरुष को मज़बूत, कठोर और भावनात्मक रूप से संयमित।

भिन्नता और बहुलता का feminist विमर्श

मास्टर्स स्तर पर यह आवश्यक है कि नारीवाद के*एकल स्वर*को न माना जाए, बल्कि उसके**विभिन्न धाराओं**को समझा जाए:

- **उदारवादी नारीवाद (Liberal Feminism)**समान राजनीतिक अधिकारों और सार्वजनिक जीवन में अवसरों की समानता की बात करता है।
- **समाजवादी नारीवाद (Socialist Feminism)**पूंजीवाद और लैंगिक उत्पीड़न की संयुक्त आलोचना करते हुए*उत्पादन के साधनों*में महिलाओं की भागीदारी की मांग करता है।
- **रेडिकल नारीवाद (Radical Feminism)**परिवार संस्था को ही शोषण की जड़ मानता है और जैविक प्रजनन की अनिवार्यता को चुनौती देता है।
- **ब्लैक और दलित नारीवाद (Black & Dalit Feminism)**नस्ल, जाति और वर्ग के साथ लिंग की*intersectionality*की बात करता है, और यह स्पष्ट करता है कि*श्वेत/ऊँची जाति की स्त्रियाँ*सभी स्त्रियों का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं।
- क्वीर **और लेस्बियन फेमिनिज्म**यौनिकता और पहचान के विविध रूपों को स्वतंत्रता के विमर्श में सम्मिलित करता है।

जैसा कि**bell hooks**ने कहा - *"Feminism is for everybody."*यह दृष्टिकोण यह स्थापित करता है कि नारीवाद सिर्फ महिलाओं की स्वतंत्रता की मांग नहीं करता, बल्कि**समाज के समस्त उत्पीड़ित वर्गों की मुक्ति का आंदोलन**है।

राज्य, कल्याण और स्वतंत्रता

नारीवादी चिंतन कहता है किसिर्फ निजी जिम्मेदारियों का पुनर्वितरण नहीं, बल्कि राज्य को भी ऐसी संरचनाएं बनानी होंगी जो महिलाओं कोवास्तविक विकल्प और आत्मनिर्णय की शक्तिदे सकें - जैसे क्रेच, मातृत्व अवकाश, घरेलू हिंसा से सुरक्षा, स्वास्थ्य व शिक्षा सुविधाएं।

अभ्यास प्रश्न:

1. नकारात्मक स्वतंत्रता (Negative Liberty)की अवधारणा का मूल उद्देश्य क्या है?

A. राज्य की शक्ति को बढ़ाना

B. व्यक्तिगत क्षेत्र को हस्तक्षेप से मुक्त रखना

C. आर्थिक समानता लाना

D. सामाजिक न्याय की स्थापना

2. सकारात्मक स्वतंत्रता (Positive Liberty)किस बात पर बल देती है?

A. केवल बाह्य हस्तक्षेप से मुक्ति

B. आत्म-नियंत्रण और आत्म-विकास की क्षमता

C. सत्ता के केंद्रीकरण पर

D. धार्मिक स्वतंत्रता

3. निम्न में से किस विचारक ने 'Liberty is absence of external impediments' कहा?

A. John Locke

B. J.S. Mill

C. Thomas Hobbes

D. Isaiah Berlin

4. टी.एच.ग्रीनके अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है-

A. बाधाओं की अनुपस्थिति

B. दूसरों को नियंत्रित करने की शक्ति

C. नैतिक आत्मनिर्भरता का विकास

D. अधिकारों का सीमित प्रयोग

5.मार्क्सवादीदृष्टिकोण से स्वतंत्रता का वास्तविक रूप क्या है?

A. राज्य द्वारा दिया गया विशेषाधिकार

B. पूंजीवाद के अंत के बाद वर्गविहीन समाज की स्थापना

C. व्यक्तिगत संपत्ति का अधिकार

D. राजनीतिक बहस में भागीदारी

8.10 सारांश

स्वतंत्रता राजनीतिक दर्शन का एक ऐसा केंद्रीय तत्व है, जिसकी व्याख्या समय, समाज और विचारधाराओं के अनुसार निरंतर परिवर्तित होती रही है। यह केवल राज्य और नागरिक के बीच संबंधों की बात नहीं करती, बल्कि व्यक्ति की चेतना, आत्मनिर्णय और सामाजिक दायरे की भी गहराई से पड़ताल करती है।

थॉमस हॉब्सस्वतंत्रता को बाह्य प्रतिबंधों की अनुपस्थिति में देखते हैं, जबकिजॉन लॉकइसे जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति की सुरक्षा के नैतिक अधिकार से जोड़ते हैं।जे.एस. मिलकी दृष्टि में स्वतंत्रता का मूल्य वहाँ तक है जहाँ तक यह दूसरों को हानि नहीं पहुँचाती - यही उनका 'हानि सिद्धांत' है।

टी.एच. ग्रीनऔरहॉबहाउसने स्वतंत्रता को केवल बाधाओं की अनुपस्थिति नहीं, बल्कि सामाजिक-आर्थिक अवसरों की उपलब्धता और नैतिक आत्मनिर्भरता के रूप में देखा। इनके लिए स्वतंत्रता सामाजिक कल्याण से जुड़ी हुई है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोणस्वतंत्रता को पूंजीवादी ढांचे की आलोचना के संदर्भ में समझता है, जहाँ वास्तविक स्वतंत्रता तभी संभव है जब व्यक्ति आर्थिक शोषण और वर्गभेद से मुक्त हो।

नारीवादी दृष्टिकोणस्वतंत्रता को लिंग आधारित सत्ता संबंधों के संदर्भ में विश्लेषित करता है। उनके लिए स्वतंत्रता केवल कानूनी या राजनीतिक नहीं, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक दमन से मुक्ति भी है - खासकर पितृसत्तात्मक संरचनाओं से।

आईज़ाया बर्लिनद्वारा प्रतिपादितसकारात्मकऔरनकारात्मक स्वतंत्रताके द्वैध स्वरूप ने स्वतंत्रता को दो अलग दृष्टिकोणों में विभाजित कर विचार-विमर्श को और भी गहन किया - जहाँ एक ओर नकारात्मक स्वतंत्रता बाहरी हस्तक्षेप से मुक्ति है, वहीं दूसरी ओर सकारात्मक स्वतंत्रता व्यक्ति की आत्म-साक्षात्कार की क्षमता को केंद्र में रखती है।

अतः यह स्पष्ट है कि स्वतंत्रता की अवधारणा कोई एकरूप या स्थिर विचार नहीं है, बल्कि यह एक बहुआयामी और बहुस्तरीय प्रक्रिया है, जो व्यक्ति, समाज और राज्य के बीच शक्ति, अवसर और समानता के संबंधों को समझने में सहायक होती है। आधुनिक समय में स्वतंत्रता का मूल्यांकन केवल राज्य और व्यक्ति के संबंधों तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि वह सामाजिक न्याय, लैंगिक समानता और आर्थिक सशक्तिकरण जैसे आयामों से भी गहराई से जुड़ चुका है।

8.11 शब्दावली

आत्म-साक्षात्कार (Self-realization) -सकारात्मक स्वतंत्रता से जुड़ी अवधारणा जिसमें व्यक्ति अपनी पूर्ण क्षमताओं को पहचानता और विकसित करता है।

संरचनात्मक उत्पीड़न (Structural Oppression) - वह स्थिति जिसमें सामाजिक ढांचे के भीतर ही असमानता और दमन निहित होता है, जैसे नारीवाद में देखा गया।

पितृसत्तात्मकता (Patriarchy) - सामाजिक संरचना जिसमें पुरुषों को महिलाओं पर वर्चस्व प्राप्त होता है।

नारीवादी दृष्टिकोण (Feminist Approach) - वह दृष्टिकोण जो स्वतंत्रता को लिंग आधारित असमानताओं के संदर्भ में विश्लेषित करता है।

8.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1-B, 2-B, 3-C, 4-C, 5-B

8.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. **Heywood, Andrew** - *Political Theory: An Introduction*, (Palgrave Macmillan)

2. **Mill, J.S.** - *On Liberty*, (London: Penguin Classics, 1982)

3. **Berlin, Isaiah** - *Two Concepts of Liberty*, (Oxford: Clarendon Press, 1958)

4.राजीव भार्गव, अशोक आचार्य- राजनीति सिद्धान्त, पियर्सन एजुकेशन इंडिया,2018

5. ओ.पी. गाबा, राजनीतिक सिद्धांत

8.14 निबंधात्मक प्रश्न

1.सकारात्मक स्वतंत्रता (Positive Liberty) और नकारात्मक स्वतंत्रता (Negative Liberty) के मध्य मूलभूत अंतर को स्पष्ट कीजिए। उपयुक्त उदाहरणों सहित समझाइए।

2. जे. एस. मिल (J.S. Mill) की स्वतंत्रता की अवधारणा में 'हानि सिद्धांत' (Harm Principle) का क्या महत्व है? विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।

3. मार्क्सवादी दृष्टिकोण से स्वतंत्रता की संकल्पना की आलोचना कीजिए तथा उनके द्वारा प्रस्तावित वैकल्पिक दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।

4. नारीवादी एवं मार्क्सवादी दृष्टिकोणों में स्वतंत्रता की संकल्पना में क्या समानताएँ एवं अंतर हैं? विस्तार से समझाइए।

इकाई -9 समानता

9.0 प्रस्तावना

9.1 उद्देश्य

9.2 समानता के बुनियादी सिद्धांत

9.3 समानता के अर्थ के सम्बन्ध में इसके दो पहलू

9.3.1 समानता का नकारात्मक पहलू

9.3.1.1 समानता का नकारात्मक पहलू: दार्शनिक दृष्टिकोण सहित

9.3.2 समानता का सकारात्मक पहलू

9.4 समानता के विभिन्न प्रकार

9.4.1 औपचारिक समानता

9.4.2 अवसर की समानता

9.4.3 परिणामों की समानता

9.5 समानता और नारीवाद

9.6 स्वतंत्रता और समानता में सम्बन्ध

9.7 सारांश

9.8 शब्दावली

9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

9.11 सहायक उपयोगी सामग्री

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

समानता एक मौलिक और सार्वभौमिक अवधारणा है जो मानव अधिकारों, सामाजिक न्याय और नैतिक सिद्धांतों के केंद्र में स्थित है। यह सभी व्यक्तियों के साथ उनकी जाति, लिंग, धर्म, सामाजिक आर्थिक स्थिति या किसी अन्य विशेषता की परवाह किए बिना निष्पक्षता के साथ व्यवहार करने के विचार का प्रतीक है। समानता की अवधारणा एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहती है जहां सभी को समान अवसर, अधिकार और संसाधनों तक पहुंच प्राप्त हो, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पूरी क्षमता तक पहुंचने और सम्मानजनक जीवन जीने की अनुमति मिले।

समानता की अवधारणा आधुनिक राजनीतिक विमर्श और विचार में एक केंद्रीय केंद्र बिंदु के रूप में उभरी है, जो जन्म के आधार पर सामाजिक पदानुक्रम की ऐतिहासिक स्वीकृति से एक महत्वपूर्ण प्रस्थान का प्रतीक है। अतीत में, प्राकृतिक पदानुक्रम की धारणाएँ प्रचलित थीं, लेकिन समकालीन राजनीतिक सोच मूल रूप से सभी मनुष्यों की अंतर्निहित समानता में मूलभूत विश्वास पर टिकी हुई है। इस बदलाव को 1789 में फ्रांसीसी क्रांति और अमेरिकी गृहयुद्ध जैसी महत्वपूर्ण घटनाओं के माध्यम से प्रमुखता से प्रदर्शित किया गया, जिसने लोकतंत्र, समानता और स्वतंत्रता के सिद्धांतों को रेखांकित किया। फ्रांसीसी क्रांति ने मध्ययुगीन पदानुक्रम को चुनौती दी, जबकि अमेरिकी गृहयुद्ध ने नस्लीय असमानताओं पर प्रकाश डाला। फिर भी, समानता के विचार को अपनाना बाधाओं से रहित नहीं था।

20वीं सदी की शुरुआत में, आर.एच. टावनी ने ब्रिटिश समाज में प्रचलित "असमानता के धर्म" के बारे में चिंता व्यक्त की। उन्होंने न केवल असमानताओं के अस्तित्व पर बल्कि ऐसी असमानताओं के खतरनाक सामान्यीकरण पर भी अफसोस जताया। हालाँकि, समय के साथ, समानता की धारणा को व्यापक स्वीकृति मिली, जो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुए परिवर्तनों से उत्प्रेरित हुई और उपनिवेशवाद और महिला आंदोलन से प्रेरित हुई।आज, समानता मानव समाज की संरचना के लिए आधारशिला के रूप में खड़ी है, फिर भी विवादास्पद बहस इसके दायरे और अनुप्रयोग के इर्द-गिर्द घूमती है। विशेष रूप से विवादास्पद धन और आय वितरण में समानता का अनुप्रयोग है, जिसमें समता-विरोधी विचार पुनरुत्थान का अनुभव कर रहे हैं। इसे राजनीतिक अर्थव्यवस्था की एक धारा द्वारा बढ़ावा दिया गया है, जिसमें कहा गया है कि समतावादी उपाय बाजार की दक्षता में बाधा डालते हैं और अंततः सभी के लिए नकारात्मक परिणाम पैदा करते हैं।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से आप जान पाएंगे:

1. समानता के विभिन्न प्रकारों को जान पायेंगें।
2. समानता के बुनियादी सिद्धांतों को जान पायेंगें।
3. समानता और स्वतंत्रता के मध्य सम्बन्ध को जान पायेंगें।

9.2 समानता के कुछ बुनियादी सिद्धांत

समतावादी समानता पर एक सूक्ष्म दृष्टिकोण रखते हैं जो हर किसी के समान होने या समान बनने की धारणा से परे है। यह केवल गणितीय अवधारणा नहीं है, और कई मूल सिद्धांत समतावादी रुख को रेखांकित करते हैं। आइए इनमें से कुछ मूलभूत सिद्धांतों पर गौर करें:

बुनियादी जरूरतें और जीवन स्तर:

समतावादी दृष्टिकोण में बुनियादी जरूरतों को प्रत्येक मानव का जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता है।**जॉन रॉल्स (John Rawls)** की *Theory of Justice* विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रॉल्स का *difference principle* कहता है कि सामाजिक और आर्थिक असमानताएं तब तक स्वीकार्य हैं जब तक वे समाज में सबसे कमज़ोर वर्ग को बेहतर स्थिति में लाने का काम करें। वे न्यूनतम स्तर के ऊपर एक ऐसी स्थिति चाहते हैं जो सभी को 'न्याय के दो सिद्धांतों' के तहत समान संभावनाएं दे।

अमर्त्य सेन(AmartyaSen)ने इसे आगे बढ़ाकर*capability approach*दिया, जिसमें केवल संसाधनों की समानता नहीं बल्कि यह देखा जाता है कि व्यक्ति अपनी क्षमताओं को किस हद तक विकसित कर सकता है। उनके अनुसार समानता का मूल्यांकन अवसरों और जीवन के विकल्पों की विविधता पर आधारित होना चाहिए।

लेकिन **रॉबर्ट नौजिक (Robert Nozick)** जैसे उदारवादी दार्शनिक इसे चुनौती देते हैं। नोजिक का*Entitlement Theory*कहता है कि जब तक संसाधनों का अधिग्रहण और लेन-देन न्यायपूर्ण है, तब तक पुनर्वितरण की कोई नैतिक आवश्यकता नहीं है। इससे एक प्रकार का न्यूनतम राज्य मॉडल निकलता है, जो समतावादी पुनर्वितरण के विचार का विरोध करता है।

समान सम्मान और गरिमा:

समतावादी दृष्टिकोण का केंद्र समान सम्मान का सिद्धांत है। समतावादी किसी भी प्रकार के अपमानजनक व्यवहार या मानवीय गरिमा को कमजोर करने वाली परिस्थितियों का विरोध करते हैं। वे जिस आदर्श समाज की कल्पना करते हैं वह आपसी सहानुभूति और समझ में निहित है, जो साझा मानवता के माहौल को बढ़ावा देता है।यह पहलू **इमैनुएल कांट (Immanuel Kant)**की विचारधारा से गहरे प्रभावित है। **कांट** के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को **'स्वयं में एक उद्देश्य'**के रूप में देखा जाना चाहिए, न कि किसी अन्य के साधन के रूप में। यह गरिमा का सार्वभौमिक सिद्धांत है।

ऐक्सल होन्नेथ (Axel Honneth)ने इसे***recognition theory***में विकसित किया। उनके अनुसार सामाजिक न्याय का पहला शर्त यह है कि हर व्यक्ति की सामाजिक पहचान और गरिमा को मान्यता दी जाए। सम्मान की कमी सामाजिक संघर्ष का कारण बनती है।

हालांकि, कुछ नारीवादी दार्शनिकों जैसे **मार्था नुसबॉम (Martha Nussbaum)** ने गरिमा के सिद्धांत को लिंग के आधार पर भी परखा है। वे कहती हैं कि अगर सार्वजनिक नीतियों में महिलाओं के लिए विशेष उपाय नहीं किए जाते, तो यह गरिमा के सिद्धांत के साथ विश्वासघात होगा।

आर्थिक समानता:

समतावादी न केवल व्यक्तिगत स्तर पर बल्कि राष्ट्रों के बीच भी विशाल आय और धन असमानताओं के आलोचक हैं। वे एक ऐसी प्रणाली की वकालत करते हैं जो संसाधनों का अधिक न्यायसंगत वितरण सुनिश्चित करे। इसमें आर्थिक संस्थानों और कार्यस्थलों पर लोकतांत्रिक नियंत्रण, सभी के लिए सुलभ गरिमापूर्ण और सार्थक कार्य अवसरों को बढ़ावा देना शामिल हो सकता है।

आर्थिक समानता पर वामपंथी दार्शनिकों का स्पष्ट झुकाव रहा है। **कार्ल मार्क्स (Karl Marx)**ने पूंजीवादी व्यवस्था को शोषण की व्यवस्था बताया और उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व की वकालत की। उनके अनुसार आर्थिक समानता केवल संसाधनों के पुनर्वितरण से नहीं, बल्कि उत्पादन संबंधों के क्रांतिकारी बदलाव से संभव है।

थॉमस पिकेटी (Thomas Piketty)जैसे समकालीन अर्थशास्त्रियों ने बढ़ती संपत्ति असमानता पर डेटा आधारित तर्क प्रस्तुत किए हैं। उनका सुझाव है कि वैश्विक स्तर पर प्रगतिशील टैक्सेशन आवश्यक है।

लेकिन**मिल्टन फ्रीडमैन (Milton Friedman)**जैसे नवउदारवादी अर्थशास्त्री मानते हैं कि आर्थिक समानता पर अत्यधिक जोर नवाचार और उद्यमिता को हतोत्साहित करता है। उनके अनुसार 'अवसर की समानता' पर्याप्त है, न कि परिणाम की समानता।

राजनीतिक समानता:

वोट देने या पद के लिए चुनाव लड़ने के मूल अधिकार से परे, समतावादियों के अनुसार, राजनीतिक समानता में नागरिक अधिकारों और सक्रिय लोकतांत्रिक भागीदारी की एक विस्तृत श्रृंखला शामिल है। समतावादी आदर्शों का उद्देश्य व्यक्तियों को अपने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रभाव डालने, नियंत्रण और एजेंसी की अधिक महत्वपूर्ण भावना को बढ़ावा देने के लिए सशक्त बनाना है।

राजनीतिक समानता केवल वोट का अधिकार नहीं बल्कि निर्णय-निर्माण की प्रक्रियाओं में समान भागीदारी है।**जॉन स्टुअर्ट मिल (J.S. Mill)**ने लोकतांत्रिक सहभागिता का समर्थन किया लेकिन साथ ही यह सुझाव दिया कि शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों के वोट को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए - जिसे आलोचना मिली कि यह राजनीतिक समानता का उल्लंघन है।

हन्ना अरेन्ड्ट (Hannah Arendt)ने राजनीतिक समानता को 'पब्लिक स्पेस' में सक्रिय भागीदारी से जोड़ा। उनके अनुसार, नागरिक तब तक समान नहीं हो सकते जब तक वे सार्वजनिक विमर्श में भाग नहीं लेते।

व्यावहारिक रूप में राजनीतिक समानता अक्सर केवल औपचारिक रह जाती है क्योंकि सामाजिक-आर्थिक विषमताएं राजनीतिक प्रभावशीलता को भी प्रभावित करती हैं।

सामाजिक समानता: समतावाद का विस्तार लिंग, जाति, जातीयता और धर्म जैसे कारकों के आधार पर सामाजिक असमानताओं को संबोधित करने तक है। समतावादी भेदभाव को खत्म करने और इन आयामों में निष्पक्षता और समावेशिता को बढ़ावा देने का प्रयास करते हैं।

सामाजिक समानता को लेकर **बी.आर. अंबेडकर** का दृष्टिकोण विशेष रूप से भारत में प्रासंगिक है। वे केवल राजनीतिक समानता से संतुष्ट नहीं थे बल्कि सामाजिक बराबरी, खासकर जाति उन्मूलन के बिना, समानता को अधूरा मानते थे।

नैन्सी फ्रेजर (Nancy Fraser)ने*redistribution और recognition*के द्वंद्व को उठाया। वे कहती हैं कि सामाजिक न्याय के लिए आर्थिक पुनर्वितरण के साथ-साथ सांस्कृतिक मान्यता (जैसे जाति, नस्ल, लिंग पहचान की मान्यता) आवश्यक है।

यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि हालांकि ये सिद्धांत समानता के प्रमुख पहलुओं को शामिल करते हैं, लेकिन ये संपूर्ण नहीं हैं। समतावाद की ताकत असमानता और अन्याय के उभरते रूपों को संबोधित करने के लिए चल रहे सुधार और अनुकूलन की क्षमता में निहित है। मूल सिद्धांत मार्गदर्शक रोशनी के रूप में कार्य करते हैं, एक ऐसे समाज की दृष्टि को आकार देने में मदद करते हैं जहां व्यक्तियों को महत्व दिया जाता है, सम्मान दिया जाता है, और समान स्तर पर पूर्ण जीवन जीने में सक्षम किया जाता है।

9.3 समानता के अर्थ के सम्बन्धमें विभिन्न दृष्टिकोण

9.3.1 समानता का नकारात्मक पहलू:

नकारात्मक समानता, जिसे अक्सर औपचारिक समानता कहा जाता है, कानून के तहत समान व्यवहार सुनिश्चित करने और कुछ विशेषताओं के आधार पर भेदभाव की अनुपस्थिति पर केंद्रित है। यह अवधारणा इस बात पर जोर देती है कि व्यक्तियों के साथ उनके मतभेदों की परवाह किए बिना निष्पक्ष और बिना पक्षपात के व्यवहार किया जाना चाहिए। यहाँ नकारात्मक समानता के प्रमुख पहलू हैं:

समान अधिकार और सुरक्षा: नकारात्मक समानता यह सुनिश्चित करती है कि सभी व्यक्तियों को समान कानूनी अधिकार, सुरक्षा और अवसर प्राप्त हों। यह गारंटी देता है कि जाति, लिंग, धर्म या सामाजिक स्थिति जैसे कारकों के आधार पर किसी के साथ अनुचित व्यवहार या भेदभाव नहीं किया जाएगा।

सार्वभौमिक अनुप्रयोग: नकारात्मक समानता का सिद्धांत सार्वभौमिक रूप से सभी व्यक्तियों पर लागू होता है, चाहे उनकी पृष्ठभूमि कुछ भी हो। इसका उद्देश्य एक समान अवसर स्थापित करना है जहां हर कोई समान नियमों और मानकों के अधीन हो।

कानूनी ढाँचा: नकारात्मक समानता अक्सर कानूनों, संविधानों और भेदभाव-विरोधी क़ानूनों में निहित होती है। यह भेदभावपूर्ण प्रथाओं को चुनौती देने और कानूनी रास्तों के माध्यम से उपचार खोजने के लिए एक आधार प्रदान करता है।

समान अवसर: समान व्यवहार पर ध्यान केंद्रित करने का उद्देश्य व्यक्तियों को अपने लक्ष्यों और आकांक्षाओं को आगे बढ़ाने के लिए समान अवसर प्रदान करना है। यह योग्यता और इस विचार को बढ़ावा देता है कि सफलता व्यक्तिगत प्रयास और क्षमताओं पर आधारित होनी चाहिए।

9.3.1.1 समानता का नकारात्मक पहलू: दार्शनिक दृष्टिकोण सहित

नकारात्मक समानता, जिसे*formal equality*या*equality before law*भी कहा जाता है, कानून की नजर में सबको समान मानने का सिद्धांत है। इसके तहत किसी भी व्यक्ति को उसकी पहचान, लिंग, जाति, धर्म, नस्ल या सामाजिक स्थिति के आधार पर भेदभाव का सामना नहीं करना चाहिए। हालांकि, इस सिद्धांत के साथ कई दार्शनिकों ने समर्थन, आलोचना और संशोधन के तर्क पेश किए हैं।

1. थॉमस हॉब्स और जॉन लॉक का दृष्टिकोण

थॉमस हॉब्सने*Leviathan*में कहा कि प्रकृति की अवस्था में सभी मनुष्य समान होते हैं - हालांकि उनकी ताकत और क्षमताओं में फर्क हो सकता है। हॉब्स के अनुसार, इस समानता से प्रतिस्पर्धा और संघर्ष उपजता है, जिसे एक 'सामाजिक अनुबंध' के तहत नियंत्रित करने की जरूरत है।

जॉन लॉकने समानता का कानूनी दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट किया। उनके अनुसार सभी मनुष्य*natural rights*के मामले में समान हैं - जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति का अधिकार। लॉक का यह विचार आधुनिक संविधान और कानूनों में नकारात्मक समानता का आधार बनता है।

2. इमैनुएल कांट

कांट ने समानता को मानव गरिमा और स्वायत्तता से जोड़ा। उनके लिए समानता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को कानूनी और नैतिक नियमों के तहत बराबर समझा जाए। उन्होंने कहा कि किसी को भी केवल उसकी पहचान के कारण विशेष अधिकार या हानि नहीं मिलनी चाहिए।

3. रॉबर्ट नोजिक की*Entitlement Theory*

नोजिक ने नकारात्मक समानता का समर्थन करते हुए कहा कि अगर अधिकारों का हस्तांतरण और अधिग्रहण न्यायसंगत है, तो पुनर्वितरण की आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार, बराबरी का मतलब यह नहीं कि हर किसी के पास समान संसाधन हों बल्कि कि सबके साथ समान कानून लागू हो और उनकी संपत्ति का हक सुरक्षित रहे।

विभिन्न विचारकों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण:

जॉन रॉल्सने नकारात्मक समानता की इस धारणा पर सवाल उठाए। रॉल्स का तर्क था कि केवल कानून में समानता देने से गहरी सामाजिक-आर्थिक असमानताएं बनी रहती हैं। उन्होंने कहा कि अगर सामाजिक संरचना में असमानताएं मौजूद हैं तो समान अवसर की बात खोखली है। इसलिए उन्होंने*difference principle*पेश किया जो सबसे वंचित वर्ग की स्थिति को सुधारने पर बल देता है।

नारीवादी दार्शनिकों जैसे**कैथरीन मैककिनन**और**मार्था नुसबॉम**ने भी नकारात्मक समानता की आलोचना की। उनका कहना था कि केवल 'समान व्यवहार' का दावा करने से उन संरचनात्मक भेदभावों पर पर्दा पड़ जाता है जो ऐतिहासिक और सांस्कृतिक रूप से गहरे बैठे हैं। जैसे पुरुष और महिलाएं क़ानून में समान हो सकते हैं लेकिन सामाजिक व्यवहार और अवसरों में भारी असमानता बनी रहती है।

समकालीन बहस

नैंसी फ्रेजर ने *recognition* और *redistribution* के दोहरे फ्रेम में समानता को समझने की बात की। उनके अनुसार, नकारात्मक समानता केवल कानून में समानता तक सीमित है जबकि असली समानता के लिए सामाजिक मान्यता और संसाधनों का न्यायसंगत वितरण भी जरूरी है।

9.3.2 समानता का सकारात्मक पहलू:

सकारात्मक समानता, जिसे वास्तविक या भौतिक समानता के रूप में भी जाना जाता है, औपचारिक समानता से परे जाती है और अंतर्निहित संरचनात्मक और प्रणालीगत कारकों को संबोधित करने पर ध्यान केंद्रित करती है जो असमानताओं में योगदान करते हैं। इसका उद्देश्य ऐसी स्थितियाँ बनाना है जहाँ सभी को आवश्यक संसाधनों, अवसरों और कल्याण तक समान पहुंच प्राप्त हो। यहाँ सकारात्मक समानता के प्रमुख पहलू हैं:

संसाधनों का पुनर्वितरण: सकारात्मक समानता असमानताओं को कम करने के लिए संसाधनों और अवसरों के पुनर्वितरण की वकालत करती है। इसमें प्रगतिशील कराधान, सामाजिक कल्याण कार्यक्रम और हाशिए पर रहने वाले समूहों के उत्थान के लिए सकारात्मक कार्रवाई पहल शामिल हो सकती है।

न्यायसंगत परिणाम: सकारात्मक समानता का लक्ष्य न्यायसंगत परिणाम प्राप्त करना है, न कि केवल समान व्यवहार। इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करके विशेषाधिकार प्राप्त और वंचितों के बीच अंतर को कम करना है कि हर किसी को सम्मानजनक और पूर्ण जीवन जीने का उचित मौका मिले।

संरचनात्मक अन्याय को संबोधित करना: सकारात्मक समानता उन ऐतिहासिक अन्यायों और प्रणालीगत बाधाओं को दूर करने का प्रयास करती है जिन्होंने असमानता में योगदान दिया है। यह स्वीकार करता है कि कुछ समूह वंचित स्थिति से शुरू कर सकते हैं और सच्ची समानता प्राप्त करने के लिए अतिरिक्त समर्थन की आवश्यकता है।

सामाजिक समावेशन: कानूनी अधिकारों से परे, सकारात्मक समानता सामाजिक समावेशन और भागीदारी पर केंद्रित है। इसका उद्देश्य एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जहां हर कोई मूल्यवान महसूस करे और उनके जीवन को प्रभावित करने वाले निर्णयों को आकार देने में उनकी आवाज हो।

समग्र दृष्टिकोण: सकारात्मक समानता शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल, आवास और आर्थिक अवसरों जैसे कारकों पर विचार करते हुए कल्याण के लिए एक समग्र दृष्टिकोण अपनाती है। यह मानता है कि सच्ची समानता के लिए जीवन के कई आयामों को संबोधित करने की आवश्यकता है।

9.3.2.1 सकारात्मक समानता: दार्शनिक दृष्टिकोण सहित

सकारात्मक समानता, जिसे*substantive equality*या*equity-based equality*कहा जाता है, का जोर केवल नियमों में समानता पर नहीं बल्कि वास्तविक जीवन में समान अवसर और समान परिणामों को सुनिश्चित करने पर है। इसमें उन ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक बाधाओं को तोड़ने का प्रयास होता है जो विशेषाधिकार और वंचना को बनाए रखते हैं।

1. जॉन रॉल्स: Difference Principle और Fair Equality of Opportunity

रॉल्स ने अपनी कृति*A Theory of Justice*में 'Difference Principle' दिया, जिसके अनुसार किसी भी असमानता को तब तक स्वीकार किया जा सकता है जब तक वह समाज के सबसे कमज़ोर वर्ग के फायदे में हो।

रॉल्स का*Fair Equality of Opportunity*का सिद्धांत कहता है कि महज औपचारिक समान अवसर (जैसे सभी को स्कूल जाने का हक) पर्याप्त नहीं है। बल्कि, सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन से निकलने के लिए विशेष उपाय जरूरी हैं ताकि सभी को वास्तव में बराबरी का मंच मिले।

2. एमार्ट्य सेन: Capability Approach

एमार्ट्य सेनने रॉल्स से आगे बढ़कर 'Capability Approach' दिया। सेन ने कहा कि केवल संसाधनों का वितरण ही पर्याप्त नहीं, बल्कि यह देखना जरूरी है कि व्यक्ति उन संसाधनों का उपयोग कर अपने जीवन को किस तरह सुधार सकता है।

सेन के मुताबिक, समानता का अर्थ यह सुनिश्चित करना है कि सभी के पास 'सक्षम' बनने के लिए आवश्यक शर्तें हों - जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा। यह दृष्टिकोण सकारात्मक समानता की नींव को मजबूत करता है।

3. मार्क्सवादी दृष्टिकोण

कार्ल मार्क्सने असमानता की जड़ को उत्पादन संबंधों में देखा। उनके अनुसार जब तक पूंजीवादी व्यवस्था बनी रहेगी, तब तक वास्तविक समानता संभव नहीं क्योंकि संसाधनों का स्वामित्व और नियंत्रण कुछ के पास केंद्रित रहेगा।

मार्क्स के दृष्टिकोण में सकारात्मक समानता का अर्थ उत्पादन के साधनों का समान स्वामित्व और वर्गहीन समाज की स्थापना है। यह सबसे रैडिकल रूप है जिसमें केवल पुनर्वितरण नहीं बल्कि व्यवस्था का पुनर्निर्माण शामिल है।

4. नैंसी फ्रेजर: Redistribution और Recognition

नैंसी फ्रेजरने समानता के दो स्तर बताए - *Redistribution* (पुनर्वितरण) और*Recognition* (मान्यता)। वे कहती हैं कि केवल संसाधनों का पुनर्वितरण ही पर्याप्त नहीं बल्कि जिन सांस्कृतिक और सामाजिक समूहों को ऐतिहासिक रूप से हाशिये पर रखा गया है, उनकी पहचान और गरिमा को भी मान्यता दी जानी चाहिए।

फ्रेजर का मॉडल सकारात्मक समानता की उस समझ को विस्तार देता है जिसमें जाति, नस्ल, लिंग, आदि के आधार पर विशेष उपाय जरूरी हैं।

5. मार्था नुसबॉम: Ten Central Capabilities

मार्था नुसबॉमने सेन के Capability Approach को और समृद्ध किया। उन्होंने 'Ten Central Capabilities' का प्रस्ताव किया - जैसे जीवन, स्वास्थ्य, शारीरिक अखंडता, शिक्षा, भावनात्मक अभिव्यक्ति आदि। नुसबॉम का कहना है कि जब तक ये बुनियादी क्षमताएं सबके लिए सुनिश्चित नहीं होतीं, तब तक समानता केवल नाम मात्र की होगी।

उनका दृष्टिकोण विशेष रूप से महिलाओं, बच्चों और शारीरिक रूप से अक्षम लोगों के सन्दर्भ में सकारात्मक समानता को व्यावहारिक दिशा देता है।

6. फेमिनिस्ट दार्शनिक: कैथरीन मैककिनन

कैथरीन मैककिननने पितृसत्तात्मक संरचनाओं को तोड़ने के लिए सकारात्मक समानता की वकालत की। वे कहती हैं कि केवल कानून में समानता पर्याप्त नहीं; महिलाओं को समान स्थिति तक लाने के लिए विशेष उपाय जैसे आरक्षण, विशेष सुरक्षा कानून और प्रतिनिधित्व आवश्यक हैं।

संक्षेप में, नकारात्मक समानता कानून के तहत समान व्यवहार और भेदभाव की अनुपस्थिति पर जोर देती है, जबकि सकारात्मक समानता संसाधन पुनर्वितरण के माध्यम से संरचनात्मक असमानताओं को संबोधित करने और न्यायसंगत परिणाम बनाने पर केंद्रित है। न्यायसंगत और निष्पक्ष समाज की खोज में दोनों पहलू महत्वपूर्ण हैं, और वे व्यापक समानता प्राप्त करने के प्रयासों में एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं।

9.4 समानता के विभिन्न प्रकार

9.4.1 औपचारिक समानता

जॉन लॉक, एक प्रमुख अंग्रेजी दार्शनिक, ने पुरुषों की प्राकृतिक समानता में निहित समानता की अवधारणा की दृढ़ता से वकालत की, हालांकि महिलाओं को उनके ढांचे से विशेष रूप से बाहर रखा गया। इमैनुएल कांट ने साझा मानवता के परिणामस्वरूप सार्वभौमिकता और समानता पर जोर देकर इस परिप्रेक्ष्य को और मजबूत किया। इसने औपचारिक समानता की अवधारणा को जन्म दिया, जिसमें कहा गया कि सभी व्यक्तियों के साथ उनकी सामान्य मानवीय स्थिति के आधार पर समान व्यवहार किया जाना चाहिए।

औपचारिक समानता की एक महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति कानूनी समानता के सिद्धांत में निहित है, जो यह निर्देश देती है कि कानून को सभी व्यक्तियों के साथ जाति, नस्ल, लिंग, धर्म या सामाजिक पृष्ठभूमि जैसे कारकों के आधार पर भेदभाव किए बिना व्यवहार करना चाहिए। हालाँकि यह सिद्धांत नस्ल, लिंग और सामाजिक स्थिति में निहित विशेषाधिकारों को चुनौती देने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन इसकी सीमाएँ हैं। यह इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि कुछ व्यक्तियों को जाति, लिंग या सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण भारी बाधाओं का सामना करना पड़ सकता है, जिससे उनके लिए कानून द्वारा घोषित औपचारिक समानता से पूरी तरह से लाभ उठाना असंभव हो जाता है।

मार्क्स ने इस अपर्याप्तता को पहचानते हुए अपने निबंध 'यहूदी प्रश्न पर' में इस मुद्दे पर गहराई से विचार किया। उन्होंने तर्क दिया कि यद्यपि औपचारिक समानता प्रगति को चिह्नित करती है, लेकिन यह वास्तव में मानव मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती है। बाज़ार की गतिशीलता कुछ सामाजिक बाधाओं को ख़त्म कर सकती है, लेकिन साथ ही उन्होंने निजी संपत्ति के अस्तित्व द्वारा समर्थित वर्ग-आधारित असमानताएँ भी पैदा की हैं। मार्क्सवादियों ने समानता के इस रूप को "बाज़ार समानता" का नाम दिया है, यह दावा करते हुए कि यह केवल समाज की गहरी असमान संरचना को छुपाता है।

समकालीन समय में, समतावादी विचार इस धारणा से परे विकसित हुआ है कि सभी मनुष्य स्वाभाविक रूप से समान हैं और इसलिए उनके पास समान अधिकार होने चाहिए। समझ "समानता" शब्द के अधिक निर्देशात्मक उपयोग की ओर स्थानांतरित हो गई है। समतावादी आज उन नीतियों का समर्थन करते हैं जो केवल व्यक्तियों की वर्णनात्मक विशेषताओं पर भरोसा किए बिना समानता के आदर्श को बढ़ावा देते हैं, यह मानते हुए कि कई महत्वपूर्ण पहलुओं में मनुष्यों के बीच पर्याप्त अंतर मौजूद हैं।

9.4.2 अवसर की समानता

अवसर की समानता एक अवधारणा है जो व्यक्तिगत आत्म-विकास में बाधा डालने वाली बाधाओं को हटाने में निहित है। इसमें यह सुनिश्चित करना शामिल है कि व्यक्तियों को स्थिति, पारिवारिक या सामाजिक पृष्ठभूमि जैसे कारकों के बजाय अपनी प्रतिभा और क्षमताओं के आधार पर करियर बनाने का मौका मिले। मुख्य विचार एक समान अवसर स्थापित करना है, विशेषकर जीवन के शुरुआती बिंदु पर। हालाँकि, अवसर की समानता के निहितार्थ जटिल हो सकते हैं। इसका उद्देश्य प्रतिस्पर्धा करने के लिए समान अवसर प्रदान करना है, लेकिन यह जरूरी नहीं कि समग्र समानता की ओर ले जाए। असमान परिणामों को स्वीकार्य माना जाता है क्योंकि उनका श्रेय अलग-अलग प्राकृतिक प्रतिभाओं, कड़ी मेहनत या भाग्य को दिया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह निर्माण योग्यता आधारित आदर्श द्वारा छिपी एक पदानुक्रमित प्रणाली का समर्थन करता है।

प्रकृति और परंपरा के बीच का अंतर, जिस पर यह अवधारणा आधारित है, हमेशा स्पष्ट नहीं होती है। अवसर की समानता के संस्थागतकरण में करियर को प्रतिभा के लिए खुला रखना और सकारात्मक भेदभाव लागू करना जैसे उपाय शामिल हैं। ये उपाय उचित प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप होने वाले असमान परिणामों को वैध बनाते हैं।

हालाँकि, अवसर पर यह जोर व्यक्तियों को समुदाय की भावना से अलग कर सकता है, प्रतिस्पर्धी मानसिकता को बढ़ावा दे सकता है। इसके अलावा, यह पीढ़ियों के बीच असमानताओं को कायम रख सकता है, जिससे सफलता और विफलता के बीच कृत्रिम अलगाव हो सकता है।

समतावादी अवसर की समानता को अस्वीकार नहीं करते हैं, लेकिन वे व्यापक समझ की वकालत करते हैं। वे हर किसी को सार्थक और संतोषजनक तरीके से अपनी क्षमताओं को विकसित करने के साधन प्रदान करना चाहते हैं। केवल प्रक्रियाओं पर ध्यान केंद्रित करने के बजाय, उनके लिए अवसर की वास्तविक समानता का अर्थ ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ बनाना है जो सभी व्यक्तियों को पूर्ण जीवन जीने में सक्षम बनाती हैं। लक्ष्य यह सुनिश्चित करना नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति एक सार्थक जीवन प्राप्त करे, बल्कि एक ऐसा ढाँचा स्थापित करना है जहाँ ऐसे जीवन का अवसर सभी के लिए सुलभ हो।

9.4.3 परिणामों की समानता

समानता की अवधारणा पर एक और दृष्टिकोण परिणामों की समानता पर केंद्रित है, जो जीवन के शुरुआती बिंदु से अंतिम परिणाम पर ध्यान केंद्रित करता है। उल्लेखनीय रूप से, मार्क्स जैसे लोगों ने तर्क दिया कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था द्वारा बाधित समानता की कोई भी धारणा स्वाभाविक रूप से सीमित है। मार्क्स ने पूर्ण सामाजिक समानता की वकालत की, एक ऐसी दृष्टि जिसे केवल निजी संपत्ति के उन्मूलन के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। परिणामों की समानता के समर्थकों का तर्क है कि जब तक समान परिणामों का आश्वासन नहीं होता, समानता के अन्य रूपों की गारंटी अपर्याप्त रहती है।

परिणामों की समानता के विरोधियों का दावा है कि इसके अनुसरण से गतिरोध, अन्याय और यहाँ तक कि अत्याचार भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, हेयक का मानना है कि चूंकि व्यक्तियों की अलग-अलग आकांक्षाएं और लक्ष्य होते हैं, इसलिए उनके साथ समान व्यवहार करने से असमानता हो सकती है। आलोचकों का तर्क है कि समानता की मुहिम व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कीमत पर आ सकती है। उनका तर्क है कि समाजवादी समतावादी उपायों का कार्यान्वयन व्यक्तिगत गरिमा और आत्म-सम्मान को कमजोर करता है, और इसके साथ जुड़ा पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण व्यक्तियों को तर्कसंगत विकल्प बनाने की क्षमता से वंचित करता है।

9.5 समानता और नारीवाद

नारीवादी समानता के मुद्दे को जब हम लैंगिक दृष्टिकोण से देखते हैं, तो यह स्पष्ट होता है कि केवल समान अवसर या पुनर्वितरणात्मक न्याय को बढ़ावा देने वाले कानून ही वास्तविक समानता की गारंटी नहीं दे सकते। इस विमर्श **में सुज़ैन ओकिन (Susan Moller Okin)**की प्रभावशाली कृति **Justice, Gender and the Family (1989)**उल्लेखनीय है, जिसमें वे कहती हैं, **"Gender-structured family roles are at the heart of the problem of justice for women."**
वे इस बात पर ज़ोर देती हैं कि भले ही कानून लिंग-निरपेक्ष प्रतीत हों, वे एक ऐसे सामाजिक ढांचे में काम कर रहे होते हैं जो पहले से ही लैंगिक असमानता से ग्रस्त है। कई सामाजिक मानदंड और पारिवारिक संरचनाएँ, जो महिलाओं के खिलाफ सीधे भेदभाव नहीं करतीं, फिर भी उनके संचयी प्रभाव से महिलाओं को सीमित भूमिकाओं में कैद कर देती हैं।

ओकिन का तर्क है कि करियर बनाने वाली विवाहित महिलाओं को अक्सर "द्वैध उत्तरदायित्व" (dual responsibilities) उठाने पड़ते हैं - एक ओर पेशेवर दुनिया की माँगें, और दूसरी ओर घरेलू काम व बच्चों की देखभाल की अपेक्षाएँ। यह असमानता प्राकृतिक नहीं बल्कि सामाजिक रूप से निर्मित है।

इसी संदर्भ में **कैरल पेटमैन (Carole Pateman)**की**The Sexual Contract (1988)**को भी समझना ज़रूरी है, जिसमें वे लिखती हैं:
"The original contract is a sexual contract: it establishes men’s political right over women."
पेटमैन तर्क देती हैं कि सामाजिक अनुबंध की पारंपरिक कल्पना पुरुष प्रभुत्व की एक व्यवस्था को वैध करती है और सार्वजनिक-निजी विभाजन के ज़रिए महिलाओं को 'निजी' क्षेत्र तक सीमित कर देती है - विशेषकर परिवार की सीमाओं में।

इसके अतिरिक्त आइरिस **मैरियन यंग (Iris Marion Young)**की दृष्टि में न्याय केवल संसाधनों के वितरण का सवाल नहीं है, बल्कि उसमें निर्णय लेने की शक्ति, सांस्कृतिक मान्यता, और सामाजिक विभाजन का भी समावेश होना चाहिए। वे कहती हैं:

"Oppression cannot be reduced to economic disadvantage; it is also rooted in social structures and cultural norms."

नारीवादी विश्लेषण इस बात पर ज़ोर देता है कि महिलाओं द्वारा सामना की जाने वाली वास्तविक असमानता - जैसे पारिवारिक निर्णयों में सीमित भूमिका, बच्चों की देखभाल की एकतरफा जिम्मेदारी, कार्यबल में कम भागीदारी - यह सब किसी 'स्वाभाविक चुनाव' का परिणाम नहीं है, बल्कि यह सामाजिक भूमिका-निर्माण और सांस्कृतिक अपेक्षाओं का नतीजा है।

हालाँकि नारीवादी इस बात को लेकर एकमत नहीं हैं कि राज्य को पारिवारिक ढांचे में हस्तक्षेप करना चाहिए या नहीं। कुछ नारीवादियों को इस बात की चिंता है कि राज्य की दखलअंदाज़ी महिलाओं की स्वायत्तता पर प्रतिकूल असर डाल सकती है। फिर भी, सामाजिक प्रथाओं और निर्मित भूमिकाओं में मौजूद लैंगिक असमानता को पहचानना और उसके लिए जवाबदेही तय करना ज़रूरी है।

लैंगिक समानता की दिशा में सार्थक प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि महिलाएं स्वयं अपनी असमान स्थिति और पारिवारिक अधीनता के प्रति सजग हों, और सक्रिय रूप से इन ढांचों को पुनर्गठित करने की प्रक्रिया में भाग लें। जैसा कि **बेल हुक्स (Bell Hooks)**लिखती हैं:

"Feminism is for everybody - it is about creating a world free of domination, regardless of gender."

अतः जब महिलाएं सामाजिक संरचनाओं को पुनः परिभाषित करने में भाग लेती हैं, तभी हम एक ऐसी दुनिया की कल्पना कर सकते हैं जहाँ लैंगिक न्याय केवल नीतियों का लक्ष्य नहीं, बल्कि सामाजिक यथार्थ बन सके।

9.6 स्वतंत्रता और समानता के मध्य संबंध: एक आलोचनात्मक दृष्टि

स्वतंत्रता और समानता आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत की दो ऐसी आधारभूत अवधारणाएँ हैं, जिनके बीच संबंध को लेकर व्यापक मतभेद और बहसें देखी गई हैं। कभी इन्हें एक-दूसरे का विरोधी बताया गया, तो कभी पूरक। इस खंड में इन दोनों के पारस्परिक संबंधों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करते हुए यह समझने का प्रयास किया जाएगा कि क्या वास्तव में ये मूल्य परस्पर विरोधी हैं, या लोकतांत्रिक समाज में एक-दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करते हैं।

1. वरोध का सद्धांत: स्वतंत्रता बनाम समानता

राजनीतिक दर्शन में प्रारंभिक दृष्टिकोण यह रहा कि यदि समाज में सभी व्यक्तियों को असीम स्वतंत्रता दी जाए, तो समाज में असमानता बढ़ेगी। जो व्यक्ति पहले से शक्तिशाली या संसाधनों से संपन्न हैं, वे अपनी स्वतंत्रता का उपयोग कर अन्य वर्गों पर वर्चस्व स्थापित कर लेंगे। दूसरी ओर, यदि राज्य समानता लाने के लिए स्वतंत्रता पर अंकुश लगाए, तो यह व्यक्तिवाद, रचनात्मकता और नवाचार के अवसरों का दमन करेगा।

आइज़ैया बर्लिन (Isaiah Berlin)ने इस द्वंद्व को स्पष्ट करते हुए 'नकारात्मक' और 'सकारात्मक' स्वतंत्रता के बीच अंतर किया और चेतावनी दी कि जब राज्य सकारात्मक स्वतंत्रता के नाम पर अत्यधिक हस्तक्षेप करता है, तो यह व्यक्तिगत अधिकारों के लिए खतरा बन सकता है।

2. पूरकता का सिद्धांत: स्वतंत्रता और समानता के सह-अस्तित्व की धारणा

आधुनिक लोकतांत्रिक अवधारणाएं इस निष्कर्ष पर पहुँची हैं कि स्वतंत्रता और समानता विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के**पूरक और सहायक मूल्य**हैं। स्वतंत्रता तभी वास्तविक और व्यापक होती है जब वह सभी के लिए समान रूप से उपलब्ध हो; और समानता तभी सार्थक होती है जब व्यक्ति को अपनी प्रतिभा के विकास की स्वतंत्रता प्राप्त हो।

जॉन लॉक (John Locke)ने समानता को प्राकृतिक अधिकारों की नींव माना और कहा कि सभी व्यक्ति जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के मामले में समान अधिकार रखते हैं। **रूसो (Rousseau)**ने स्पष्ट किया कि समाज में असमानता प्राकृतिक नहीं बल्कि कृत्रिम है, और लोकतंत्र की सच्ची भावना तभी फलित हो सकती है जब**सामाजिक अनुबंध**के तहत व्यक्ति समानता और स्वतंत्रता दोनों का उपभोग कर सके।

अम्बेडकरका दृष्टिकोण भारत के संदर्भ में विशेष प्रासंगिक है। वे मानते थे कि जब तक**सामाजिक और आर्थिक असमानता**बनी रहेगी, तब तक राजनीतिक स्वतंत्रता केवल एक ‘मिथ्या वादा’ बनकर रह जाएगी। उन्होंने सामाजिक लोकतंत्र को राजनीतिक लोकतंत्र की नींव बताया।

3. स्वतंत्रता और समानता की अंत:निर्भरता के प्रमुख पक्ष

स्वतंत्रता और समानता को एक-दूसरे का आधार मानते हुए हम निम्नलिखित विश्लेषण कर सकते हैं-

(i) **राजनीतिक समानता के बिना स्वतंत्रता अधूरी है**

यदि कुछ वर्गों को ही मताधिकार या सत्ता-साझेदारी का अधिकार प्राप्त है, तो अन्य वर्गों की स्वतंत्रता अर्थहीन हो जाती है।

(ii) **नागरिक समानता के बिना स्वतंत्रता असमान रूप से वितरित होती है**

वर्ण, लिंग, जाति या धर्म के आधार पर कोई वर्ग नागरिक अधिकारों से वंचित है, तो वह वर्ग स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर सकता।

(iii) **सामाजिक समानता स्वतंत्रता का वास्तविक आधार है**

जातिगत भेदभाव, लिंग भेद और अन्य सामाजिक बाधाएँ व्यक्ति की आत्मनिर्भरता और आत्म-सम्मान को बाधित करती हैं।

(iv) **आर्थिक समानता स्वतंत्रता की व्यवहारिक शर्त है**

जब संसाधनों का केंद्रीकरण कुछ वर्गों में हो जाता है, तो वे ही नीति निर्धारण, शिक्षा, स्वास्थ्य और अवसरों पर नियंत्रण कर लेते हैं, जिससे बहुसंख्यक वर्ग स्वतंत्रता से वंचित हो जाता है।

कार्ल मार्क्स (Karl Marx)ने इसी संदर्भ में कहा कि जब तक उत्पादन के साधनों पर पूँजीपति वर्ग का नियंत्रण रहेगा, तब तक स्वतंत्रता केवल विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के लिए ही होगी।

4. आलोचनात्मक मूल्यांकन

- **अत्यधिक समानता लागू करना**-जैसे समाजवाद की कुछ व्याख्याओं में देखा गया- व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन कर सकता है।

- वहीं **निर्बाध स्वतंत्रता**-जैसे नवउदारवादी विचारधाराओं में-सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को गहरा करती है।

इस द्वन्द्व को समझने के लिए **संतुलन की अवधारणा** को केंद्र में लाना होगा। **जे. एस. मिल (J. S. Mill)** इस दृष्टिकोण के प्रवक्ता हैं, जो मानते हैं कि स्वतंत्रता की रक्षा आवश्यक है, लेकिन यह भी ज़रूरी है कि समाज सभी के लिए **न्यायसंगत अवसरों** की व्यवस्था करे।

स्वतंत्रता और समानता को परस्पर विरोधी मानना एक **अतिसरलीकृत दृष्टिकोण** है। लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के लिए दोनों मूल्यों का **संतुलित समन्वय** आवश्यक है। **फ्रांसीसी क्रांति** के आदर्श-**"Liberty, Equality, Fraternity"**-इस सन्तुलन का प्रतीक हैं।

डा. आर्शीवादम्के शब्दों में-

"फ्रांस के क्रांतिकारी न तो मूर्ख थे, न पागल, जब उन्होंने स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा दिया। उन्होंने समझा था कि ये तीनों मूल्य केवल संयुक्त होकर ही किसी समाज को न्यायपूर्ण बना सकते हैं।"

इसलिए, आज के जटिल सामाजिक और राजनीतिक परिदृश्य में, जब आर्थिक विषमता और सामाजिक विभाजन लगातार बढ़ रहे हैं, स्वतंत्रता और समानता को एक-दूसरे के पूरक के रूप में देखना **केवल सैद्धांतिक आवश्यकता नहीं**, बल्कि **राजनीतिक विवेक का प्रश्न** है।

अभ्यास प्रश्न

1.समानता की अवधारणा क्या हासिल करना चाहती है?

क) व्यक्तियों के बीच विभाजन और भेदभाव

ख) सभी के लिए उचित व्यवहार और निष्पक्षता

ग) सामाजिक आर्थिक असमानताएँ और असमानताएँ

घ) सीमित अवसर और संसाधनों तक पहुंच

2. समानता के संदर्भ में, "समान अवसर" से क्या तात्पर्य है?

क) कुछ समूहों को प्राथमिकता देना

ख) व्यक्तियों के साथ उनकी पृष्ठभूमि के आधार पर अलग-अलग व्यवहार करना

ग) यह सुनिश्चित करना कि सभी को सफलता और उन्नति की समान संभावना मिले

घ) संसाधनों और अवसरों तक पहुंच को प्रतिबंधित करना

3. कौन सा शब्द व्यक्तियों की जाति, लिंग या अन्य विशेषताओं के आधार पर उनके साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार को संदर्भित करता है?

क) समानताब) भेदभाव स) निष्पक्षता द) व्यक्तिवाद

4. समानता की खोज सामाजिक कल्याण नीतियों को कैसे प्रभावित करती है?

अ) यह सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों के महत्व को कम करता है

ब) इससे सामाजिक सुरक्षा जाल ख़त्म हो जाता है

स) यह उन नीतियों के कार्यान्वयन को प्रोत्साहित करता है जो सामाजिक असमानताओं को संबोधित करती हैं

द) यह कुछ सामाजिक समूहों के लिए अधिमान्य उपचार को बढ़ावा देता है

9.7 सारांश

समानता की अवधारणा आधुनिक समाज के एक शक्तिशाली और आवश्यक स्तंभ के रूप में खड़ी है, जो सभी व्यक्तियों के लिए निष्पक्षता, न्याय और मानवीय गरिमा की वकालत करती है। यह एक ऐसी दुनिया के दृष्टिकोण का प्रतीक है जहां प्रत्येक व्यक्ति को, उनकी पृष्ठभूमि या विशेषताओं के बावजूद, समान अवसर, अधिकार और संसाधनों तक पहुंच प्रदान की जाती है। समानता की खोज ने ऐतिहासिक आंदोलनों को बढ़ावा दिया है, विधायी सुधारों को आकार दिया है, और भेदभाव का मुकाबला करने और समावेशी समाज बनाने के लिए अथक सक्रियता को प्रेरित किया है।

हालाँकि प्रगति हुई है, सच्ची समानता प्राप्त करना एक सतत और जटिल प्रयास बना हुआ है, जिसके लिए गहरी जड़ें जमा चुकी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक असमानताओं को दूर करने के लिए निरंतर प्रयासों की आवश्यकता है। जैसे ही हम अपने समय की चुनौतियों से निपटते हैं, समानता की अवधारणा एक मार्गदर्शक प्रकाशस्तंभ के रूप में कार्य करती है, जो हमें अधिक दयालु, न्यायपूर्ण और सामंजस्यपूर्ण दुनिया के लिए प्रयास करने के लिए प्रोत्साहित करती है, जहां हर किसी की क्षमता का पोषण और जश्न मनाया जाता है। समानता के प्रति प्रतिबद्धता न केवल समाज के ताने-बाने को समृद्ध करती है बल्कि यह भी सुनिश्चित करती है कि प्रत्येक व्यक्ति सम्मान के साथ जी सके और मानवता की भलाई में अपने अद्वितीय योगदान दे सके।

9.8 शब्दावली

समानता- सभी के लिए निष्पक्षता और भेदभाव रहित व्यवहार, समान अवसर-सभी को सफलता और उन्नति के समान अवसर प्रदान करना, असमानता- अवसरों और संसाधनों में असमानताएं और अंतर।

9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ख 2. ग 3. ब 4. स

9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजनीतिक सिद्धांत अवधारणाएँ एवं विमर्श- संपादक बलवान गौतम, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय

2. आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत- डॉ. पुखराज जैन, डॉ बी. एल. फड़िया

3. डॉ0 गार्नर - पॉलिटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेंट

4.ऑस्टिन-लेक्चर्सऑन जुरिसप्रडेंस

5.गेटिल-पोलिटिकल साइंस

6.डॉ. पुखराज जैन -- राजनीतिक सिद्धान्त

7.एस.सी. सिंघल--- राजनीतिक सिद्धान्त

8.ओ.पी.गाबा - राजनीतिक सिद्धान्त

9.जे.सी.जौहरी -- राजनीतिक सिद्धान्त

9.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.वीरकेश्वर प्रसाद -राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, ज्ञानदा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली

2.डी0डी0 राफेल - राजनीतिक दर्शन की समस्यायें, मैकमिलन लन्दन

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. समानता का अर्थ और परिभाषा बताते हुए समानता के विविध रूपों की चर्चा कीजिये।
2. स्वतंत्रता और समानता के मध्य संबंधों का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिये।
3. समानता और नारीवाद के मध्य संबंधो पर चर्चा कीजिये।

इकाई-10 अधिकार

इकाई संरचना

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 परिचय व परिभाषा

10.4 अधिकार सम्बन्धी सिद्धांत

10.4.1अधिकारों का प्राकृतिक सिद्धांत

10.4.2 अधिकारों का वैधानिक सिद्धांत

10.4.3 अधिकारों का एतिहासिक सिद्धांत

10.4.4 अधिकारों का उपयोगितावादी या समाज कल्याण सिद्धांत

10.4.5 अधिकारों का आदर्शवादी या दार्शनिक सिद्धांत

10.5 अधिकारों के प्रकार

10.6 अधिकारों का वर्गीकरण

10.6.1नागरिक या सामाजिक अधिकार

10.6.2 राजनितिक अधिकार

10.7 विश्व व्यापी मानवाधिकार घोषणा

10.8 सारांश

10.9 शब्दावली

10.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

10.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

10.13 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

अधिकारों की अवधारणा आधुनिक राजनीतिक चिंतन और नागरिकता के केंद्र में स्थित है। प्राचीन काल से ही राजनीतिक चिंतक व्यक्ति और राज्य के बीच संबंध पर विचार करते आए हैं, और अधिकार हमेशा इस चर्चा का प्रमुख विषय रहे हैं। प्राचीन यूनान में केवल कुछ विशेष लोगों को ही

नागरिक अधिकार प्राप्त थे, जिनमें राजनीतिक जीवन में भागीदारी और सार्वजनिक पद धारण करने का अधिकार शामिल था। समय के साथ अधिकारों की यह धारणा विकसित हुई जो आधुनिक काल में मानवाधिकारों का रूप लेती हैं।

आज अधिकारों को सार्वभौमिक, अंतर्निहित और मानवीय गरिमा के लिए अनिवार्य माना जाता है। हालांकि रोज़मर्रा की बातचीत में हम इनका सहज उपयोग करते हैं, लेकिन इनका वास्तविक अर्थ जटिल बना हुआ है। जब हम कहते हैं कि किसी के पास कोई "अधिकार" है, तो उसका वास्तव में क्या तात्पर्य है? ये अधिकार कौन सुनिश्चित करता है? यह इकाई अधिकारों, अधिकारों के प्रकार, अधिकार का वर्गीकरण तथा अधिकारों से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप-

1. अधिकार को परिभाषित कर सकेंगे

2. अधिकार सम्बन्धी सिद्धांतों को समझ सकेंगे

3.विभिन्न प्रकार के अधिकारों का वर्गीकरण कर सकेंगे

10.3 परिचय व परिभाषा

अधिकार का सामान्य अर्थ उन सुविधाओं और परिस्थितियों से है, जो सभ्य समाज के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति के सर्वागीण विकास के लिए आवश्यक है। अधिकारों की धारणा का सम्बन्ध एक ओर व्यक्तियों की स्वतंत्रताओं से तथा दूसरी ओर राज्य की गतिविधियों के क्षेत्र से है। इस सम्बन्ध में लास्की ने लिखा है, "प्रत्येक राज्य अपने द्वारा प्रदान किये गये अधिकारों से आंका जाता है, विना अधिकारों के स्वतंत्रता का आस्तित्व ही सम्भव नहीं है।" प्रत्येक मनुष्य में कुछ अन्तर्निहित शक्तियों होती है, इन शक्तियों के विकास से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है, लेकिन उन शक्तियों के विकास के लिए मनुष्य को कुछ सुविधाओं की आवश्यकता होती है। सुविधाओं की प्राप्ति के लिए मनुष्य समाज के समक्ष कुछ मॉगे रखता है। ये मॉगे अनेक प्रकार की हो सकती है कुछ पूर्णतः स्वार्थ जनित, कुछ जनहित में तथा कुछ तटस्थ। समाज में प्रायः उन मॉगों को मान लिया जाता है जो

सार्वजनिक हित में हों तथा तटस्थ प्रगति की हो। समाज द्वारा स्वीकृत ऐसी मॉगों को, जिन्हें राजनीतिक सत्ता द्वारा भी अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी जाती है, अधिकार कहते है।

अधिकारों को अनेक विद्वानों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है। कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाऐं निम्नांकित है :-

ग्रीन के अनुसार "अधिकार सामान्य सद्गुण में योगदान के उद्देश्य से प्रस्तुत और मान्यता प्राप्त एक मॉग है।"

बाइल्ड के अनुसार "अधिकार कुछ महत्वपूर्ण कार्यों को करने की स्वतंत्रता की उचित मॉग है।"

बार्कर के अनुसार "अधिकार व्यक्तित्व की क्षमताओं के अधिकतम् संभव विकास के लिए आवश्यक वाह्य दशाएँ है।"

बोसांके के अनुसार "अधिकार वे मॉग है जिन्हें समाज द्वारा स्वीकृत किया जाता है और राज्य द्वारा लागू किया जाता है।"

लास्की ने अधिकारों को परिभाषित करते हुए लिखा कि "अधिकार सामाजिक जीवन की वे आवश्यक परिस्थितियों है जिनके बगैर एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता है।"

उपरोक्त विद्वानों की परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर अधिकार के सम्बन्ध में निम्लिखित महत्वपूर्ण तत्व प्रकाश में आते हैं-

1. अधिकार समाज की सृष्टि है। समाज द्वारा स्वीकृत होने के बाद ही माँगें अधिकार का रूप लेती हैं। प्रायः कुछ विद्वान अधिकारों को राज्य की सृष्टि मानते हैं, वस्तुतः ऐसा नहीं है। जैसा कि लॉस्की ने इस सन्दर्भ में स्पष्ट किया है, "राज्य अधिकारों की सृष्टि नहीं करता अपितु उन्हें अपनी स्वीकृति प्रदान करता है तथा किसी समय राज्य के स्वरूप को समाज द्वारा प्रदत्त अधिकारों की मान्यता के आधार पर ही समझा जा सकता है।"

2. समाज के बाहर अधिकारों की सृष्टि नहीं होती है। समाज द्वारा स्वीकृत न किये जाने पर किसी मॉग को बल पूर्वक कार्य रूप में लाया जा सकता है। उस दशा में अधिकार, अधिकार नहीं अपितु शक्ति हो जाते हैं। यह हॉब्स की प्राकृतिक दशा का चित्र होता है। कार्य रूप में इसका परिणाम यह

होगा कि समाज अस्त-व्यस्त हो जायेगा। अतः मॉग के पीछे समाज की स्वीकृति आवश्यक है। अधिकार समाज में ही सम्भव हैं। शून्य में व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं हो सकते। इसीलिए विद्वानों द्वारा बार-बार यह कहा जाता है कि राबिन्सन क्रूसो जैसे व्यक्ति के निर्जन टापू में कोई अधिकार नहीं थे।

3. अधिकारों का स्वरूप आवश्यक रूप से जनकल्याणकारी होता है। उनका आधार ही सामाजिक कल्याण है। मैकन ने तो अधिकारों को इसी दृष्टि से परिभाषित करते हुए कहा कि, "अधिकार सामाजिक हित के लिए कुछ लाभदायक परिस्थितियों है जो कि वास्तविक विकास के लिए अनिवार्य हैं।" अधिकारों के माध्यम से व्यक्ति और समाज के हितों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है। अतः यह आवश्यक है कि उन्हीं मोंगों को स्वीकृति प्रदान की जाये जो इस ध्येय की प्राप्ति में सहायक हो। यही कारण है व्यक्ति को कभी भी ऐसे कार्यों को करने की स्वतंत्रता प्रदान नहीं की जाती है जो उसने व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में बाधक हो, जैसे-जुआ खेलना, शराब पीना, आत्महत्या करना आदि। इन कार्यों से समाज के सामूहिक हित में भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

4. अधिकारों का सामूहिक हित से सम्बद्ध होना इस बात को तय करता है कि अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर आबद्ध हैं। एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे का कर्त्तव्य है। अतः अधिकारों का उपभोग उसी दशा में हो सकता है जब व्यक्ति दूसरे के अधिकारों को भी स्वीकार कर ले। कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए ही व्यक्तियों को समाज द्वारा अधिकार प्रदान किये जाते हैं। हॉब्स ने इस सम्बन्ध में लिखा, "अधिकार और कर्त्तव्य सामाजिक कल्याण की दशाएँ हैं। समाज के प्रत्येक सदस्य का इस कल्याण के प्रति द्वैध सम्बन्ध है। उसका उसमें एक भाग है, वह उसके अधिकार हैं। उसको इसमें एक भाग लेना है- वह उसके कर्त्तव्य हैं।"

5. अधिकार एक महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि उसकी प्रत्याभूति राज्य द्वारा प्रदान की जानी चाहिए। राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अधिकारों के पालन की उचित व्यवस्था बनाये। व्यक्तित्व के विकास की परिस्थितियों को समाज द्वारा स्वीकृति मिलने पर भी तब तक वे अधिकार नहीं कहला सकते है जब तक कि राज्य उनके संरक्षण व पालन की जिम्मेदारी अपने ऊपर न ले लें। अर्थात् उन्हें अपनी स्वीकृति प्रदान न कर दें। राज्य की स्वीकृति के अभाव में ऐसी मॉगे परम्पराऐं व रीति-रिवाज हो सकती है अधिकार नहीं। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए बोसांके ने कहा कि अधिकार वह मॉग है जिसे समाज स्वीकार करता है और राज्य लागू करता है।

इस विश्लेषण से निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास की अपरिहार्य परिस्थितियों है। जिसका स्वरूप सामाजिक व कल्याणकारी होता है, जिसका प्रयोग

लोकहित में किया जाता है जो इसे सार्वभौमिकता का गुण प्रदान करता है। राज्य अधिकार को अपना संरक्षण प्रदान करता है। अधिकार विकासशील होते है तथा कर्त्तव्यों से सीमित होते हैं। इनका मूल आधार समानता का दर्शन है। अधिकार नैतिकता व सदाचार के साथ लिपटे होने चाहिए।

10.4 अधिकार सम्बन्धी सिद्धांत

प्रमुख अधिकार सम्बन्धी सिद्धांत जैसे की प्राकृतिक सिद्धांत, वैधानिक सिद्धांत, एतिहासिक सिद्धांत, उपयोगितावादी सिद्धांत व आदर्शवादी सिद्धांत नीचे विस्तार से समझाए गए हैं।

10.4.1 अधिकारों का प्राकृतिक सिद्धान्त

यह सिद्धान्त मूलतः 17वीं व 18वीं शताब्दी में समझौतावादियों द्वारा विकसित किया गया। यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार जन्म के साथ प्राप्त होते है और प्राकृक्तिक होते है। मूलतः 17वीं व 18वीं शताब्दी में इस सिद्धान्त को हॉब्स, लॉक व रूसो जैसे समझौतावादियों ने प्रतिपादित किया व मिल्टन, टॉमस पेन, हर्बर्ट स्पेन्सर, वाल्टेयर आदि विद्वानों ने इसका विकास किया। हॉब्स, लॉक, रूसो जो सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादक है, इस सिद्धान्त का सबसे प्रबल समर्थन किया। इनके अनुसार मनुष्य को कुछ अधिकार राज्य की स्थापना से ही पूर्व प्राप्त थे और ये अधिकार जन्मजात है। इन अधिकारों की रक्षा के लिए व्यक्ति ने अन्य व्यक्तियों के साथ समझौता किया और अपने इन अधिकारों में से कुछ को अपने से उच्च सत्ता को सौप दिया। लॉक के अनुसार व्यक्ति को जीवन, स्वतंत्रता व सम्पत्ति के अधिकार प्राप्त है। लॉक का मत है कि "सभी मनुष्य स्वतंत्र और बुद्धियुक्त पैदा होते है और समाज में आने से पहले ही व्यक्ति को ये अधिकार प्राप्त है।"

हॉब्स ने प्राकृतिक अधिकारों के सम्बन्ध में लिखा कि, "मनुष्य के समस्त अधिकार प्राकृतिक है प्रत्येक मनुष्य का प्रत्येक वस्तु पर यहाँ तक कि दूसरे व्यक्ति के शरीर पर तक उसका अधिकार है।" लॉक ने भी मनुष्य के जीवन, स्वतंत्रता व सम्पत्ति के अधिकारों को नैसर्गिक शोषित किया।

प्राकृतिक अधिकारों के सम्बन्ध में आशीर्वादम ने लिखा है, "प्राकृतिक अधिकार उसी प्रकार मनुष्य की प्रकृति के भाग है, जिस प्रकार मनुष्य की त्वचा और उसका रंग।" ग्रीन व अन्य आदर्शवादियों ने

प्राकृतिक अधिकारों से नैतिक अधिकारों का तात्पर्य लगाया। इस सिद्धान्त का राजनीतिक क्षेत्र में व्यापक प्रभाव पड़ा।

इस सिद्धान्त के प्रभाव से फ्रांस की क्रान्ति (1789) को बल मिला, जिससे स्वतंत्रता, समानता व भ्रातृत्व जैसी घोषणाओं का जन्म हुआ और अमरीकी स्वतंत्रता (1776) के प्रेरक के रूप में कार्य किया। संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) के विश्वव्यापी घोषणा पत्र (1948) में प्राकृतिक अधिकारों को मान्यता दी गई। वर्जिनिया के संविधान में यह वर्णित है कि स्वभावतः सब मनुष्य उन्मुक्त व स्वाधीन हैं व उसके कुछ जन्मजात अधिकार हैं जो समाज को किसी अनुबंध द्वारा उनकी संतानों से पृथक नहीं किये जा सकते। अमेरिका स्वतंत्रता की घोषणा (1776 ई०) में यह कहा गया कि, "हम इसे नितांत सत्य मानते हैं कि ईश्वर ने सभी मनुष्यों को समान पैदा किया। हम ये भी मानते है कि ईश्वर ने सभी को कुछ अविच्छेदनीय अधिकार दिये हैं।"

आलोचना:- अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्त ने उस समय व्यक्ति के महत्व एवं मूल्यों को स्थापित किया, जब व्यक्ति पशुओं की तरह समझा जाता था। किन्तु वर्तमान में इस सिद्धान्त को अधिक महत्व नहीं दिया गया और उसकी आलोचना हुई।

1. प्राकृतिक शब्द को भ्रामक व अस्पष्ट बताया गया तथा यह कहा गया कि इस सिद्धान्त में जिस प्राकृतिक शब्द का प्रयोग किया गया है, वह अनिश्चित है तथा उसका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं हैं।

2. इस सिद्धान्त में अधिकारों को प्रकृति की देन बता कर उन पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं लगाया गया। लेकिन व्यवहार में स्वतंत्रता के अधिकार पर नियंत्रण होना चाहिए। नहीं तो प्रतिबन्ध के अभाव में स्वतंत्रता, अराजकता में बदल जायेगी और समानता मात्र कल्पना बन कर रह जायेगी।

3. प्राकृतिक अधिकारों में पारस्परिक विरोध है। क्योंकि यदि अधिकारों पर नियंत्रण को स्वीकार कर लिया जाय तो स्वतंत्रता व समानता के अधिकार परस्पर विरोधी हो जायेंगे और इनमें से किसी का भी उपभोग नहीं किया जा सकेगा।

4. इस सिद्धान्त ने राज्य को एक कृत्रिम संस्था माना है, जबकि राज्य एक शाश्वत संस्था है। जिसने कानूनों के द्वारा अधिकारों का हनन् नहीं वरन् रक्षा की है।

5. इस सिद्धान्त ने समाज से अलग रहकर अधिकारों को जन्म दिया, जबकि ऐसा सम्भव नहीं है। समाज से अलग रहकर व्यक्ति के पास शक्तियों हो सकती है अधिकार नहीं।

प्रो० हाकिंग ने प्राकृतिक अधिकारों की आलोचना करते हुए कहा कि, "मेरे प्राकृतिक अधिकार यह नहीं बताते है कि इनकी सीमा कहाँ तक है।" दूसरी ओर लार्ड ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की आलोचना आदर्शवादी दृष्टिकोण से की है। उसके अनुसार, "इस सिद्धान्त में अधिकारों के स्वरूप पर ध्यान न देकर प्रकृति के स्वरूप पर अधिक ध्यान दिया गया है।"

इन आलोचनाओं के बावजुद भी अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्त को महत्व दिया गया है, क्योंकि प्राकृक्तिक अधिकार वे अधिकार है जिनके उपमोग से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। इन अधिकारों से व्यक्ति को वंचित नहीं किया जा सकता है।

10.4.2 अधिकारों का वैधानिक सिद्धान्त

अधिकारों का वैधानिक सिद्धान्त प्राकृतिक अधिकरों के सिद्धान्त के एकदम विपरीत है। वैधानिक सिद्धान्त के अनुसार अधिकार प्राकृतिक या स्वाभाविक नहीं वरन् निर्मित है। अधिकारों की सृष्टि राज्य करता है और उसका पोषक भी वही करता है। यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि राज्य की इच्छा के विरूद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं होते। राज्य हमारे पुराने अधिकारों को छीन सकता है व नये अधिकार प्रदान कर सकता है। अधिकार राज्य द्वारा ही प्रदान किए जाते है और राज्य ही यह निर्धारित करता है कि अधिकारों का उपभोग किन परिस्थितियों में और किन सीमाओं में रहकर करना है। राज्य यह सुनिश्चित करता है कि सामाजिक हित में व्यक्ति के अधिकारों पर प्रतिबन्ध भी लगाया जा सकता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों में, हॉब्स, बेन्थम और ऑस्टिन प्रमुख है। इनके अनुसार अधिकारों के मापदण्ड का आधार नैतिक न होकर वास्तविकता है तथा अधिकारों की उत्पत्ति राज्य से होती है। अधिकार कानून की कृति है, चूंकि कानून सम्प्रभु की आज्ञा है, इससे स्पष्ट होता है कि अधिकारों का अस्तित्व राज्य में ही सम्भव है।

आधुनिक काल में इस सिद्धान्त को यर्थाथवादी सिद्धान्त कहा जाता है क्योंकि यहाँ अधिकारों का आधार नैतिक मापदण्ड नहीं वरन् वास्तविक यथार्थता है। वैधानिक सिद्धान्त की धारणा पर प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का काफी प्रभाव पड़ा। अमेरिकी संविधान के प्रथम दस संशोधनों द्वारा सन् 1791 ई० में अधिकारों को संवैधानिक तथा कानूनी रूप देने का आधार प्राकृतिक अधिकारों का ही सिद्धान्त था। प्राकृक्तिक अधिकार कानूनों के संरक्षण की तथा समाज की मान्यता की मांग करने लगे फलतः कानूनी अधिकारों का सिद्धान्त विकसित हुआ।

बेंथम ने अधिकारों के कानूनी पहलु पर अत्यधिक जोर देते हुए कहा "अधिकार कानूनों का तथा केवल कानूनों का फल है। बिना कानूनों के कोई अधिकार नहीं कानूनों के खिलाफ कोई अधिकार

नहीं तथा कानूनों के पहले कोई अधिकार नहीं।" वैधानिक अधिकार सिद्धान्त यह नहीं मानता कि अधिकार राज्य द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। वह केवल यह मानता है कि राज्य की मान्यता या कानूनों में संरक्षण के बिना अधिकार, अधिकार नहीं रहते। यह सिद्धान्त राज्य को तीन कार्य सौंपता है (1) अधिकार निश्चित करना (2) अधिकार के क्षेत्र के सीमाबद्ध करना तथा (3) अधिकारों के उपभोग के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना।

आलोचना :- इस सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचना हुई है:-

1. सत्ता अथवा राज्य के आदेश कानून का निर्माण नहीं करते, क्योंकि राज्य अधिकारों को जन्म नहीं देता, बल्कि उनकी रक्षा करता है और उन्हें मान्यता प्रदान करता है। इसी ओर संकेत करते हुए नार्मन वाइल्ड ने कहा, "राज्य अधिकारों को उत्पन्न नहीं करता उन्हें केवल मान्यता देता है व उनकी रक्षा करता है। अधिकारों का अस्तित्व अपने आप रहता है चाहे उन्हें कानूनी रूप मिले या नहीं। कानून द्वारा उन्हें लागू इसलिए किया जाता है कि वे अधिकार है। वे केवल इसलिए अधिकार नहीं बन जाते कि कानून उन्हें लागू करता है।"

2. यदि राज्य को ही अधिकारों का जन्मदाता मान लिया जाये तो राज्य निरंकुश व स्वेच्छाचारी हो जायेगा और राज्य अपनी सत्ता बचाये रखने के लिए व्यक्ति के अधिकारों का अंत कर देगा। स्पेंसर की स्पष्ट मान्यता है कि "राज्य अधिकारों की रचना नहीं करता, वैधानिक सिद्धान्तों का एक दोष यह है कि वह राज्य को अधिकारों का निर्माता स्वीकार कर लेता है। इसका अर्थ राज्य की निरंकुशता को स्वीकार करना होगा जो स्वीकार्य नहीं है।"

3. कुछ विचारकों का मानना है कि राज्य मात्र वैधानिक अधिकारों का ही निर्माण करता है, परन्तु इसे भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि राज्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अधिकारों को ही स्वीकृति प्रदान करता है।

4. लास्की ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा कि वैधानिक सिद्धान्त यह तो बतला सकता है कि अधिकारों का स्वभाव और चरित्र कैसा है, किन्तु यह नहीं बता सकता कि जिन अधिकारों को मान्यता दी गयी वे मान्यता के योग्य हैं भी अथवा नहीं। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए हॉकिंग ने कहा कि "कानून का एक समय विशेष स्वरूप है और जो होना चाहिए उन दोनों के मध्य सदैव भेद विद्यमान रहता है।"

10.4.3 अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त

ऐतिहासिक सिद्धान्त प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त की प्रतिक्रिया के रूप में सामने आया। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार इतिहास के परिणाम होते है। युगों से हम जिन रीति-रिवाजों व मान्यताओं का पालन करते आये है, उन्ही से अधिकारों का निर्माण हुआ है। अधिकारों का निर्माण न तो राज्य ने किया और न ही ये प्राकृतिक होते है। अधिकारों के पीछे लम्बे समय की शक्ति होती है। हम धीरे-धीरे जिन रीति-रिवाजों के अभ्यस्त होते जाते है और जिन्हें समाज स्वीकार कर लेता है, वे ही अधिकार बन जाते है। इस सम्बन्ध में प्रो० रिची ने कहा कि "जिन अधिकारों के बारे में व्यक्ति सोचता है वे उसे प्राप्त होने ही चाहिए जिनके वे अभ्यस्त होते है वे ही अधिकार होते है। डॉ० आशीर्वादम लिखते है, "इंग्लैण्ड की राज्य क्रान्ति केवल उन अधिकारों की पुनर्घोषणा थी जिनका उपयोग अंग्रेज लोग शुरू से करते आ रहे थे और 'मैग्नाकार्टा' और 'पेटीशन ऑफ राइटस' में व्यक्त किये जा चुके थे। कुछ लेखकों ने इंग्लैण्ड के सारे संवैधानिक इतिहास को स्वतंत्रता के बजाय 'अधिकारों' के लिए किये गये संघर्ष का इतिहास माना है।" आर०एम० मैकाइवर ने अपनी पुस्तक 'दि मार्डन स्टेट' में अधिकारों के ऐतिहासिक सिद्धान्त का समर्थन करते हुए लिखा है कि अधिकार युगों पुराने रीति-रिवाजों को एक कानूनी आज्ञा के रूप में राज्य की कार्यवाही होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" ऐतिहासिक सिद्धान्त के महत्व को स्वीकारते हुए बर्क कहते है, "इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति का आधार उनके रीति-रिवाजों पर आधारित अधिकार ही थे।" बर्क ने फ्रांसिसी क्रान्ति की आलोचना भी इसी आधार पर की थी कि क्रान्तिकारियों ने अमूर्त अधिकारों की चाह में सम्पूर्ण समाज को तहस-नहस कर डाला। बर्क ने कहा, जब मनुष्य अमूर्त अधिकारों की कल्पना में जुट जाता है तो समाज का युगों से चला आ रहा ढाँचा नष्ट हो जाता है अधिकार ऐतिहासिक उपलब्धियों है। समाज के दीर्घकालीन विकास के दौरान विभिन्न वर्ग और समूह अपना-अपना स्थान प्राप्त करके समाज में सामंजस्य तथा सहयोग पैदा करते हैं। यह सामंजस्य तथा सहयोग समाज की आत्मा है, जिस समाज में ये तत्व नष्ट हो जाते है वह समाज स्वतः नष्ट हो जाता है।" रिची, हीगल व ब्रैडले अधिकारों के ऐतिहासिक सिद्धान्त के प्रबल समर्थक थे।

आलोचना:- अधिकारों के ऐतिहासिक सिद्धान्त की आलोचना के निम्न आधार है।

1. ऐतिहासिक सिद्धान्त सभी अधिकारों को रीति-रिवाजों का परिणाम मानता है जो उचित नहीं है। क्योंकि समाज में व्याप्त जातीय भेदभाव को मिटाने में भारत में अल्प-संख्यकों को मंदिर में प्रवेश को

वैधता, रीति-रिवाजों से नहीं मिली, बल्कि लोकमत ने बिना किसी संकोच कारण इन्हे कानून बनाने में अपना समर्थन दिया।

2. इतिहास में विभिन्न समयों में प्रचलित सभी रीति-रिवाज समाज के हित में नहीं थे। सती-प्रथा, बाल-विवाह, बाल हत्या, दास-प्रथा आदि इन सभी से मानव का कल्याण नहीं होता, क्योंकि अधिकार मानव कल्याण और समाज हित में होते है, तो कैसे सभी रीति-रिवाज व मान्यताऐं अधिकार हो सकते है। अतः हाकिंग्स का यह कथन संतुलित प्रतीत होता है कि, "इतिहास की उपेक्षा नहीं की जा सकती परन्तु केवल इतिहास पर निर्भर नहीं रहा जा सकता है।"

10.4.4 अधिकारों का उपयोगितावादी या समाज कल्याण सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार समाज द्वारा प्रदान होते है तथा अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत कुछ मूलभूत सुविधाएँ है, जिनका उद्देश्य समाज कल्याण है। सामाजिक कल्याण का आय 'अधिकतम् व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण' से है। व्यक्ति की जो माँगे सामाजिक हित के अनुकूल नहीं होती, उन्हें अधिकार के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। वेन्थम, रोस्का पाउण्ड, लास्की और चैफी इस सिद्धान्त से जुड़े है। बैंथम के अनुसार, "अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख" समाज कल्याण है। लास्की कहते है कि, "जनहित के विरूद्ध मेरा कोई अधिकार नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें मात्र मेरा कल्याण जुड़ा है, लोक कल्याण नही।" इसी प्रकार चैफी ने उपयोगितावादी दृष्टिकोण अपनाते हुए कहा कि, "अधिकारों का निश्चय हितों के सन्तुलन से होता है। अतः केवल उन्हीं अधिकारों को प्रयोग में लाया जाना चाहिए, जो समाज के लिए कल्याणकारी हो। व्यक्ति की जो माँगें समाज कल्याण के विरूद्ध है, उन्हें कभी स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।"

10.4.5 अधिकारों का आदर्शवादी या दार्शनिक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का विकास 19वीं शताब्दी में आदर्शवादियों द्वारा किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मनुष्य द्वारा अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है। अधिकार वे बाहरी परिस्थितियाँ है जो व्यक्ति के विकास में सहायक होती है। अधिकारों का अस्तित्व एक आदर्श व्यक्तित्व का विकास माना गया है। इसे आदर्शवादी सिद्धान्त इसलिए कहा गया है क्योंकि अधिकारों का अस्तित्व व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास पर आश्रित कर दिया गया है। ग्रीन, लास्की, कान्ट, रूसो आदि विचारक इस सिद्धान्त के समर्थक है। यह सिद्धान्त प्राकृतिक सिद्धान्त की इस धारणा के बिल्कुल विपरीत है कि व्यक्ति को कुछ अधिकार प्राकृतिक तौर पर जन्म के साथ ही प्राप्त

होते है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को अधिकार नहीं बल्कि प्राकृतिक शक्तियाँ प्राप्त होती है। इन्ही प्राकृतिक शक्तियों का दूसरा नाम व्यक्तित्व का विकास है तथा व्यक्तित्व विकास को ही वे अधिकार प्राप्त होने चाहिए जो उसके विकास के लिए आवश्यक हो। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को ही वे अधिकार प्राप्त होने चाहिएजो उसके विकास के लिए आवश्यक हो। यह सिद्धान्त न तो प्राकृतिक सिद्धान्त की तरह अधिकारों की असीमितता की बात करता और न ही वैधानिकता सिद्धान्त की भॉति अधिकारों पर समाज व राज्य द्वारा मनचाहे प्रतिबन्ध की बात करता है। यह सिद्धान्त मध्यम मार्ग अपनाये हुए व्यक्ति के अधिकारों पर मात्र वे ही प्रतिबन्ध लगाता है जो अन्य व्यक्तियों के विकास में बॉधक हो।

10.5 अधिकारों के प्रकार

साधारण तौर पर अधिकारों को दो भागों में बांटा गया है 1) नैतिक अधिकार 2) वैधानिक या कानूनी अधिकार।

अधिकारों के प्रकार

नैतिक अधिकार

वैधानिक अधिकार

सामाजिक व नागरिक अधिकार

राजनीतिक अधिकार

1.समानता एवं नागरिक अधिकार

1.मत देने का अधिकार

A.राजनीतिक समानता का अधिकार

2.निर्वाचित होने का अधिकार

B.सामाजिक समानता का अधिकार 3.सरकारी पद ग्रहण करने का अधिकार

C. आर्थिक समानता का अधिकार 4.आवेदन देने का अधिकार

2.स्वतंत्रता का अधिकार

A.व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार

B.विचार व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार

C.धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार

D.संगठन की स्वतंत्रता का अधिकार

3.संपत्ति का अधिकार

4.रोजगार का अधिकार

5.शिक्षा का अधिकार

6.जीवन का अधिकार

7.परिवार का अधिकार

1. नैतिक अधिकार: नैतिक अधिकार वे अधिकार है जिनका सम्बन्ध मानव के नैतिक आचरण से होता है। इन अधिकारों का स्रोत समाज की नैतिक धारण या सद्भावना है। इन अधिकारों का कोई वैधानिक आधार नहीं होता तथा इन्हें जनमत धार्मिक मान्यताओं द्वारा स्वीकृत किया जाता है। चूँकि राज्य या विधिक मान्यता का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः इनका उल्लघन दण्डनीय नहीं होता।

2. वैधानिक या कानूनी अधिकार: इन अधिकारों की व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती है तथा राज्य इन अधिकारों को मान्यता देता है व इनका संरक्षण करता है। इन अधिकारों के उल्लंघन पर वह दण्ड की व्यवस्था करता है। इन अधिकारों को कानून का संरक्षण प्राप्त होता है। लीकॉक ने लिखा कि,

"वैधानिक अधिकार वे विशेषाधिकार है जिनका प्रत्येक नागरिक अपने सहनागरिकों के विरूद्ध प्रयोग करता है और जो प्रभुत्व सम्पन्न सत्ता द्वारा सुरक्षित होता है। वैधानिक अधिकार दो प्रकार के होते है।

(क) नागरिक या सामाजिक अधिकार

(ख) राजनीतिक अधिकार

10.6 अधिकारों का वर्गीकरण

अधिकारों का वर्गीकरण नागरिक या सामाजिक अधिकार और राजनितिक अधिकार में किया जाता है, नीचे उनका विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

10.6.1 नागरिक या सामाजिक अधिकार

यद्यपि नागरिक व सामाजिक अधिकारों को प्रायः एक ही माना जाता है, तथापि दोनों में बहुत बारीक अन्तर है। नागरिक अधिकार उन अधिकारों को कहते है जो राज्य के व्यक्तियों को नागरिक होने के नाते प्राप्त होते हैं जबकि सामाजिक अधिकार प्रत्येक उस व्यक्ति को प्रदान किये जाते है जो राज्य की सीमा के अन्तर्गत वैधानिक रूप से निवास करता हो। उदाहरण के लिए भारतीय संविधान में अनु0 15,16,19,29 और 30 के तहत वर्णित मूल अधिकार केवल नागरिकों को प्राप्त हैं अन्य व्यक्तियों को नहीं। इसी प्रकार संवैधानिक पदों पर नियुक्ति का अधिकार भी नागरिकों को ही प्राप्त है अन्य को नहीं। इन अधिकारों का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन, सम्पत्ति व वैयक्तिक विशेषता की रक्षा करना है। सामाजिक व व्यक्तिगत जीवन के सुचारू संचालन तथा उन्नति के लिए ये अधिकार आवश्यक होते है। कुछ प्रमुख नागरिक एवं सामाजिक अधिकार निम्नांकित है।

1. समानता का अधिकार: समानता के अधिकार से तात्पर्य है व्यक्ति को मानव समाज का सदस्य होने के नाते, जीवन के हर क्षेत्र में उसके साथ समानता का व्यवहार किया जाये। उसे जाति, धर्म, लिंग, भाषा, क्षेत्र व रंग के आधार पर अलग नहीं समझना चाहिए। वह मात्र मानव जाति का सदस्य है, इसलिए उसके साथ समानता का व्यवहार होना चाहिए। समानता के अधिकार में निम्नलिखित अधिकार सम्मिलित है।

(i) राजनीतिक समानता का अधिकार: इस अधिकार के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता व क्षमता के आधार पर, बिना किसी भेदभाव के, शासन सत्ता में भाग लेने का अधिकार है।

(ii) सामाजिक समानता का अधिकार: इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को समाज में धर्म, जाति, लिंग, भाषा व रंग के आधार पर भेद नहीं किया जाना चाहिए और एक व्यक्ति होने के नाते वह सम्मान का पूर्ण अधिकारी है।

(iii) आर्थिक समानता का अधिकार आर्थिक समानता से तात्पर्य यह है कि समाज में आर्थिक स्तर पर अत्यधिक भेदभाव नहीं होना चाहिए और समाज में सम्पत्ति व उत्पादन के साधनों का न्याय संगत वितरण होना चाहिए।

2. स्वतंत्रता का अधिकार :

स्वतंत्रता का अधिकार मानव जीवन के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण अधिकार है। इस अधिकार के अभाव में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व तथा समाज का विकास नहीं कर सकता। स्वतंत्रता से तात्पर्य अराजकता या उच्छंखलता से नहीं है। बल्कि व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण अवसर प्रदान करना है। स्वतंत्रता का अधिकार निम्नलिखित है।

(i) व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार: व्यक्तिगत स्वतंत्रता से आशय है कि व्यक्ति अपना जीवन अपने विवेक के अनुसार व्यतीत करें। इस स्वतंत्रता के अधिकार के अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन में तब तक हस्तक्षेप न किया जाय जब तक वह कानूनों का उल्लंघन नहीं करता। मिल व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सबसे प्रमुख समर्थन रहा। इस सम्बन्ध में उसका कथन है कि "व्यक्ति स्वयं अपने उपर, अपने शरीर अपने मस्तिष्क व आत्मा पर सम्प्रभु होता है।"

(ii) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार: इस अधिकार के तहत् प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार विचार व्यक्त करने, भाषण देने, लेख आदि के माध्यम से अपने विचारों को लोगों के समक्ष रखने की स्वतंत्रता प्राप्त होती है। सुकरात ने विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता त्यागने की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन करना अधिक श्रेयकर समझा। वस्तुतः विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से व्यक्ति व समाज दोनों का हित होता है। इसी प्रकार जे०एस० मिल विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रबल समर्थन करते हुए कहा कि, "राज्य को किसी व्यक्ति को चुप कराने का अधिकार उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार यदि वह व्यक्ति शक्तिशाली हो तो उसे सारे समाज को चुप कराने का अधिकार नहीं होता।"

(iii) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार: धार्मिक स्वतंत्रता के अन्तर्गत व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करने, प्रसार करने व अन्य धर्म को ग्रहण करने की स्वतंत्रता है। धार्मिक स्वतंत्रता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए रूसो ने कहा कि, "जब तक उनके सिद्धान्त नागरिकता के कर्त्तव्यों के प्रतिकूल न हो, उन सब धर्मो के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार होना चाहिए जो औरों के प्रति सहिष्णु हो।" धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तःकरण से होता है। अतः उस पर किसी प्रकार धार्मिक कार्यों हेतु वाह्य दबाव नहीं डालना चाहिए।

(iv) संगठन की स्वतंत्रता का अधिकार: प्रत्येक व्यक्ति अपने समान विचार वाले लोगों के साथ मिल कर संगठन बना सकता है तथा जीवन के विविध क्षेत्रों में उन्नति करने के लिए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक संगठन निर्माण की स्वतंत्रता होनी चाहिए। क्योंकि संगठन ही मानव जीवन का मूल मंत्र है।

3. सम्पत्ति का अधिकार

सम्पत्ति का अधिकार मानव जीवन के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण अधिकार है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को संवैधानिक तरीके से सम्पत्ति अर्जित करने का अधिकार होना चाहिए तथा अपनी इच्छानुसार वो उस सम्पत्ति का उपभोग करने की स्वतंत्रता भी होनी चाहिए। परन्तु कई बार अनियंत्रित सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार नहीं किया जा सकता और न्यूनतम समानता स्थापित करने के उद्देश्य से राज्य सम्पत्ति के अधिकार पर प्रतिबन्ध भी लगा सकता है।

4. रोजगार का अधिकार

प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता व क्षमता के आधार पर काम पाने का अधिकार है। जिससे वह स्वयं व अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके व उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। व्यक्ति को केवल काम पाने का ही अधिकार नहीं होना चाहिए बल्कि कार्य के बदले उचित पारिश्रमिक प्राप्त करने का अधिकार भी होना चाहिए। साम्यवादी देशों में काम के अधिकार को मौलिक अधिकारों में स्थान दिया गया है। किन्तु भारत जैसे विकासशील देशों में प्रत्येक नागरिक को काम के अधिकार की गारंटी देना राज्य की क्षमता में नहीं है।

5. शिक्षा का अधिकार

प्रत्येक व्यक्ति के लिए शिक्षा का अधिकार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है तथा शिक्षा व्यक्ति को उनके अधिकारों के प्रति सजग बनाती है।

6. जीवन का अधिकार

मानव के लिए जीवन का अधिकार सबसे मुख्य और अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकार है। इस अधिकार के अभाव में अन्य अधिकारों की कोई महत्ता व आवश्यकता नहीं है। इस अधिकार से तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है। इस अधिकार में आत्मरक्षा का अधिकार भी निहित है।

7. पारिवारिक जीवन व्यतीत करने का अधिकार

मानव जीवन के लिए परिवार अनिवार्य आवश्यकता है। मानव जाति के विकास में परिवार का अत्यन महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अतः व्यक्ति को सन्तान पाने व उनके पालन-पोषण का अधिकार प्राप्त होना चाहिएव राज्य को इस सम्बन्ध में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

10.6.2 राजनीतिक अधिकार

राजनीतिक अधिकारों से अभिप्राय उन अधिकारों से है, जो किसी व्यक्ति को राज्य का नागरिक होने पर प्राप्त होते है। ये अधिकार व्यक्ति के राजनीतिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक होते है। ये अधिकार जनतंत्र (प्रजातंत्र) की नींव होते है। वस्तुतः ये अधिकार राज्य की ओर से नागरिकों को शासन में भाग लेने के लिए दिये जाते है। प्रजातांत्रिक शासन में ये अधिकार निम्नलिखित है।

1. मत देने का अधिकार: यह एक प्रमुख राजनीतिक अधिकार है। इस अधिकार के माध्यम से नागरिक अपने प्रतिनिधित्व का चुनाव करते है और इन प्रतिनिधियों द्वारा नागरिकों के हित में शासन कार्य किया जाता है। मताधिकार व्यक्तियों का मात्र अधिकार नहीं अपितु नागरिकों का परम कर्त्तव्य घोषित किया गया है। वर्तमान में लगभग सभी प्रजातांत्रिक राज्यों में सार्वजनिक वयस्क मताधिकार प्रदान किया गया है।

2. निर्वाचित होने का अधिकार: प्रजातंत्र में शासक और शासित के बीच कोई अंतर नहीं होता। योग्यता सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्धों के साथ सभी नागरिकों का जनता के प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने का अधिकार है।

3. सरकारी पद ग्रहण करने का अधिकार: योग्यता के आधार पर प्रत्येक नागरिक को सरकारी पद ग्रहण करने का अधिकार है।

4. आवेदन पत्र देने का अधिकार: लोकतंत्र में शासन का संचालन जनहित में किया जाता है। अतः इस अधिकार के अन्तर्गत व्यक्ति को अपनी उचित मोंगें अथवा अधिकारों के हनन् से सम्बन्धित शिकायतों के लिए नागरिकों को कार्यकारणी अथवा विधानमण्डल के समक्ष अपना आवेदन पत्र भेजने का अधिकार प्राप्त है।

10.7 विश्व व्यापी मानवाधिकार घोषणा

द्वितीय महायुद्ध के समय में मानव अधिकारों का घोर उल्लंघन हुआ। जिसके कारण विश्व समुदाय के समक्ष मानवाधिकारों की सुरक्षा एक गम्भीर विषय बन गया। जर्मनी व उसके सहयोगी राष्ट्रों ने भारी मात्रा में अल्पसंख्यकों के उपर गम्भीर अत्याचार किये। इन अत्याचारों की पुनरावत्ति न हो इसके लिए विश्व के नेताओं ने एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की तथा इसके एक मुख्य अंग महासभा को और विशेष तौर पर 'आर्थिक एवं सामाजिक परिषद' को अधिकारों की सुरक्षा का कार्य सौपा गया। शरणार्थियों, विस्थापितों, राज्यहीन व्यक्तियों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए अनेक नियम बनाए गये। विभिन्न प्रकार के मानव अधिकारों जिसमें स्त्रियों के अधिकार, बच्चों के अधिकार, अल्पसंख्यकों के अधिकार, विगलांग व मानसिक तौर पर विक्षिप्त व्यक्तियों के अधिकार आदि, ट्रेड यूनियनों के अधिकार, दासता, बेगारी आदि के समाधान के लिए विभिन्न आयोग गठित किये गये।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों ने मानवाधिकारों की सुरक्षा के लिए अनेक प्रयास किये जिनमें अटलांटिक चार्टर घोषणा 1941, वाशिंगटन सम्मेलन 1942, मास्को सम्मेलन 1943, डम्बार्टन ओस्क 1944 आदि तथा द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद मित्र राष्ट्रों ने सान-फ्रांसिस्कों में एक वृहद् सम्मेलन किया, जिसमें संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) का निर्माण किया गया । इस सम्मेलन में मानवाधिकारों पर विचार विमर्श किया गा और U.N.O. के चार्टर में अधिकारों को स्थान देने के लिए सभी राष्ट्रों ने सहमति व्यक्त की। मानव अधिकारों पर इस तरह के गम्भीर प्रयासों के लिए द्वितीय विश्व युद्ध के समय मानवाधिकारों के घोर उल्लंघन उत्तरदायी रहे।

मानव अधिकारों की घोषणा संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) के चार्टर में मानव अधिकारों के आदर्श को स्वीकार करने के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र के 'मानव अधिकार आयोग' (U.N. Commission of Human Right) को मानव अधिकारों के मूलभूत सिद्धान्तों की समविदा तैयार करने का कार्य

सौंपा गया। लगभग तीन वर्षों के प्रयत्नों के उपरान्त 'मानव अधिकार आयोग' ने 'मानव अधिकारों की विश्व व्यापी घोषणा' (Univrsal Declaratin of Human Right) का मसविदा तैयार किया। इस मसविदा को महासभा ने कुछ संशोधनों के साथ 10 दिसम्बर, 1948 को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। इस मानव अधिकारों के विश्व व्यापी घोषणा पत्र में एक प्रस्तावना सहित 30 अनुच्छेद है।

इस घोषणा पत्र में काम करने और समान काम करने के लिए समान पारिश्रमिक पाने का अधिकार, ट्रेड यूनियनों में संगठित होने का अधिकार, विश्राम तथा सामाजिक भरण-पोषण का अधिकार इस घोषणा पत्र में व्यक्ति को सभी तरह के व सभी क्षेत्रों में व्यापक अधिकार प्राप्त है। जिस कारण व्यक्ति बिना किसी भेदभाव के पूर्ण रूप से सम्मान पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है। इस घोषणा-पत्र को मानवतावाद का दमकल कहा गया है। चार्ल्स मलिक के अनुसार, "यह घोषणा पत्र केवल प्रस्ताव मात्र न होकर, संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का अंग है।" श्रीमती रूजवेल्ट ने इस घोषणा पत्र को समस्त मानव समाज के मेग्नाकार्टा (Magnacarta) का नाम दिया।

अभ्यास प्रश्न

-"मेरा अधिकार तुम्हारा कर्त्तव्य है".1यह कथन किसका है?

A.लास्की B.ऑस्टिन C.लॉक D.बार्कर

2.विचार व अभिव्यक्ति का अधिकार नागरिक अधिकार है। सत्य असत्य/

10.8 सारांश

अधिकार वे सामाजिक दावे हैं जो समाज द्वारा प्रदत्त और राज्य द्वारा सुरक्षित किये जाते हैं। अधिकार महुष्य के व्यक्तिगत विकास के लिए आवश्यक हैं और व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास में मदद करते हैं। यहाँ तक कि राज्य भी इन्हें व्यक्ति से वंचित नहीं कर सकता। ये किसी भी समाज के विकास के एक विशेष स्तर को प्रदर्षित करते हैं। अधिकारों के विभिन्न प्रकार हैं। वे अधिकार जो मानव को उपलब्ध हैं, उनमें शामिल हैं- जीवन, समानता, व्यक्ति और संपत्ति की सुरक्षा, स्वतंत्रता, शिक्षा, कार्य, धार्मिक आजादी, मतदान और सार्वजानिक कार्यालयों में पद धारण करने का अधिकार। उदारवादी-लोकतान्त्रिक समाजों में आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की अपेक्षा व्यक्तिगत और राजनीतिक अधिकारों पर अधिक जोर दिया जाता है। समाजवादी समाजों में अधिकारों को इसके उलट व्यवस्थापन का समर्थन किया जाता है। मानवाधिकारों की सार्वजनीन उद्घोषणा एक मनुष्य को मनुष्य के रूप में मानवाधिकारों की एक सूची उपलब्ध कराती है

10.9 शब्दावली

अधिकार- सामाजिक दावे जो समाज द्वारा प्रदत्त और राज्य द्वारा सुरक्षित किये जाते हैं।

मानवाधिकार- मानवाधिकार वे सार्वभौमिक अधिकार हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को केवल मानव होने के नाते जन्म से प्राप्त होते हैं, और जिनका उद्देश्य उसकी गरिमा, स्वतंत्रता और समानता की रक्षा करना है।

10.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.A-लास्की

2. सत्य

10.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

राजनीतिक सिद्धांत:एक परिचय- राजीव भार्गव और अशोक आचार्य

Taking Rights Seriously - Ronald Dworkin

Multicultural Citizenship- Will Kymlicka

10.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

Political Theory: An Introduction- Andrew Heywood

10.13 निबंधात्मक प्रश्न

1.अधिकार की परिभाषा दीजिये तथा अधिकार के प्रमुख तत्वों का वर्णन कीजिए?

2.अधिकार से सम्बंधित विभिन्न सिद्धांतों को आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

इकाई- 11 कानून और न्याय

इकाई की संरचना

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 कानून का अर्थ एवं परिभाषा

11.4 कानून के स्रोत

11.5 कानून और नैतिकता में संबंध

11.6 कानून और नैतिकता में अंतर

11.7 न्याय का अर्थ एवं परिभाषा

11.8 न्याय की धारणा के विविध रूप

11.9 न्याय के सार्वलौकिक व स्थिर आधार-तत्व

11.10 कानूनी न्याय प्राप्त करने के साधन

11.11 सारांश

11.12 शब्दावली

11.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

11.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

11.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

11.16 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

कानून या 'विधि' और 'न्याय' मानव समाज के ऐसे दो आधार स्तंभ हैं, जिनके बिना किसी भी सभ्य और संगठित जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। जब हम कानून की बात करते हैं, तो वह केवल नियमों और दंड की एक प्रणाली भर नहीं है, बल्कि वह एक ऐसी संस्थागत व्यवस्था है जो

समाज में अनुशासन बनाए रखने, अधिकारों की रक्षा करने और कर्तव्यों का निर्धारण करने में सहायक होती है। वहीं, न्याय एक नैतिक आदर्श है, जो समता, स्वतंत्रता, गरिमा और मानव मूल्यों की पुष्टि करता है।

इस इकाई में हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि कानून और न्याय के बीच क्या संबंध है? क्या हर कानून न्यायपूर्ण होता है? क्या न्याय के बिना कानून निरर्थक हो सकता है? या फिर न्याय की प्राप्ति के लिए कानून में निरंतर सुधार और व्याख्या की आवश्यकता होती है?

11.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- कानून और न्याय के अर्थ और परिभाषा को जान पायेंगे।
- कानून के क्या स्रोत हैं, इसे समझ पायेंगे।
- कानून और नैतिकता के संबंध और अंतर को समझ पायेंगे।
- न्याय की धारणा और आधार-तत्वों को जान पायेंगे।
- कानूनी न्याय प्राप्त करने के साधनों को समझ पायेंगे।

11.3 कानून का अर्थ एवं परिभाषा

कानून या विधि (LAW) शब्द अंग्रेजी के लॉग (Lag) शब्द से बना है, जिसका अर्थ है स्थिर या निश्चित। इस प्रकार विधि या कानून से तात्पर्य है स्थिरया निश्चित, अर्थात् कानून स्थिर व निश्चित होना चाहिए। ऑस्टिन ने कानून को स्पष्ट करते हुए कहा कि "राज्य की सर्वोच्च सत्ता का आदेश ही कानून होता है। वुडरो विल्सन के शब्दों में "विधि सुस्थापित विचारधारा तथा अभ्यास का वह भाग है जो शासन की सत्ता व शक्ति द्वारा समर्थन प्राप्त करके सामान्य नियमोंके रूप में स्पष्ट व औपचारिक मान्यता प्राप्त कर लेता है।'' क्रैव के अनुसार "अपने स्वभाव और प्रवृत्तियों के अनुसार जो उपयोगी वउचित निर्णय मनुष्य करते है, उसी की अभिव्यक्ति विधि में होती है।" लास्की के अनुसार "एक अच्छा कानून वही है, जिसके फलस्वरूप व्यक्तियों की इच्छाओं की अधिक से अधिक पूर्ति हो सके।" कानून की उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि कानून को लागू करने के लिए निम्नलिखित तत्वों की आवश्यकता होती है-

1. कानूनों को लागू करने के लिए सर्वप्रथम एक नागरिक समाज की आवश्यकता होती है।

2. कानून को लागू करने व उसके निर्माण के लिए सम्प्रभु सत्ता होनी चाहिए।
3. कानून ऐसे हो जिनका सम्बन्ध समाज में रहने वाले लोगों के वाह्य आचरण से हों।
4. व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, व्यक्ति तथा समुदाय के बीच, समुदाय तथा समुदाय के बीच, सम्बन्धों का नियमन करने के लिए निर्मित व स्वयंवि कसित नियमों का एक निकाय होना चाहिए।
5. कानून ऐसे हों, जिनका पालन व्यक्ति दण्ड के भय से न करके, बल्कि इसलिए करें कि उसे सामाजिक जीवन के लाभ प्राप्त हो और उसकी स्वयं की उन्नति हो।

11.4 कानून के स्रोत

कानून का विकास अनेक परिस्थितियों में हुआ है। उसे अपने विकास मेंअनेक तत्वों का सहयोग प्राप्त हुआ, जिन्हें कानून के स्रोत भी कहा जाता है। जो निम्नलिखित हैं, आइये इनका अध्ययन करते हैं-

1. रीति-रिवाज- रीति रिवाजों को कानूनों का सबसे प्राचीनतम व महत्वपूर्ण स्रोत माना जा सकता है। पुराने समय में सामाजिक ढाँचा सरल था। लोग अपने आपसी झगड़ों का निपटारा प्रथाओं ओर परम्पराओं के आधार पर कर लेते थे। इससे लोगों को सरलता होती थी। जिस कारण यह लोकप्रिय होता गया और पीढ़ी-दर-पीढ़ी इनका प्रचलन चलता रहा। लोगों को इन पर बड़ी श्रद्धा थी और इनका पालन करते थे, जिस कारण इनका स्वरूप कानूनों की तरह ही हो जाता था। वर्तमान समय में समाज में कानून, समाज में प्रचलित प्रथाओं और परम्पराओं के अनुसार ही बनाई जाती हैं। कोई राज्य इन प्रथाओं व परम्पराओं के विपरित कानून नहीं बना सकता। राजनीतिक दृष्टिकोण से रीतियों व परम्पराओं को कानून नहीं कहा जा सकता और राजनीतिक विधि इनकी अनदेखी या अवहेलना भी नहीं कर सकती। राज्य, प्रचीन प्रथाओं और परम्पराओं को मान्यता देकर कानून का रूप देता है। इस संबंध में मैकाइवर कहता है कि “कानून या विधि का बहुत सा भाग प्रथाओं व परम्पराओं के आधार पर निर्मित होता है, क्योंकि परम्पराएँ विधियों के निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।"

2. धर्म- विधि के निर्माण में धर्म भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। धर्म दो प्रकार से विधि के निर्माण में सहायक होते हैं। पहला- परम्पराओं पर धर्म का बड़ा प्रभाव रहता है। अतः परम्परागत विधियों को धर्म, धार्मिक विश्वास का आश्रय देकर उसे दृढ़ बनाता है। दूसरा- धर्म प्रत्यक्ष रूप से विधि के निर्माण में सहयोग देता है। एक समय था जब राजसत्ता व विधि के जन्म के लिए ईश्वर को ही प्रमुखता प्रदान

की जाती थी। उस दशा में धर्माधिकारियों द्वारा बनाये गये कानूनों को दैवी माना जाता था। वर्तमान समय में भी कानून में अनेक बातें धर्म पर आधारित हैं।

3. न्यायाधीशों के निर्णय- समय-समय पर न्यायधीशों द्वारा दिये गये निर्णयों ने भी कानूनों के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। प्राचीन समय में लोगों के झगड़ों व विवादों के निपटारे के लिए जातीय पंडितों की शरण लेनी पड़ती थी। इन विभिन्न जातियों के वयोवृद्ध व बुद्धिमान पुरूषों के आगे विवाद रखे गये और उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण निर्णय दिये। इस प्रकार इन न्यायाधीशों के दिये गये निर्णय, विधि के स्रोत बन गये तथा ये निर्णय परम्परा के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहे। ये निर्णय मैखिक व अलिखित थे। बाद में इन्हें लिपिबद्ध किया गया और ये निर्णय विधि के स्रोत बन गये। वर्तमान समय में भी विश्व के देशों के न्यायधीशों द्वारा दिये गये निर्णय विधि का रूप ले रहे हैं। अपने निर्णयों को क्रियान्वित करते हुए वे उनकी व्याख्या करते हैं और ये व्याख्याऐं विधि का अंग बन जाती है, जिससे विधि में संशोधन और उनका विस्तार होता है। न्यायालयों की ये व्याख्याऐं व व्यवस्थाऐं अधिकारपूर्ण मानी जाती हैं और उनका प्रयोग कानूनों की तरह ही होता है। इस प्रकार न्यायाधीशों के निर्णय कानूनों के स्रोत बन जाते है।

4. विधिक टीकाऐं- न्यायशास्त्रियों द्वारा विधि के सम्बन्ध में की गयी टीकाऐं भी विधि के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। विधि के विद्धान, विधि के आधारभूत सिद्धान्तों की विवेचना करते हैं तथा उसमें त्रुटि होने पर उसका स्पष्टीकरण करते हैं और न्याय की दृष्टि से उसमें सुधार की आवश्यकता होती है, तो उसे भी स्पष्ट करते हैं। न्यायाधीश इन टीकाओं को महत्ता प्रदान करते हैं। ऐसी टीकाऐं जब किसी न्यायाधीश द्वारा स्वीकृत की जाती हैं, तो वे कानून का हिस्सा बन जाती हैं। जैसे इंग्लैण्ड में 'कोक' तथा 'ब्लैकस्टोन' की टीकाओं से वहाँ के कानून में बहुत सुधार हुआ है। इसी प्रकार भारत में 'मिताक्षर व दाय भाग' से हिन्दूओं के उत्तराधिकार सम्बन्धी कानून व 'फतवा आलमगीरी' से मुस्लिम कानून प्रभावित हैं।

5. औचित्यपूर्ण निर्णय- औचित्यपूर्ण निर्णय भी विधि के स्रोत हैं। न्यायाधीशों के सामने कभी-कभी ऐसे विवाद आते हैं जिनका निर्णय यदि विधि के आधार पर भी किया जाय तो वे औचित्यपूर्ण नहीं होते। ऐसी स्थिति में न्यायाधीश औचित्य के आधार पर निर्णय देते हैं, भले ही वे विधि के अनुकूल न हो, ऐसे निर्णय भी विधि के अंग बन जाते हैं। औचित्यपूर्ण निर्णयों को न्यायाधीश अपने विवेक के आधार पर देते हैं। ये निर्णय न्यायाधीश, न्यायशास्त्र के अनुभव व न्याय की साधारण मान्यताओं के आधार पर तब देते हैं, जब किसी विवाद का निपटारा वर्तमान विधि के आधार पर या

उस विधि में पाई जाने वाली किसी कमी के कारण नहीं हो सकता है। ऐसे औचित्यपूर्ण निर्णय भी विधि के अंग बन जाते हैं तथा साथ ही साथ विधियों में सुधार व परिवर्तन भी होता है।

6. व्यवस्थापन- यह विधि का सबसे अधिक महत्वपूर्ण व प्रत्यक्ष स्रोतहै। प्राचीन समय में व्यवस्थापन का कार्य राजा द्वारा या कुछ लोगों द्वारा होता था। एक समय ऐसा भी था जब छोटे-छोटे गणराज्यों में व्यवस्थापन का कार्य सम्पूर्ण जनता एक स्थान पर एकत्र होकर करती थी। आधुनिक समय में इसका स्वरूप बदल गया है। वर्तमान समय में व्यवस्थापन का कार्य जनता द्वारा अप्रत्यक्ष तौर पर अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से होता है। प्रत्येक राज्य का विधानमण्डल समय की आवश्यकतानुसार कानून बनाता है। व्यवहारिक रूप में प्रत्येक देश के विधानमंडल ही समस्त विधियोंका निर्माण करते हैं तथा व्यवस्थापन ही विधि निर्माण का एकमात्र स्रोत बनता जा रहा है।

11.5 कानून और नैतिकता में सम्बन्ध

कानून और नैतिकता में सम्बन्ध को समझने के लिए आईये निम्नांकित बिन्दुओं का अध्ययन करते हैं-

1. कानून, नैतिक आदर्शों व विचारों पर आधारित- कानून, नैतिकता पर आधारित होता है। प्रारम्भिक समाज में नैतिकता व कानून प्रायः एक ही होते थे। जो कुछ नैतिकता कहती थी वह कानून होता था। नैतिकता और कानून का यह सम्बन्ध चलता ही आ रहा है। आधुनिक समय में उन्हीं विधियों को वैधानिक मान्यता भी प्राप्त है जो नैतिक दृष्टि से मान्य होते हैं। नैतिक मान्यता को बहुसंख्यक समाज द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है तो उसे राज्य विधि का रूप दे देता है और यही नैतिक मान्यता राष्ट्रीय कानून बन जाता है। किसी राष्ट्र का नैतिक स्तर जानने के लिए उस राष्ट्र की विधियों का अध्ययन करना होगा। कानून और नैतिकता में सम्बन्ध दो रूपों में सामने आते हैं। पहला रूप- विधि को नैतिकता की धारणा पर आधारित होना चाहिए, क्योंकि उसका पालन तभी उन लोगों द्वारा स्वेच्छापूर्वक व सफलता पूर्वक होगा जिनके लिए उसे बनाया गया है। दूसरा रूप- विधि ऐसी होनी चाहिए जिससे हमारी नैतिक मान्यताओं को आघात न पहुचें।

2. दोनों का उद्देश्य समाज कल्याण- कानून व नैतिकता दोनों का उद्देश्य समाज का कल्याण है। दोनों ही उन बातों व कार्यों का निषेध करते हैं, जो समाज के हित में न हो, जैस- चोरी करना। यदि नैतिकता की दृष्टि से गलत है तो विधि की दृष्टि से भी गलत है। उन कार्यों को जिन्हें अनैतिक माना जाता है विधि की दृष्टि से भी वे अवैध कार्य हैं। अतः दोनों उन बातों व कार्यों का समर्थनकरते हैं, जो समाज कल्याण के लिए उचित हो।

3. दोनों एक-दूसरे को प्रभावकारी बनाते हैं- कानून व नैतिकता दोनों एक-दूसरे को प्रभावकारी बनाते हैं । जिन कार्यों को नैतिकता समर्थन देती है उन्हें कानून भी स्वीकृति प्रदान करता है और नैतिकता की मान्यता के विरूद्ध चलना दण्नीय हो जाता है। इस प्रकार नैतिकता विधि की सहगामिनी होती है। बिना नैतिकता के विधि नहीं चल सकती, जैसे- भारत में मद्यनिषेध कानून पूर्णतः सफलन हीं हो सका, क्योंकि उसे जनता का नैतिक समर्थन प्राप्त नहीं था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नैतिकता विधि को प्रभावकारी बनाने में सहायक होती है। विधि भी नैतिकता को प्रभावकारी बनाती है। यदि चोरी करने को विधि द्वारा दण्डनीय न माना जाए तो लोग चोरी करने लगेंगे और विधि की सहायता के बगैर देश का नैतिक स्तर भी गिर जायेगा। इस प्रकार नैतिक जीवन विधियों की उचित व्यवस्था में ही सम्भव है। विधि के अभाव में जीवन में नैतिकता के स्तर को बनाये नहीं रखा जा सकता। अतः विधि व न्याय दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं और दोनों एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं।

11.6 कानून और नैतिकता में अंतर

विधि व नैतिकता में घनिठ सम्बन्ध होते हुए भी दोनों में अन्तर है। आईये इन दोनों के बीच अंतर को निचे दिये गये बिंदुओं से समझते हैं-

1. क्षेत्र सम्बन्धी अन्तर- नैतिकता और कानून में क्षेत्र सम्बन्धी अंतर है। कानून के क्षेत्र में व्यक्ति के वाह्य कार्य आते हैं, जिसका उद्देश्यों और विचारों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जबकि नैतिकता के क्षेत्र में व्यक्ति का पूर्ण जीवन आ जाता है। नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य के वाह्य आचरण से नहीं होता। उसका सम्बन्ध व्यक्ति के विचारों व उद्देश्यों से होता है। इस प्रकार नैतिकता का क्षेत्र कानून के क्षेत्र की अपेक्षा व्यापक है।

2. मान्यता के आधार पर अन्तर- मान्यता के आधार पर भी दोनों में अन्तर है। कानून को शासन-सत्ता के द्वारा मान्यता प्राप्त होती है और राज्य द्वारा प्रवर्तित की जाती है तथा जो कानून का उल्लंघन या विरोध करते हैं, उन्हें दण्ड दिया जाता है। जबकि नैतिकता के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती। नैतिकता सामाजिक स्तर के अनुसार होती है और समाज ही नैतिकता का प्रर्वतक और उसे मान्यता देने वाला होता है तथा नैतिकता के उल्लंघन में दण्ड देने का कोई प्रावधान नहीं है। नैतिकता के उल्लंघन में समाज विरोध कर सकता है परन्तु कानून दण्डित नहीं कर सकता।

3. स्वरूप के आधार पर अन्तर- कानून और नैतिकता दोनों का स्वरूप अलग-अलग है। कानून, नैतिकता के अपेक्षा अधिक निश्चित होते हैं, क्योंकि उनका निर्माण विधानमण्डल द्वारा होता है और

उनका क्रियान्वय एक निश्चित प्रक्रिया के अनुसार होता है। कानून सभी के लिए समान होती है और सभी के लिए उसका पालन अनिवार्य होता है। विधि का उल्लंघन होने पर दण्ड दिया जाता है। जबकि नैतिकता न तो निश्चित है और न ही उसका पालन कानूनी रूप में अनिवार्य है और न ही उसका उल्लंघन होने पर दण्ड दिया जाता है। नैतिकता का पालन सभी के लिए अनिवार्य नहीं है।

4. मापदण्ड के आधार पर अन्तर- कानून का मापदण्ड उसकी उपयोगिता है, जबकि नैतिकता का मापदण्ड औचित्य है। कानून, नैतिकता पर उतनी निर्भर नहीं है, जितना उपयोगिता पर है। उन सभी बातों को जिन्हें नैतिक समझा जाता है, कानून द्वारा बढ़ावा नहीं दिया जाता, जैसे- दान करना नैतिक है, परन्तु सामाजिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता विवादित होने के कारण उसे कानून के द्वारा अनिवार्य नहीं किया जा सकता। उन सभी बातों व कार्यों को जिन्हें नैतिकता की दृष्टि से निषिद्ध समझा जाता है, कानून द्वारा भी निषिद्ध घोषित नहीं किया जाता, जैसे- मानव द्वारा चालित रिक्से में बैठकर यात्रा करना नैतिकता की दृष्टि से गलत हो सकता है, परन्तु कानून द्वारा उसे अकार्य व निषिद्ध नहीं ठहराया जाता। इस प्रकार कानून सम्मत सब बातें नैतिक नहीं होती और सभी अनैतिक बातें अवैधानिक नहीं होती और न ही सब विधि पूर्ण बातें अनैतिक होती है। कानून का मापदण्ड सामाजिक उपयोगिता है और नैतिकता का मापदण्ड सामाजिक औचित्य है।

11.7 न्याय का अर्थ एवं परिभाषा

न्याय (Justices) शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Justice' शब्द से हुई है। जिसका अर्थ होता है, जोड़ना या बाँधना या सम्मिलित करना। न्याय की धारणा पाश्चात्य और पूर्व दोनों ही राजनीतिक दर्शनों में मिलती है। न्याय एक राजनीतिक चिंतन ही नहीं नैतिक चिंतन भी है। पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में न्याय दर्शन सम्भवतः सर्वप्रथम प्लेटो की विचारधारा में मिलते हैं। उसने अपनी प्रसिद्ध रचना 'रिपब्लिक'(Republic) में सबसे अधिक चिंतन न्याय पर ही किया कि न्याय की प्रकृति क्या है व उसका निवास कहाँ है। **प्लेटो** ने न्याय की धारणा को वैधानिक अर्थ में नहीं, वरन् नैतिक अर्थ में प्रतिपादित किया। उसके द्वारा न्याय शब्द का प्रयोग धर्म, लौकिक धर्म के पर्यायवाची रूप में किया गया। **प्लेटो** का मत है **"न्याय मानव आत्मा की उचित अवस्था और मानबीय स्वभाव की प्राकृतिक मांग है।"** प्लेटो की तरह अरस्तू भी न्याय को बहुत महत्वपूर्ण मानता है, लेकिन अरस्तू ने प्लेटो से भिन्न न्याय की धारणा प्रस्तुत की। अरस्तू ने न्याय के दो रूपो का प्रतिपादन किया। प्रथम- वितरणात्मक या राजनीतिक न्याय। द्वितीय- सुधारक न्याय। **अरस्तू** के अनुसार वितरणात्मक न्याय का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति को समाज के लिए उसके द्वारा किए गये योगदान या उसके मूल्य के अनुसार प्राप्त होता है। सुधारक न्याय से तात्पर्य है कि राज्य नागरिकों के पारस्परिक

संबंधों की व्यवस्था को नागरिकों पर ही न छोड़े, बल्कि वह उसका नियंत्रण समाज सुधार के उद्देश्य से करें।

सैन्ट आगस्टाइन ने न्याय की धारणा को ईश्वरीय न्याय माना है। उन्होंने ईश्वरीय न्याय को राज्य का प्रमुख तत्व माना है और कहा "जिन राज्यों में न्याय नहीं रह जाता, वे डाकूओं के झुण्ड मात्र कहे जा सकते है।" उसके द्वारा अन्तिम रूप से व्यक्ति द्वारा ईश्वरीय राज्य के प्रति कर्तव्यों का पालन ही न्याय है। उसके अनुसार ''व्यवस्थित अनुशासित जीवन व्यतीत करना तथा उन कर्तव्यों का पालन करना ही न्याय है, जिनकी मांग सामाजिक व्यवस्था करती है।''

थामस एक्विनास ने न्याय व कानून को परस्पर सम्बन्धित माना है और न्याय की धारणा को प्रस्तुत करते हुए कहा "न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उसके अधिकार दिए जाने की निश्चित सनातन इच्छा है।''

भारतीय चिंतन में न्याय की धारणा को बहुत अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। मनु, कौटिल्य, वृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज एवं सोम आदि अनेक विचारकों ने राज्य के लिए न्याय को बहुत अधिक महत्वपूर्ण माना है। मनु ने अपने विचार रखते हुए कहा "जिस सभा (न्यायालय) में सत्य, असत्य से पीड़ित होता है, उसके सदस्य ही पाप से नष्ट हो जाते हैं।'' कौटिल्य ने न्याय को राज्य का प्राण माना है। उसका विचार है कि बिना न्याय के राज्य जीवित नहीं रह सकता, और जो राजा या राज्य अपनी प्रजा को न्याय नहीं दे सकता वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

आधुनिक युग में न्याय की धारणा में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये है। अब न्याय का परम्परागत रूप अमान्य हो गया है। अब न्याय को विधि के रूप में ही देखा जाता है। न्याय की आधुनिक धारणा को **आर्नाल्ड ब्रैचट** ने अपनी रचना **'पोलिटीकल थ्योरी'** में प्रतिपादित करते हुए कहा **"न्याय की धारणा वांछित स्थिति के प्रति हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर करती है और वह ऐसे बर्तन की तरह है, जिसके कई तल होते हैं।''** उसने न्याय के दो रूपों की बात कही। पहला-परम्परागत न्याय और दूसरा- अपरम्परागत न्याय।

11.8 न्याय की धारणा के विविध रूप

परम्परागत दृष्टिकोण से मुख्यतः न्याय की दो धारणाएँ प्रचलित थी। प्रथम नैतिक न्याय और द्वितीय कानूनी न्याय। आधुनिक समय में न्याय की धारणा बहुत अधिक व्यापक हो गई है और इसके अनेक रूप में सामने आये हैं। न्याय की धारणा के विविध रूप निम्नलिखित हैं, आईये इनका अध्ययन करते हैं-

1. नैतिक न्याय- परम्परागत तौर पर न्याय की नैतिक धारणा को ही अपनाया जाता है। नैतिक न्याय के अनुसार विश्व में मानव व्यवहार के लिए कुछ सर्वव्यापक, शाश्वत व अपरिवर्तनीय नियम स्वतः प्रचलित हैं। जिनसे व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों का सुचारू संचालन होता है। इन नियमों के अनुसार ही व्यक्ति के अधिकार और कर्तव्यों का निर्धारण होता है और इन नियमों के अनुसार परस्पर व्यवहार करना ही न्याय है। इस धारणा के अनुसार जब मनुष्यों का आचरण इन नियमों के आधार पर होता है, तब वह नैतिक न्याय की अवस्था होती है। नैतिक न्याय के नियमों में जो प्रमुख आदर्श हैं- उनमें सत्य बोलना, दया का व्यवहार करना, परस्पर प्रेम पूर्वक स्थिति, वचन पालन, उदारता व दान आदि मुख्य हैं।

2. कानूनी न्याय- न्याय को जब विधि के द्वारा मूर्त रूप दिया जाता है, तो कानूनी न्याय होता है। प्रत्येक समाज में न्याय का एक आदर्श रूप होता है जो नागरिकों के पारस्परिक हितों और अधिकारों का वितरण सामजस्यपूर्ण तौर पर करता है। इस आदर्श की प्राप्ति के लिए राज्य संविधान के माध्यम से एक वैध सामाजिक व राजनीतिक समाज की स्थापना करता है, जिसके माध्यम से ऐसी विधियों या कानूनों का निर्माण किया जाता है, जिससे न्याय प्राप्त किया जा सके। इस प्रकार राज्य के कानूनों के माध्यम से जिस व्यवस्था की स्थापना होती है, उसे कानूनी न्याय की व्यवस्था कहा जाता है। कानूनी न्याय की धारणा दो अर्थों में प्रयोग की जाती है। पहला- कानूनों का निर्माण न्यायोचित होने चाहिए। दूसरा कानूनों को न्यायोचित तौर पर लागू किया जाना चाहिए। अर्थात् बिना किसी पक्षपात के कानून सभी पर समान रूप से लागू होने चाहिए।

3. प्राकृतिक न्याय- विचारकों के अनुसार न्याय का एक रूप प्राकृतिक न्याय भी है। इन विचारकों के अनुसार व्यक्ति प्राकृतिक तौर पर एक चिंतनशील व विवेकयुक्त प्राणी है। अतः उसे अपने कार्यों को सम्पादित करने के लिए स्वतंत्रत होना चाहिए। उस पर किसी भी प्रकार का अंकुश या बंधन नहीं होना चाहिए, जिससे उसे प्राकृतिक न्याय प्राप्त हो सके। प्राकृतिक न्याय का मतलब प्राकृतिक स्वतंत्रता है। प्राकृतिक चिंतनशीलता व विवेक के कारण ही सब व्यक्तियों को समान समझना चाहिए। अर्थात् समाज की ओर से व्यक्ति के प्राकृतिक स्तर में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए, जिससे उसकी समानता नष्ट हो जाए। इस आधार पर न्याय का प्राकृतिक रूप, उस रूप को माना गया है जो मनुष्य की प्राकृतिक स्वतंत्रता व समानता के आधार पर समाज में स्वयं व्यवस्था बनाये रखने के उद्देश्य को पूरा करने में सक्षम समझा जा सके।

4. राजनीतिक न्याय- न्याय का अन्य रूप राजनीतिक न्याय है। अरस्तू ने न्याय को एक प्रकार से वितरण सम्बन्धी न्याय बताया था। जिसका उद्देश्य व्यक्ति को समाज में उसका उचित स्थान देना था।

राजनीतिक न्याय के आधुनिक सोच में हम अरस्तू के न्याय को मूल मान सकते है। क्योंकि राजनीतिक न्याय अपने आधुनिक रूप में व्यक्ति का शासन-सत्ता में भाग लेने के अधिकार की उचित एवं निष्पक्ष व्यवस्था से है। व्यक्ति को उसकी योग्यता व क्षमता के आधार पर शासन में भाग लेने, अपने मत (विचारों) को व्यक्त करने, मतदान करने, प्रतिनिधि के रूप में खड़े होने तथा शासकीय पद ग्रहण करने आदि का अधिकार प्राप्त है। इन अधिकारों की व्यवस्था सबके लिए उचित एवं निष्पक्ष होने की स्थिति को राजनीतिक न्याय व्यवस्था कहा जाता है।

5. सामाजिक न्याय- सामाजिक न्याय से तात्पर्य है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति का महत्व है। व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता पूर्ति का साधन मात्र नहीं माना जा सकता। सामाजिक न्याय की व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य का मूल्य मनुष्य की तरह समझा जाता है तथा उसके साथ धर्म, जाति, रंग तथा क्षेत्र के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जा सकता है। आधुनिक समाज में न्याय का बड़ा महत्व है, क्योंकि समाज में यदि सब नागरिकों को उचित स्थान प्राप्त होता है तो सभी समाज की उन्नति में योगदान करते हुए, अपनी उन्नति करने में समर्थ होते है।

6. आर्थिक न्याय- आर्थिक न्याय से आशय व्यक्ति की उस अवस्था से है,जिसमें वह आर्थिक प्रयत्नों से लाभ प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र हो। आर्थिक न्याय से तात्पर्य है कि उत्पादन के साधनों के अधिकार तथा सम्पत्ति के वितरण की ऐसी व्यवस्था हो, जिसमें सबको उचित पारिश्रमिक प्राप्त हो तथा कोई किसी का शोषण न कर सके। व्यवहार रूप में उत्पादन के साधनों व उत्पादित सम्पत्ति के ऐसे औचित्यपूर्ण वितरण की व्यवस्था को आर्थिक न्याय कहा जा सकता है, जिसमें सम्पत्ति का अनुचित एकत्रीकरण न हो तथा किसी के लिए विलासिता के वस्तुओं की प्राप्ति से पहले सबके लिए अनिवार्य आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति हो। न्याय की आर्थिक अवधारणा पर सबसे अधिक जोर समाजवादियों ने ही दिया।

आधुनिक युग में लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्थाओं में आर्थिक न्याय का बड़ा महत्व है, क्योंकि इसके अभाव में लोकतंत्र विकृत हो जाता है तथा जनता का जनता के लिए शासन का मंत्र सफल नहीं हो पाता है।

11. 9 न्याय के सार्वलौकिक व स्थिर आधार तत्व

न्याय क्या है, यह बहुत कुछ व्यक्ति, समुदाय और देश-काल के आधार पर परिवर्तनीय है। परन्तु कुछ तत्व ऐसे हैं जो न्याय सम्बन्धी सभी धारणाओं में मान्य हैं और जिन्हें इसी आधार पर न्याय के स्थिर व सार्वलौकिक तत्व कहा जा सकता है। आईये इन तत्वों का अध्ययन करते हैं-

1. सत्य- सत्य के सम्बन्ध में **राडबुच (Radbuch)** जैसे विचारकों का मत है कि ''न्याय का सम्बन्ध अच्छाई से होता है, सत्य से नहीं।'' सत्य तो विज्ञान का क्षेत्र है। परन्तु वास्तविकता यह है कि सत्य न्याय के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व है। न्याय के अच्छा होने के लिए यह आवश्यक है कि वह सत्य पर आधारित हो। इसलिए यह आवश्यक है कि न्याय को न्याय बनाने के लिए वस्तुनिष्ठ रूप में तथ्यों के संबंध में सत्य का प्रयोग हो तथा वस्तुनिष्ठ रूप में यह आवश्यक है कि अलग-अलग व्यक्तियों व वस्तुओं के सम्बन्ध में मात्र वे ही विचार प्रकट किए जाएँ जो सत्य पर आधारित हों। न्याय के प्रशासन में सामान्यतः तथ्यों की सत्यता का महत्व निःसन्देह बहुत अधिक है।

2. मूल्यों को समान्यता- अनेक मामलों में, विषयों में न्याय क्या है, इस पर मनन करते समय न्याय सम्बन्धी मूल्यों की एकता बनाये रखना आवश्यक है। निर्णय करते समय मूल्य पर आधारित न्याय की धारणा का प्रयोग किया जाना चाहिए। यह नितान्त अनुचित होगा कि अलग-अलग विषयों व मामलों में विचार करते समय अलग-अलग न्याय, मूल्य तथा अलग-अलग न्याय की धारणा का प्रयोग किया जाए।

3. कानून के समक्ष समानता या समानता का व्यवहार- कानून के समक्ष समानता से तात्पर्य सभी के साथ व्यवहार की समानता है। कानून के निर्माण तथा कानूनों को लागू करते समय किसी भी व्यक्ति, समुदाय या संगठन में धर्म, जाति और नस्ल के आधार पर भेद नहीं किया जाना चाहिए। सभी को न्याय-व्यवस्था का संरक्षण समान रूप से प्राप्त होना चाहिए।

4. व्यक्ति की स्वतंत्रता का सम्मान- न्याय का एक आवश्यक तत्व है, व्यक्ति की स्वतंत्रता का सम्मान। न्याय की किसी भी उचित व्यवस्था में व्यक्ति के स्वतंत्रता के उचित सम्मान की व्यवस्था होनी चाहिए तथा उस पर न्याय के प्रशासन के लिए उत्तरदायी सत्ता द्वारा कोई अवैध व अमानवीय प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए।

5. प्राकृतिक अनिवार्यताओं के प्रति सम्मान- प्रकृति की अनिवार्यताओं के प्रति सम्मान का प्रावधान न्याय की उचित व्यवस्था के लिए होना चाहिए। कानून के समक्ष समानता को इस प्रकार लागू नहीं किया जाना चाहिए कि न्याय की व्यवस्था में उन बातों की कोई परवाह ही न हो, जो प्राकृतिक रूप में अनिवार्य हों। जिन आदेशों या कानूनों का पालन करना, मनुष्य के लिए सम्भव न हो, ऐसे कानूनों या आदेशों का पालन न करने पर व्यक्ति को दण्ड देना या उसकी निन्दा करना न्यायोचित नहीं है। बहुत अधिक वृद्ध, अंधे, अपंग या विक्षिप्त व्यक्ति के लिए समाज की दया के आधार पर जीवन यापन करना न्यायपूर्ण है, किन्तु जो शारीरिक रूप से सशक्त व मानसिक रूप से स्वस्थ्य हो, वो परिश्रम करके जीवन यापन करें, वह न्यायपूर्ण है।

न्याय के ये सभी तत्व सभी जगह मान्य है। स्थानीय, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, व्यक्तिगत व सामूहिक सभी क्षेत्रों में न्याय का पालन आवश्यक माना जाता है।

11.10 कानूनी न्याय प्राप्त करने के साधन

राज्य, विधियों(कानूनों) के माध्यम से जिस न्याय की व्यवस्था करता है, उसे कानूनी न्याय कहते हैं। कानूनी न्याय बस को समान रूप से किस प्रकार प्राप्त हो, इस पर विचारकों ने विचार करके कुछ साधनों का उल्लेख किया है, जिनके माध्यम से सभी को कानूनी न्याय प्राप्त हो सके। आईये इन साधनों का विस्तार से अध्ययन करते हैं-

1. न्यायपालिका को कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त होना चाहिए- न्यायपालिका द्वारा निपक्षता पूर्वक कार्य करने के लिए यह आवश्यक है कि न्यायपालिका को कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त होना चाहिए। नागरिकों को निष्पक्ष न्याय प्राप्त हो सके, इसके लिए कार्यपालिका व न्यायपालिका के कार्य अलग-अलग व्यक्तियों के हाथ में रहे। प्रशासन का कार्य कार्यपालिका से सम्बद्ध लोगों के हाथों में रहता है और न्यायपालिका का कार्य न्यायपालिका से सम्बद्ध लोगों के हाथों में रहता है। अतः प्रशासन द्वारा नागरिकों के साथ कोई अन्याय न हो, इसके लिए आवश्यक है कि प्रशासन के कार्यों पर न्यायिक दृष्टि से विचार करने वाले न्याय-कार्य में लगे व्यक्ति, प्रशासन में लगे व्यक्तियों के प्रभाव से मुक्त रहें। यदि ये कार्यपालिका के साथ सम्बद्ध रहे तो इससे नागरिकों को न्याय प्राप्त नहीं होगा।

2. न्यायाधीश नियुक्त हो, निर्वाचित नहीं- न्याय निष्पक्ष रूप से प्राप्त हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीश अपने पदों पर निर्वाचन के आधार पर न पहुँचे, बल्कि उनकी नियुक्ति होनी चाहिए। यदि निर्वाचित होकर न्यायाधीश अपने पद पर पहुँचेंगे तो न्यायाधीश कुछ गिने-चुने लागों के व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति में ही लग जायेंगे। यही कारण है कि कार्यपालिका द्वारा न्यायाधीशों नियुक्ति करने का प्रावधान सबसे उत्तम तरीका माना जाता है तथा यह आवश्यक है कि कार्यपालिका द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति उनकी पूर्व राजनीतिक सेवा अथवा राजनीतिक स्वार्थ-सिद्धि के आधार पर न की जाय। इस सम्बन्ध में लास्की का कथन है कि ''जनता के द्वारा न्यायधीशों की नियुक्ति निश्चित रूप से सबसे अधिक बुरी है।''

3. न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए विशेष योग्यता- न्याय की निष्पक्षता के लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीश चरित्रवान हो तथा पद के अनुसार योग्यता प्राप्त हो। इसीलिए सक्षम व कुशल न्याय व्यवस्थाओं में न्यायाधीशों की नियुक्ति की पृथक सेवा श्रृंखला बनाई जाती है, जिससे निर्धारित

योग्यता के लोगों को ही नियुक्त किया जाता है तथा पदोन्नति के माध्यम से उच्च न्यायिक पदों पर पहुँचते हैं।

4. न्यायाधीशों को पर्याप्त वेतन- अपनी रचना 'राजनीति के तत्व (Elements of Politics) में हैमिल्टन ने कहा कि ''जो मनुष्य अपनी अजीविका की दृष्टि से शक्ति सम्पन्न होता है, उसकी संकल्प शक्ति भी प्रबल होती है।" अतः इसके आधार पर कहा जा सकता है कि न्याय कार्य के सम्पादन के लिए न्यायाधीशों में न्यायिक निर्णय करने के लिए दृढ़ संकल्प शक्ति चाहिए। उनमें इस प्रकार की संकल्प शक्ति बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें पर्याप्त वेतन दिया जाये, जिससे वे अपनी आजीविका अच्छी तरह चला सकें और बिना किसी लालच के न्याय कार्य कर सकें।

5. न्यायाधीशों के लिए सुरक्षित और निश्चित कार्यकाल- न्यायाधीशों को नियुक्त किये जाने के बाद उनका कार्यकाल सुरक्षित व निश्चित होना चाहिए, जिससे वे अपने पद की सुरक्षा के लिए चिन्तित न रहें और कुशलता से न्यायिक निर्णय करते रहें। कार्यापालिका द्वारा उन्हें नियुक्त किये जाने के बाद उन्हें पद से हटाये जाने की व्यवस्था विशेष परिस्थितियों के लिए ही होनी चाहिए, जिससे वे अपने पद की सुरक्षा के लिए उन्हें कार्यपालिका की दया पर निर्भर नहीं होना चाहिए।

6. लम्बा कार्यकाल व उचित पदोन्नति- उचित न्याय के लिए सामान्यतः न्यायाधीशों का कार्यकाल लम्बा होना चाहिए। जिससे वे अपने अनुभव व ज्ञान के माध्यम से न्याय के स्तर को उँचा बनाए रखें। न्यायाधीशों को पदोन्नति के भी उचित अवसर मिलने चाहिए, जिससे वे अपने कार्य को लगन के साथ कर सकें।

7. अवकाश प्राप्ति के बाद न्यायाधीशों के लिए व्यवसाय निषेध- अपने कार्यकाल की समाप्ति के बाद न्यायाधीशों के पेंशन की ऐसी व्यवस्था हो कि उन्हें अन्य कार्य करने की आवश्यकता न हो। परन्तु कुछ लोग यह मानते है कि अवकाश प्राप्ति के बाद न्यायाधीशों के वकालत पर तो प्रतिबन्ध होना चाहिए अथवा यह व्यवस्था होनी चाहिए कि जिन न्यायालयों में उन्होंने न्यायाधीश के रूप में कार्य किया था, कम से कम उन न्यायालयों में वे वकालत का कार्य न करें। कुछ विचारकों का यह भी सुझाव है कि अवकाश प्राप्ति के बाद न्यायाधीशों को किसी राजनीतिक या सार्वजनिक पद के लिए योग्य नहीं समझा जाना चाहिए।

8. ज्यूरी की व्यवस्था- कुछ विचारकों का मानना है कि न्याय प्राप्ति केकार्य के लिए जन-प्रतिनिधियों को सम्बद्ध किए जाने के लिए एक ज्यूरी की व्यवस्था होनी चाहिए। क्योंकि ज्यूरी की

व्यवस्था न्याय प्राप्ति में सहायक होती है। ज्यूरी का सदस्य होने के लिए सम्पत्ति का होना आवश्यक नहीं होना चाहिए। ज्यूरी के सदस्य को पारिश्रमिक दिया जाना चाहिए, जिससे वे अपने कार्यों में रूचि ले सकें। ज्यूरी के निर्णयों, विशेषतया फौजदारी मामलों में उनके निर्णयों के विरूद्ध अपील की व्यवस्था होनी चाहिए।

9. न्याय की व्यवस्था में समानता का प्रावधान- न्याय प्राप्ति में समानता को विशेष महत्व दिया जाना चाहिए। सभी को न्याय व्यवस्था का लाभ समान रूप से हो इसके लिए पहली प्राथमिकता है कि कानून के समक्ष सब समान समझे जाएँ तथा किसी भी वर्ग या व्यक्ति को कोई विशेषाधिकार प्राप्त न हो। न्याय व्यवस्था की समानता में उस दशा में भी कोताही नहीं होनी चाहिए जब सम्बद्ध पक्षों में आर्थिक दृष्टि से कोई विषमता हो। विषमता होने पर आर्थिक तौर पर कमजोर पक्ष न्याय नहीं प्राप्त कर सकेगा। इसके लिए निःशुल्क कानूनी सहायता प्रदान की जानी चाहिए। जिससे साधारण व्यक्ति भी न्याय प्राप्त कर सके।

अभ्यास प्रश्न-

1. कानून किस शब्द से बना है?
2. ''राज्य की सर्वोच्च सत्ता का आदेश कानून है।'' यह कथन किसका है?
3. यह कथन किसका है कि "एक अच्छा कानून वही है, जिसके फलस्वरूप व्यक्तियों की इच्छाओं की अधिक से अधिक पूर्ति हो सके।"
4. प्लेटो ने अपनी किस पुस्तक में 'न्याय के सिद्धान्त' का वर्णन किया है?
5. आधुनिक न्याय की धारणा क्या है?
6. प्लेटो के न्याय की धारणा क्या थी?
7. अरस्तू ने न्याय के कितने भेद बताये हैं?
8. न्याय की आर्थिक अवधारणा पर सर्वाधिक बल किसने दिया?

11.11 सारांश

कानून या विधि अंग्रेजी के लॉग (Lag) शब्द से बना है। कानून क्या है, इसे ऑस्टिन, लास्की, वुडरो विल्सन और क्रैव जैसे विद्वानों ने परिभाषित किया है। जैसे ऑस्टिन कहता है कि राज्य की सर्वोच्च सत्ता का आदेश ही कानून है। किन्तु प्रश्न ये है कि कानून बनाए और लागू कहां किए जाए। कानून बनाने के लिए एक सम्प्रभु सत्ता होनी चाहिए तथा उसको लागू करने के लिए एक नागरिक समाज

होना चाहिए। कानून ऐसा होना चाहिए उसके पालन के लिए दण्ड के भय की आवश्यकता न हो, उससे सामाजिक जीवन के लाभ प्राप्त हों।

कानून का विकास अनेक परिस्थितियों में हुआ और उसे अपने विकास में अनेक तत्वों का सहयोग प्राप्त हुआ। कानून को अपनेविकास में जिन तत्वों का सहयोग प्राप्त हुआ, उन्हें कानून के स्रोत कहा गया। जैसे- रीति-रिवाज, धर्म, न्यायाधीशों के निर्णय, विधिक टीकाऐं, औचित्यपूर्ण निर्णय आदि कानून के निर्माण और विकास के स्रोत हैं। कानून और नैतिकता में भी बड़ा गहरा संबंध है।

न्याय की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Justice' शब्द से हुई है। न्याय के संदर्भ में पहला पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन प्लेटो की रचना 'रिपब्लिक' में मिलता है। उसने न्याय को वैधानिक न मान कर नैतिक माना। प्लेटो की ही तरह अरस्तू ने भी न्याय को महत्वपूर्ण माना, लेकिन उसने प्लेटो से अलग न्याय की धारणा प्रस्तुत की। सैन्ट आगस्टाइन ने न्याय की धारणा को ईश्वरीय न्याय माना।

भारतीय चिंतन में न्याय की धारणा को बहुत अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। मनु, कौटिल्य, सोम, वृहस्पति आदि विचारकों ने न्याय को बहुत अधिक महत्वपूर्ण माना है। आधुनिक युग में न्याय की धारणा में बहुत अधिक परिवर्तन हो गये हैं। अब न्याय का पारम्परिक रूप अमान्य हो गया है और अब उसे वैधानिक या विधि के रूप में देखा जा रहा है। अब न्याय, परम्परागत न्याय न रह कर विधिक या कानूनी न्याय बन गया है।

11.12 शब्दावली

विधि- कानून, स्रोत- उत्पत्ति, परम्परागत या पारम्परिक- पुरानी मान्यताऐं या जो पहले से चला आ रहा हो, धर्माधिकारी- धार्मिक मामलों से सर्वेसर्वा, पीढ़ी-दर-पीढी- एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी, नैतिकता- सदाचार

11.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 'लॉग' शब्द से, 2. आस्टिन, 3. लास्की, 4. रिपब्लिक में, 5. वैधानिक, 6. नैतिक, 7. दो, 8. समाजवादियों ने

11.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजनीतिक सिद्धान्त एवं विचारक- ओ0पी0 गाबा,
2. राजनीतिक सिद्धान्त- बी0सी0 अग्रवाल, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा।

3. राजीव भार्गव एवं अशोक आचार्य(सम्पादक)- राजनीतिक सिद्धान्त एक परिचय, पियर्सन एजुकेशन, नई दिल्ली।

11.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. प्रभात कुमार मुखर्जी- राजनीतिक सिद्धान्त का इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
2. Political Theory: An Introduction, Palgrave Macmillan, 2015

11.16 निबंधात्मक प्रश्न

1. कानून की परिभाषा दीजिए तथा उसके प्रमुख स्रोतों और नैतिकता के साथ उसके संबंधों की चर्चा कीजिए।
2. न्याय की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए इसके विविध स्वरूपों की व्याख्या कीजिए।

इकाई- 12 : शक्ति, सत्ता और वैधता

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 शक्ति क्या है ?
12.2.1 शक्ति का स्वरूप
12.2.2 शक्ति के स्रोत
12.3 सत्ता
12.3.1 सत्ता के आधार अथवा स्रोत
12.3.2 सत्ता के प्रकार
12.4 प्रभाव
12.4.1 प्रभाव के प्रमुख स्रोत
12.5 सारांश
12.6 शब्दावली
12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
12.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.10 निबन्धात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई में हमने स्वतन्त्रता. समानता का अध्ययन किया जिसमें पाया कि दोनों का ही उद्देश्य मानवीय व्यक्तित्व का उच्चतम विकास है और इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता एक दूसरे के सहायक और पूरक हैं, परस्पर विरोधी नहीं। इस संबंध में एक्टन ने लिखा है कि "विरोधाभास यह है कि समानता और स्वतन्त्रता जो कि परस्पर विरोधी विचार केरूप में प्रारम्भ होते है, विश्लेषण करने पर एक दूसरे के लिए आवश्यक हो जाती है।" इस प्रकार हमने देखा की किस प्रकार से व्यक्ति के स्वतंत्र विकास के लिए स्वतंनत्रता, समानता और अधिकार तीनों महत्वपूर्ण हैं .क्योकि यदि किसी समाज में समकक्षों में समानता न हो और समान लोगों को स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा के अवसर न हों तो समाज गतिहीन हो जायेगा।

इस इकाई में शक्ति, सत्ता और प्रभाव के अर्थ और इनके विभिन्न पक्षों का अध्ययन करेगें। ये देखेगें कि शाक्ति किस प्रकार इच्छा के विपरित भी कार्य कराने में सक्षम होती हैं और इसी शाक्ति को वैद्यता प्राप्त हो जाती है तो वह सत्ता का स्वरुप ग्रहण कर लेती है और उसे शाक्ति प्रयोग का वैधानिक हक प्राप्त हो जाता है।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम..................

1-शाक्ति के अर्थ को समझने में सक्षम होगें।

2-शाक्ति और सत्ता के अन्तर को समझ सकेगें।

3-यह स्पष्ट कर सकेंगे कि वैध शाक्ति ही सत्ता हैं।

4-प्रभाव के अर्थ और उसके विभिन्न पक्षो को समझ सकेगें।

5-सत्ता के विभिन्न प्रकारों को जान सकेगें।

12.2 शक्ति क्या है?

परंपरागत राजनीति शास्त्र के अंतर्गत कौटिल्य, मैकियावाली, हाब्स, हेगल, नीत्शे आदि ने शक्ति पर जोर दिया। आधुनिक राजनीति विज्ञान में खास तौर पर शिकागो स्कूल (व्यवहारवाद) ने शक्ति को राजनीति विज्ञान का केंद्रीय विषय बना दिया। लासवेल, केप्लान, हर्बर्ट साइमन, रोबर्ट डहल शक्ति के व्यवहारवादी पहलू को महत्व देते हैं। शक्ति को आम तौर पर क्षमता, ताकत या सामर्थ्य के रूप में समझा जा सकता है जैसे विद्युत शक्ति। सामाजिक और राजनीतिक सिद्धांत में शक्ति का अर्थ सामाजिक अंत:क्रिया के भीतर काम करने की क्षमता और चीजों को प्रभावित करने का सामर्थ्य है। इस अर्थ में शक्ति व्यवहार का एक प्रकार है, जो विशेष रूप से सामाजिक संबंधों और संगठित सामाजिक अंत:क्रिया के कारण पैदा होता है। साधारणतयाः लोग जो कुछ नहीं करना चाहते,उनसे वैसा कराने की क्षमता को 'शक्ति की संज्ञा' दी जाती है। दूसरे शब्दों में जब एक व्यक्ति दूसरे की इच्छा के विरूद्ध उससे किसी निर्णय का पालन कराता है, तब पहला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के ऊपर शक्ति का प्रयोग करता है।

शक्ति की विविध परिभाषाएं -

कौटिल्य ने ''दण्ड शक्ति'' को सम्पूर्ण सांसारिक जीवन का मूल आधार माना जाता है।

रॉबर्ट डाहल के अनुसार, "शक्ति" का मतलब है एक व्यक्ति (या समूह) की दूसरे व्यक्ति (या समूह) को कुछ ऐसा करने के लिए मजबूर करने की क्षमता जो वह सामान्य तौर पर नहीं करता। इस परिभाषा से शक्ति के बारे में दो बाते सामने आती है।

शक्ति व्यक्तियों का गुण है जिसका प्रयोग अन्य व्यक्तियों पर किया जाता है और शक्ति का प्रयोग दूसरे लोगों से अपनी इच्छानुसार काम करने के लिए किया जाता है। ऐसा उन लोगों की इच्छा के विरुद्ध किया जाता है।

लेकिन मार्क्सवादी और नारीवादी सिद्धान्तकारों ने माना कि शक्ति सामूहिक स्तर पर केन्द्रित होती है।

हन्ना आरेंट मानती है कि शक्ति लोगों को समर्थ बनती है। जब लोग एक दूसरे से जुड़ते हैं और मिलकर किसी सहभागी उद्यम (shared enterprise) में काम करते हैं, तब यह शक्ति उत्पन्न होती है।ऐसे में व्यक्ति नैतिक रूप से जिम्मेदार मनुष्य के रूप में काम करने में समर्थ है।

टालकाट पारसंस के अनुसार आर्थिक व्यवस्था में जो भूमिका पैसे की होती है, सामाजिक व्यवस्था में वही भूमिका शक्ति की होती है। जिस तरह पैसा होने से व्यक्ति आर्थिक वस्तुओं और सेवाओं को हासिल कर सकता है, उसी तरह शक्ति - संपन्न व्यक्ति राजनितिक दायित्वों को पूरा करने में सक्षम है। यह शक्ति का मददकारी (Facilitative)आयाम और व्यवस्थित चरित्र दिखता है।

स्टीवन ल्यूकस ने माना कि शक्ति बुनियादी रूप से एक विवादस्पद संकल्पना है। ल्यूकस की पुस्तक, पावर: ए रेडिकल व्यू में "शक्ति के तीन चेहरे" सिद्दांत पर चर्चा की गयी है। यह सिद्धांत दावा करता है कि शक्ति का प्रयोग तीन तरीकों से किया जाता है: निर्णय लेने की शक्ति, गैर-निर्णय लेने की शक्ति और वैचारिक शक्ति।

मैक्स बेबर के अनुसार'' शक्ति का अर्थ है- किसी सामाजिक सम्बन्ध के अन्तर्गत एक कर्ता के द्वारा दूसरों की इच्छा के विरूद्व अपनी इच्छा को कार्यान्वित करने की संभावना।''

मैक्स वेबर का मानना है कि, शक्ति सामाजिक संबंधों का एक पहलू है। इसका संबंध एक व्यक्ति द्वारा दूसरे के आचरण पर अपनी इच्छा थोपने की संभावना से है। शक्ति का अस्तित्व सामाजिक अन्तक्रियाओं में है और यह असमानता की स्थितियां पैदा करती है। क्योंकि जिसके हाथ में शक्ति है उसमें इसे दूसरों पर थोपने की प्रवृत्ति होती है। शक्ति का प्रभाव अलग-अलग स्थिति में अलग-अलग होता है। एक ओर यह प्रभाव शक्तिशाली व्यक्ति की क्षमता पर निर्भर करता है। वेबर की मान्यता है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में शक्ति का प्रयोग संभव है।

आर.एम.मैकाइवर के अनुसार ''शक्ति किसी भी सम्बन्ध के अन्तर्गत ऐसी क्षमता है जिसमें दूसरों से कोई काम लिया जाता है या आज्ञा पालन कराया जाता है।''

बर्ट्रेंड रसेल के शब्दों में शक्ति से तात्पर्य ''मन चाहा प्रभाव पैदा करना।''

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिसके पास शक्ति है, वह दूसरों का अपनी इच्छा के अनुसार चलाने की क्षमता रखता है। इस तरह शक्ति की चिर-प्रचलित अवधारणा मुख्यतः दूसरों के ऊपर प्रयुक्त शक्ति का संकेत देती है।

12.2.1 शक्ति का स्वरूप

राजनीति हमारे जीवन का ऐसा क्षेत्र है जहॉ सबके लिए नियम बताए जाते हैं। निर्णय भी वहीं पर होते है, समाज के सभी व्यक्तियों के लिए अधिकतर कर्तव्य, और दायित्व निर्धारित किये जाते है।

कोई भी नियमों को धरातल पर उतारने के लिए या साकार रूप देने के लिए शक्ति की जरूरत होती है, अन्यथा वो केवल कही हुई बातें रह जायेंगी। शासन में शक्ति का वहीं स्थान है जो गाड़ी में इन्जन का है। शक्ति के बिना राजनीति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। समाज में शक्ति, सुरक्षा और न्याय को लाने का केवल यही एक साधन है। हेरल्ड लासवेल कहते है कि राजनीति का सरोकार शक्ति को सॅवारने और मिल बॉटकर उसका प्रयोग करने से है।

शक्ति को दो रूपों में व्यक्त किया जा सकता है-

(i) Power Over -दूसरों के ऊपर शक्ति का प्रयोग करना (नकारात्मक भाव)

(ii) Power To - कुछ करने की शक्ति (सकारात्मक भाव)

(A) Power Over:- अधिपत्य या Power Over का तात्पर्य यह है कि जब शक्ति को व्यक्ति, वर्ग, समूह के विरोध में प्रयोग किया जाता है। जैसे - दासप्रथा, नस्लीय भेदभाव, महिला शोषण, जातिगत शोषण। इस अवधारणा के तहत लोग जो कुछ नहीं करना चाहते, उनसे वैसा कराने की क्षमता को ही 'शक्ति' कहा जाता है। अर्थात जिसके पास शक्ति है, वह दूसरों को अपनी इच्छा के अनुसार चलाने की क्षमता रखता है।

निम्नलिखित परिभाषाएँ शक्ति को Power Over (दूसरों के ऊपर प्रयुक्त शक्ति) से सम्बंधित है।

बायर्सटेड "शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है न कि उसका वास्तविक उपयोग।"

मेकाइवर "शक्ति व्यक्तियों तथा उनके व्यवहार को नियंत्रित, विनियमित व निर्देशित करने की क्षमता है।"

मैक्स वेबर "शक्ति का अर्थ यह है कि किसी सामाजिक सम्बंध के अन्तर्गत कोई कर्ता दूसरों की इच्छा के विरुद्ध अपनी इच्छा को कहाँ तक कार्यान्वित कर पाता है।"

बट्रेड रसेल- शक्ति का तात्पर्य है- "मनचाहा प्रभाव पैदा करना।" और "शक्ति अभिप्रेरित प्रभावों का उत्पादन है" (Power is Production of Intended Effects)

रॉबर्ट डहल के अनुसार "शक्ति का तात्पर्य है "शक्ति किन्हीं पात्रों के बीच वह सम्बंध है जिसके द्वारा एक पात्र अन्यों को विशेष प्रकार से व्यवहार करने के लिए बाध्य कर सकता है, जो अन्य उस विशेष प्रकार का व्यवहार नहीं करते।"

राबर्ट डहल ने अधिक परिशुद्ध परिभाषा देने का प्रयास किया है कि " 'क' उस सीमा तक 'ख' पर शक्ति रखता है, जिस सीमा तक वह 'ख' से वे कार्य करा लेता है, जिन्हें वह अन्यथा नहीं करता है"

मैक्स वेबर "शक्ति का अर्थ यह है कि किसी सामाजिक सम्बंध के अन्तर्गत कोई कर्ता दूसरों की इच्छा के विरुद्ध अपनी इच्छा को कहाँ तक कार्यान्वित कर पाता है।"

बट्रेड रसेल के अनुसार शक्ति का तात्पर्य है- "मनचाहा प्रभाव पैदा करना। साथ ही "शक्ति अभिप्रेरित प्रभावों का उत्पादन है" (Power is Production of Intended Effects)

रॉबर्ट डहल के अनुसार "शक्ति का तात्पर्य है "शक्ति किन्हीं पात्रों के बीच वह सम्बंध है जिसके द्वारा एक पत्र अन्यों को विशेष प्रकार से व्यवहार करने के लिए बाध्य कर सकता है, जो अन्य उस विशेष प्रकार का व्यवहार नहीं करते।"

राबर्ट डहल ने अधिक परिशुद्ध परिभाषा देने का प्रयास किया है कि " 'क' उस सीमा तक 'ख' पर शक्ति रखता है, जिस सीमा तक वह 'ख' से वे कार्य करा लेता है, जिन्हें वह अन्यथा नहीं करता।"

गोल्डहेमर एवं शील्स ने कहा है "एक व्यक्ति उस सीमा तक शक्तियुक्त माना जा सकता है जिस सीमा तक वह अपने अभिप्रायों के अनुकूल दूसरों का व्यवहार प्रभावित कर सकता है।"

निम्नलिखित अवधारणाएँ शक्ति को 'Power Over' मानती है।

i) मार्क्सवादी- वर्ग प्रभुत्व का सिद्धांत सम्पत्तिशाली वर्ग का सर्वहारा वर्ग पर प्रभुत्व।

ii) अभिजनवादी (Elite) अभिजनों द्वारा जनसाधारण पर शक्ति का प्रयोग।

(iii) नारीवादी (Feminist) पुरुषों द्वारा महिलाओं पर शक्ति का प्रयोग।

(iv) उपाश्रित (Subaltern) उच्च वर्ग द्वारा हाशियाकृत वर्गों पर शक्ति का प्रयोग।

(B) Power To: (कुछ करने की शक्ति)- कुछ करने की शक्ति या Power to में समाज के वंचित वर्गों व व्यक्तियों के हित में शक्ति का प्रयोग किया जाता है। जैसे - महिला शिक्षा, रोजगार, कन्या भ्रूण हत्या को अपराध मानना ,सामाजिक न्याय, समानता सुनिश्चित करना चाहे महिला पुरूष समानता हो या अन्य समानताएं। इस अर्थ में शक्ति से अभिप्रायः है- अपनी इच्छा व उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपेक्षित साधनों तक प्रयोग। 'महिलाओं का सशक्तिकरण' 'गरीबों का सशक्तिकरण', 'हाशियाकृत वर्गों का सशक्तिकरण' आदि Power To है।समकालीन संदर्भ में शक्ति के इसी रूप में विश्वास किया जाता है। हन्ना आरेन्ट, सी.बी. मैक्कर्सन, मिशेल फूको, महात्मा गाँधी आदि विचारक 'Power to' अवधारणा के समर्थक है। मिशेल फूको के अनुसार "शक्ति हर जगह मौजूद है। एक समाज में शक्ति कोशिकाओं (Capillary) के तंत्र के माध्यम से प्रवाहित होती है। केवल बल प्रयोग

ही शक्ति नहीं है वरन् यह एक उत्पादन ऊर्जा (Productive Energy) है। ज्ञान ही शक्ति है।" फूको शक्ति को जटिल तत्त्व मानते हुए इसे तर्क मूलकता, ज्ञान व उत्पादकता से जोड़ते है।

12.2.2 शक्ति के स्रोत

शक्ति क्या है और उसका स्वरूप कैसा है इसकी चर्चा हम ईकाई के प्रारम्भ में कर चुके है। शक्ति की उपज कहा से है, इसे जानने के लिए शक्ति के स्रोतों का अध्ययन करना होगा। शक्ति के प्रमुख स्रोत निम्नलिखित हैः-

1.आर्थिक व भौतिक साधनः- आर्थिक व भौतिक साधन शक्ति प्राप्त करने के बाहरी तत्व है। आर्थिक व भौतिक साधन शक्ति के वे तत्व है जो समाज व्यक्ति की पहचान का स्तर तय करते है। सम्पत्ति ही आज समाज के लिए सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है यह आन्तरिक रूप से कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल सकती लेकिन आज के उदारीकरण के युग में शक्ति का यह स्रोत बहुत प्रभावशाली सिद्ध हो रहा है। इस प्रकार भौतिकवादी युम में सम्पत्ति शक्ति का सबसे बडा साधन है। यह समाज में व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्तर तय करती है।

2.ज्ञान और विचार शक्तिः- ज्ञान, शक्ति प्राप्त करने का महत्वपूर्ण साधन है । जिसके व्यक्ति के पास ज्ञान का भण्डार होगा व मनुष्य अपने तथ्यों को आसानी से प्राप्त कर लेता है। जिससे समाज में उसका अलग स्थान बनता है। उससे व्यक्ति प्रभावित होता है और समाज में प्रभाव जमाकर वह शक्ति आर्जित कर लेता है। "चमत्कार को नमस्कार" वाली कहावत ज्ञान द्वारा शक्ति प्राप्त करने के साधनों पर सटीक बैठती है।

3.बल अथवा दमनः- बल अथवा दमन भी शक्ति प्राप्त करने का एक स्रोत है। प्राचीन काल में समाज "मत्सय न्याय" था। जहॉ बलिष्ठ लोग कमजोर और कुचले लोगों का शोषण करते थे। यह भय पर आधारित है। इस भय के कारण दमनकारी व्यक्ति अपनी शक्ति को बढा़ता जाता है। जिससे समाज में उसका भय का वातावरण बना रहें।

4.संगठनः- "संगठन में शक्ति है" यह उक्ति शक्ति के विषय में सही चरितार्थ होती है। यह सामान्य सी बात है कि यदि आपको अपनी बात मनवानी है तो एक समूह तैयार करना पड़ता है। यदि आप अकेले है तो जिससे आप अपनी बात मनवाना चाहते है जरूरी नही है कि वो व्यक्ति या सरकार आपकी बातें माने। इसलिए विभिन्न ईकाईयों या समूह अपने हितों की पूर्ती के संगठन का निर्माण करते है। जिससे उनकी शक्ति में वृद्दि हो जाती है और इसी शक्ति के कारण वे अपने हितों की पूर्ति के

लिए समाज पर शासन पर दबाब डालते है। आज के समय में, दबाब समूह जैसे कि मजदूर संघ, व्यापारी संघ आदि इसके महत्वपूर्ण उदाहरण है।

5.व्यक्तित्वः- व्यक्तित्व भी शक्ति प्राप्त करने का स्रोत है। जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रभावशाली होगा, वह मनुष्य समाज अपना अलग अलग स्थान रखता है। व्यक्तित्व मनुष्य में आत्म विश्वास बढ़ाता है। प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला मनुष्य जब आत्मविश्वास से भरा होता है तो वह समाज में उसको प्रतिष्ठा प्रदान कराता है। प्रतिष्ठा ही मनुष्य को शक्ति प्रदान करती है। यदि व्यक्ति का व्यक्तित्व बुरे आचरण वाला हो, तो वह शक्ति को भय का रूप देता है तथा भय से जो शक्ति प्राप्त होती है वह अवनति का मार्ग प्राप्त करती है।

6.विश्वासः- यदि शक्ति में विश्वास हो तो यही शक्ति का महत्वपूर्ण स्रोत होती है। चाहे व्यक्ति के पास कितनी शक्ति क्यों न हो और उस शक्ति को प्राप्त करना का साधन चाहे जो रहा हो। किन्तु यदि शक्ति में विश्वास नही होता है तो फिर शक्ति शून्य है। इसलिए मनुष्य के लिए यह अति आवश्यक वह शक्ति में विश्वास रखे।

शक्ति के प्रकार या आयामः- राजनीति में शक्ति का प्रयोग बहुत विस्तृत क्षेत्र में होता है। अनेक विद्वानों ने शक्ति के अलग-अलग प्रकारों का वर्णन किया है। मैक्स बेबर के अनुसार शक्ति का सही रूप औचित्यपूर्ण शक्ति है इसके अलावा शक्ति नहीं "दमन" होता है। मैक्स बेबर ने औचित्यपूर्ण शक्ति के तीन प्रमुख प्रकार बताये है। 1.कानूनी या वैधानिक 2. परम्परागत 3. करिश्माई शक्ति। लेकिन शक्ति जिस रूप में राजनीति को प्रभावित करती है उनसे मौटे तौर पर तीन प्रकार की शक्ति होती है।

1.राजनीतिक शक्ति 2. आर्थिक शक्ति और 3. वैचारिक शक्ति

1.राजनीतिक शक्ति:- सामान्य रूप राजनीतिक शक्ति से अभिप्राय है, समाज के मूल्यवान संसाधनों को अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न, समूहों के हित में या विभिन्न कार्यक्रमों में लगाने की शक्ति। इनमें नीतियों का निर्माण और इन्हें लागू करना, कानूनों का निर्माण करना, कानून का उल्घन्न करने वाले को दंड देना आदि। इस प्रकार पुलिस न्यायालय, कारागृह आदि शक्ति भी राजनीतिक शक्ति के उपकरण हैं। राजनीतिक शक्ति का प्रयोग सरकार के विभिन्न अंगों के द्वारा किया जाता है जैसे कानून का निर्माण विधानमण्डल के द्वारा किया जाता है, कार्यपालिका कानून को लागू करता है तथा न्यायापालिका कानून की व्याख्या का काम करती है,रक्षा करती नौकरशाही तथा पुलिस के माध्यम

से । लोगों से कानून व नियमों का पालन करवाने में राजनीतिक शक्ति एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

मार्क्सवादी लोग भी शक्ति की अवधारणा में विश्वास करते है। मार्क्सवादी राजनीतिक शक्ति को पूंजीपति वर्ग के हाथों का एक ऐसा औजार मानते है जिसके द्वारा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति (पूंजीपति) गरीब लोगो का शोषण कर सके। मार्क्स राजनीतिक और आर्थिक शक्ति में अन्तर नही मानता है। बल्कि उसकी मान्यता है कि राजनीतिक शक्ति के उत्पादन के स्तर पर उन आर्थिक सम्बन्धों का परिणाम होती है, जिसके माध्यम से शासक वर्ग आर्थिक स्तर पर सम्पन्न वर्ग के हितों की पूर्ती के लिए बनायें रखना चाहता है। कुछ लोग राजनीतिक शक्ति और राजनीतिक क्षमता में अन्तर करते है जबकि ये दोनो एक दूसरे की पूरक है।

2.आर्थिक शक्तिः- आर्थिक शक्ति से आशय है कि जब कोई सम्पन्न व्यक्ति या राष्ट्र अपने धन, सम्पदा,उत्पादन के साधनों के बल पर निर्धन लोगों या निर्धन राष्ट्रों के जीवन की परिस्थितियों पर नियन्त्रण स्थापित करता है तो उसमें आर्थिक शक्ति निहित होती है। आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति पर हमेशा प्रभाव डालती है। उदाहरण के लिए, उदारीकरण के दौर में बड़े-बड़े जमीदार, उघोगपति और व्यापारिक घराने सरकार की नीतियों और निर्णयों को प्रभावित करते है और विकास की प्राथमिकताओं को निर्धारित के लिए अपने हितों को बढावा देते है।

आज के इस युग में ,आर्थिक शक्ति के स्वामी भिन्न-भिन्न तरीको से राजनीति को प्रभावित करते है। उनके दबाब समूह ज्यादातर ताकतवर और प्रभावशाली होते है। उदाहरण के तौर पर भारत में व्यापारिक संगठन,किसान संगठन निर्बल और कमजोर होते है। वे सरकार को प्रभावित नही कर पाते है। कहा तो यह भी जाता है कि हमारी सरकार पूंजीपतियों के हाथ का खिलौना है। वे सरकार को अपने हितों के अनुसार नीतियॉ बनाने के लिए बाध्य करते है। क्योंकि जितने भी मुख्य समाचार पत्र पत्रिकाओं है उन पर व्यापारिक घरानों का कब्जा है। इसके अलावा बड़े-बड़े पूंजीपति और धन्ना सेठ अक्सर चोरी-छिपे राजनीतिक दलों और चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों को भारी वित्तीय सहायता देते है। चाहे राजनीतिक जनसाधारण के हितों की दुहाई देते हो, परन्तु भीतर से वे अपने वित्तदाताओं के हितो की रक्षा के लिए संकल्पबद्व होते है।

3. विचाराधारात्क शक्तिः- वैचारिक शक्ति वह शक्ति है जिसके माध्यम से शासक वर्ग जनता के धार्मिक, नैतिक व सामाजिक मूल्यों को ,भावनाओं,परम्पराओें आदि को समझकर इस तरह प्रयोग

करते हैं, जिससे साधारण जनता उनकी स्वामी भक्त बनी रहे और बिना किसी झंझट के आज्ञा पालन करती रहें।

वर्तमान समय में , भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्थाएं प्रचलित हैं, और उन्हें वैधता प्रदान करने के लिए पूंजीवाद,उदारवाद,साम्यवाद या समाजवाद इत्यादि को सर्वोत्तम शासन प्रणाली सिद्ध करने की कोशिश की जाती है। ये सारे वादे इन विचारधाराओं से सम्बन्धित है।

राजनीतिक विचारधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह कि जब लोग मन से शासक वर्ग की नीतियों व निर्णयों का समर्थन करने लगते है और उन्हें चुनौती नहीं देना चाहते तब शक्ति शासक वर्ग की सत्ता को और सुदृढ़ बनाती है। मार्क्सवादी विचाराकों के अनुसार वैचारिक शक्ति समाज में उपस्थित अन्य शक्तियों के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है। यदि आर्थिक शक्ति , राजनीतिक शक्ति में बदलाव लाना चाहती है तो वह वैचारिक शक्ति का सहारा लेगी। मार्क्सवादी विचारक का चिन्तन का विषय ही यह है कि छोटा सा पूंजीपति वर्ग बहुसंख्यक सम्पन्न वर्ग पर, खुली प्रतियोगिता के बावजूद अपना प्रभुत्व कैसे जमाने में सफल रहता है। यह स्वाभाविक सी बात है समाज में जो वर्ग उत्पादन का स्वामी होता है वह मानसिक साधनों का भी स्वामी बन जाता है। इसी तरह पोलने का कथन है कि "वैचारिक शक्ति समाज में सामंजस्य स्थापित करने तथा वर्ग विशेष के अधिपत्य को मजबूत करने का कार्य करती है।"

12.3 सत्ता

सामान्य भाषा में, सत्ता में दो महत्वपूर्ण घटक होते हैं जो शक्ति और वैधता हैं (सत्ता = शक्ति + वैधता)। आदेश देने का अधिकार प्रयोग करने का अधिकार है। उदाहरण के लिए, जब कोई मंत्री किसी क़ानून द्वारा विनियम बनाने के लिए अधिकृत (या सशक्त) होता है, तो यह न केवल उसे कुछ करने की अनुमति देता है (यानी, उसे कार्रवाई का अधिकार है), बल्कि नागरिकों पर उन नियमों के अनुरूप होने का दायित्व भी डालता है जो वह बना सकता है। इस प्रकार, उसकी सत्ता उसे उन्हें जारी करने का अधिकार देती है।

सत्ता वैध शक्ति है। आम आदमी की धारणा में शक्ति और सत्ता के बीच तेजी से अंतर करने के लिए हम शक्ति को एक नग्न तलवार के रूप में सोच सकते हैं और सत्ता की कल्पना उसके म्यान में तलवार के रूप में की जा सकती है। शक्ति बल के क्रूर उपयोग पर आधारित हो सकती है, लेकिन

सत्ता का प्रयोग उचित बल और वैध साधनों के साथ किया जाता है। शक्ति भय या बल पर आधारित है, वैधता सम्मान और इच्छुक अनुपालन पर आधारित है।

मैक्स वेबर (1864-1920) ने आधुनिक राज्य में प्रचलित सत्ता की पहचान करने का प्रयास किया। उन्होंने तीन प्रकार की सत्ता को जिम्मेदार ठहराया।

सबसे पहले, पारंपरिक सत्ता में परंपरा द्वारा स्थापित शासन का अधिकार शामिल है, जैसे वंशानुगत या वंशवादी शासन।

दूसरे, करिश्माई सत्ता राजनीतिक नेता की असाधारण व्यक्तिगत विशेषताओं, या उनके चुंबकीय व्यक्तित्व का परिणाम है, जैसा कि हिटलर ने उदाहरण दिया था।

अंत में, कानूनी-तर्कसंगत सत्ता एक व्यक्ति द्वारा आयोजित राजनीतिक कार्यालय से निकलता है, जहां उसे निर्धारित प्रक्रिया के माध्यम से नियुक्त किया जाता है, जैसे योग्यता-आधारित चयन, पदोन्नति, चुनाव, रोटेशन या नामांकन।

"सत्ता किसी व्यक्ति, संस्था, नियम का आदेश का ऐसा गुण या क्षमता है जिसके कारण उसे सही या प्रमाणित मानकर स्वेच्छा से उसके निर्देशों का पालन किया जाता है।" जब तक किसी समाज या राज्य में सत्ता का प्रयोग नही होता तब तक नीतियॉ, नियम और निर्णय लागू या स्वीकार नही किये जा सकते है। अतः सत्ता को राज्य रूपी "शरीर की आत्मा" कहा जा सकता है। कोई भी राजनीतिक गतिविधि या कार्यक्रम सत्ता के आधार पर ही सम्भव होते है। सत्ता, शक्ति, प्रभाव तथा नेतृत्व का मुख्य साधन है। अपने सभी स्वरूपों में सत्ता शक्ति,प्रभाव,वैधता व नेतृत्व से जुड़ी हुई है।

सत्ता की निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है।

थियो हैमेन के शब्दों में, "सत्ता वह वैधानिक शक्ति हैं जिसके जोर पर अधिनस्थों से कार्य करता है। उन्हें इस के लिए बाध्य किया जा सकता हैं। आदेश का पालन न करने पर शासक उनके विरूद्व कार्यवाही कर सकता है। यहॉ तक कि उन्हें कार्य से भी अलग कर सकता है।"

बायर्सटेड के शब्दों में, "सत्ता शक्ति के प्रयोग का वैधानिक अधिकार है स्वयं शक्ति नहीं।"

ऐलन के शब्दों में, "दिये गये कार्यो को सम्पन्न कराने के लिए दी गयी शक्तियॉ व अधिकार सत्ता है।"

सत्ता के तत्व

सत्ता की व्यवस्था के अस्तित्व के लिए निम्नलिखित तत्वों का होना आवश्यक है।

i) कोई शासक / स्वामी अथवा शासकों / स्वामियों का समूह

ii) कोई व्यक्ति /समूह, जिस पर शासन किया जाना है।

iii) शासित लोगों के आचरण को प्रभावित करने की शासक की इच्छा जो आदेशों के माध्यम से व्यक्त होती है।

iv) शासित द्वारा प्रदर्शित आज्ञा पालन के रूप में शासकों के प्रभाव का प्रमाण

v) इस बात का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रमाण कि शासित लोगों ने यह तथ्य स्वीकार कर

लिय है कि शासक के आदेशों का अवश्य पालन किया जाना है।

सत्ता की अवधारणा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में राजनीति, राजनीतिक संस्थाओं और प्रणालीगत प्रक्रिया के राजनीतिक आंदोलनों को समझने और उनका विश्लेषण करने की चाबी है, । यह राजनीतिक सिद्धांत का केंद्र है। एच.डी. लासवेल और ए. कपलान ने घोषणा की, "सत्ता की अवधारणा संभवतः पूरे राजनीति विज्ञान में सबसे मौलिक है और राजनीतिक प्रक्रिया सत्ता का निर्माण, विघटन और प्रयोग है।" यह सत्ता की अवधारणा है जिससे राजनीति विज्ञान मुख्य रूप से संबंधित है। मैकियावेली और हॉब्स जैसे विचारकों ने राजनीति के केंद्रीय विषय के रूप में सत्ता के अध्ययन की वकालत की। हॉब्स ने लिखा: "सभी मानव जाति की एक सामान्य प्रवृत्ति है, सत्ता के बाद सत्ता की एक सतत और बेचैन इच्छा जो केवल मृत्यु में समाप्त होती है।" एंड्रयू हेवुड ने अपनी पुस्तक राजनीतिक सिद्धांत: एक परिचय (पेलग्रेव, 1997, पृष्ठ 122) में सत्ता की अवधारणा पर अपनी परिचयात्मक टिप्पणियों में कहा था: सारी राजनीति सत्ता के बारे में है।

12.3.1 सत्ता के आधार अथवा स्रोत

राजनीतिक अथवा प्रशासनिक सत्ता का शक्ति, प्रभाव आदि से निकट सम्बन्ध है परन्तु सत्ता का अपना स्वतन्त्र आस्तित्व है। सत्ता के अनेक स्रोत होते है। सत्ता का मूल आधार औचित्यपूर्णता होती है। इसके अतिरिक्त अन्य आधारों में विश्वास विचारों की एकरूपता,विभिन्न शक्तियॉ पर्यावरणात्मक दबाब,आन्तरिक संरचनाए,प्रशासनिक संगठन आदि होते हैं। सत्ता के निम्नलिखित स्रोत है।

1.**धर्म**:- धर्मसत्ता का महत्वपूर्ण आधार रहा है। प्राचीन काल से मध्ययुग तक धर्म का समाज पर प्रभाव रहा है। राजा के धर्म के अधीन होता था तथा राज्य में सभी नियम,कानून व सिद्वान्त धर्म पर आधारित थे। इस प्रकार धार्मिक नियमों का पालन कानून की भॉति किया जाता था।

2.शक्ति:- अध्ययन करते से ज्ञात होता है कि शक्ति प्राचीन काल से ही सत्ता का मूल आधार रही है। प्राचीनकाल में समाज में अशन्तिव तनाव व्यापत रहता था। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाला नियम प्रचलित था। जो व्यक्ति अधिक शक्ति सम्पन्न होता था। वह समाज के दूसरे लोगों से अपनी आज्ञा का पालन करता था। राज्य के निर्माण, विस्तार और विकास में शक्ति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हॉब्स मैकियावेली, मार्क्स आदि महान विचारकों ने शक्ति को राज्य सत्ता का एकमात्र आधार माना है। आधुनिक युग में भी सत्ता का आधार कानूनी शक्ति ही है।

3.पैतृक वंश:- पैतृक वंश परम्परा भी सत्ता का आधार रही है। प्राचीनकाल में जिन राज्यों के अन्दर राजतन्त्र विघमान था। जहॉ राजाओं की सत्ता का आधार पैतृक वंश की परम्परा थी। राजतन्त्र राजसिंहासन उत्तराधिकार में प्राप्त होता है। राज्य के लोग राजा के आदेशों का पालन इसलिए कहते है क्योंकि उनके पहले के परिवार के लोग भी अपने समकालीन राजाओं की आज्ञाओं का पालन करते रहे है।

4.दैवी अधिकार:- मध्ययुगीन राजाओं ने अपनी सत्ता का आधार दैवी अधिकार बताया था। वो कहते है कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है तथा उन्हें शासन करने की सत्ता ईश्वर से प्राप्त हुई है। और उनके आदेशों की अवहेलना करने का अर्थ है कि आप ईश्वर के आदेशों की अवहेलना कर रहे हो। फ्रांस में लुई14 वॉ अपने आपको ईश्वर का प्रतिनिधि कहता था। लेकिन वर्तमान समय में दैवी अधिकारों को सत्ता का आधार स्वीकार नहीं किया जाता है।

5.संविधान:- आधुनिक समय में राज्य में शासक की सत्ता का आधार उन राज्यों का संविधान होता है। संविधान में वे सिद्वान्त, नियम कानून निहित होते है जिनके आधार पर सत्ता की संरचना की जाती है। उदाहरण के तौर पर, भारत के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री,राज्यपाल,मुख्यमंत्री आदि की सत्ता का आधार वह संविधान है जो 26 जनवरी 1950 ई0 को लागू किया गया।

6.औचित्यपूर्णता:- आधुनिक समय मे सत्ता का सबसे प्रमुख आधार औचित्यपूर्ण है। सत्ता के पीछे बाध्यकारी कानूनी शक्ति का होना ही जरूरी नहीं है। उसमें औचित्यपूर्णत ऐसी विचार है जो

विश्वास पर आधरित होता है। जब लोग सत्ता की संरचना,कार्यो,नीतियों और निर्णयों के प्रति व्यापक विश्वास रखें और पूर्णसमर्थन दे तो उसे औचित्यपूर्णता कहते है।

12.3.2 सत्ता के प्रकारः

सत्ता को समझने के लिए विद्वान अपनी संकल्पनाओं को निरन्तर परिष्कृत करने का प्रयास करते रहते हैं। मैक्सवेबर ने सत्ता के तीन प्रकार बताये है। परम्परागत,बौद्धिक कानूनी और चमत्कारपूर्ण।

1.परम्परागतः- समाज में, जब प्रजा या अधीनस्थ,वरिष्ठ अधिकारियों के आदेशों का पालन इस आधार पर मानते है कि हमेशा से ऐसा होता आया है तो सत्ता का यह प्रकार परम्परागत कहा जाता है। अर्थात कुछ लोग सत्ता को अपने ऊपर इसलिए स्वीकार कर लेते है, क्योंकि उनका यह विश्वास होता है कि इन नियमों का अनुसरण अति प्राचीन काल से किया जा रहा है। अतः जो परम्परागत या प्रथा दीर्घकाल से अपनायी जा रही है वह निराधार नही हो सकती है । कबीलों,गॉवों के बड़े-बूढ़ों द्वारा सत्ता का प्रयोग ऐसे विश्वासों पर ही होता है।

2. बौद्धिक कानूनीः- जब अधीनस्थ किसी नियम को इस आधार पर स्वीकार करते है कि वह नियम उन उच्चस्तरीय अमूर्त नियमों के साथ सम्मत है जिसे वे औचित्यपूर्ण समझते है, तब इस स्थिति में सत्ता को बौद्धिक कानूनी माना जाता है। अधिकारी तन्त्र बुद्धिसम्पन्न कानूनी अधिकार को सर्वोत्तम उदाहरण है। उदाहरण के लिए, जब भारत में लोक सभा चुनाव के बाद लोकसभा सदस्य अपने नेता का चुनाव करके उसे प्रधानमंत्री की कुर्सी पर बैठा दे तो यह सत्ता का बौद्धिक कानूनी आधार होता है।

3. चमत्कारपूर्णः- इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है। लोग कुछ ऐसे नेताओं की सत्ता को स्वीकार करने या उन्हें सत्ता प्रदान करने के लिए तैयार होते हैं, जिनकी शक्ति ने तो परम्परा के आधार पर मिल तो है और न ही बौद्धिक कानूनी प्रणालियों में , वे ऐसे नेता भी नही होते है जिनकी जनता के बीच कोई पारम्परिक प्रतिष्ठ है। इस प्रकार के नेता कभी कभी असामान्य काम कर जाते हैं जिससे वो इतिहास के पन्नों में दर्ज हो जाते है। ऐसे नेता ही चमत्कारी नेता कहलाती है। गॉधी,लेनिन और हिटलर आदि ऐसे ही चमत्कारपूर्ण नेता थे।

शक्ति और सत्ता-

राजनीति के अन्तर्गत किसी भी निर्णय को लागू करने के लिए शक्ति का प्रयोग आवश्यक है। जहॉं कहीं पर भी आधुनिक समय में सत्ता का प्रयोग होता है वह सत्ता शक्ति का पर्याय बन जाती है और शक्ति की भूमिका सबसे प्रभावशाली वहॉं सिद्ध होती है जहॉं शक्ति केवल बल प्रयोग का साधन नही रह जाती बल्कि वैधता के साथ मिलकर सत्ता का रूप धारण कर लेती है। अतः सत्ता वह शक्ति है। जिसे न्यायचित माना जाता है। जिसे सभी वैध स्वीकार करते हैं या तो उसके निर्णयों पर सहमति देते है या फिर असहमति प्रदान करते है। शक्ति से संघर्ष होने पर व्यक्ति या तो समर्थन करता है या विरोध प्रकट करता हैं जबकि सत्ता से संघर्ष की स्थिति में प्रायः एक ही मार्ग दिखाई देता है उसका पालन। सत्ता औचित्य युक्त होती है इसलिए इसका विरोध शासन के लिए ठीक नहीं माना जाता है। इस प्रकार शक्ति में बल निहित होता है और सत्ता में शक्ति बल के पीछे जब सहमति होती है तब वह शक्ति का रूप ले लेता है। और शक्ति के साथ जब औचित्यपूर्णता जुड़ जाती है। तब वह सत्ता का रूप धारणा कर लेती है। जब तक राज्य में व्यवस्था कायम रहती है तब तक जनसामान्य और समाज उसका समर्थन करता रहता है किन्तु बिना बल शक्ति प्रभावी नहीं दिखाई देती है। इस प्रकार सत्ता में शक्ति और शक्ति में बल का समावेश रहता है।

12.4 वैधता

शक्ति सत्ता और वैधता में अंतरसंबंध है और यह राजनीति विज्ञान महत्वपूर्ण अवधारणा है। शक्ति के साथ जब वैधता जुड़ जाती है तब वह सत्ता कहलाती है । राजनीति विज्ञान में वैधता (Legitimacy) समान्यत: शासकीय कानून अथवा व्यवस्था के मध्य अधिकार और प्राधिकरण की स्वीकृति है।

वैधता वास्तव में शक्ति और सत्ता के बीच की कड़ी है । वैधता ऐसा तत्व है जो पाशविक शक्ति को सत्ता के रूप में ढाल देता है और लोग अपनी इच्छा से उस सत्ता को मानते है । जॉन लॉक से पहले राज-पद को दैवीय उत्पत्ति के सिध्दांत को वैधता का आधार माना गया था । जॉन लॉक ने इसका खंडन करते हुए लोगों की सहमती को राज्य की वैधता का आधार बनाया । वहीं रूसो ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता के विचार को राज्य की वैधता का आधार बनाकर लोकतंत्र की भावना को बढ़ावा दिया । आज की लोकतंत्रीय प्रणालियों में जनता की भागीदारी को राज्य की वैधता का प्रमाण माना जाता है । कभी-कभी लोकतंत्र और अधिनायक-तंत्र में अंतर करने के लिए यह तर्क दिया जाता है कि लोकतंत्र का प्रधान लक्षण वैधता है जबकि अधिनायकतंत्र मुख्यतः शक्ति या बल- प्रयोग के सहारे टिका होता है।

राज्य के पास शक्ति या दमनात्मक बल होता है जिस प्रयोग प्रयोग राज्य कर सकता है इसी लिए लोग राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं। यहाँ तक कि जब वास्तविक रूप में जबरदस्ती (दमन) का उपयोग नही किया जा रहा हो तब भी इसका खतरा मौजूद रहता है।

राज्य को राज्य की अवज्ञा करने वाले लोगों पर नियंत्रण रखने के लिए एक दमनकारी तंत्र बनाये रखना चाहिए लोगों को लगातार दबाव की धमकी में रखने से लगातार टकराव की स्थिति पैदा रहेगी। इससे राज्य खुद को सत्ता में बनाये रखने के के सवाल में उलझा रहेगा।

नागरिकों को केवल बल के द्वारा नियंत्रित करना सम्भव नहीं हैं और उचित भी नहीं है। सत्ता को लोगों को आज्ञाकारिता इस आधार पर मिलती है कि जो राज्य शासन कर रहा है वह उनके लिए अच्छा और लाभदायक है। वह सरकार आमतौर पर स्वीकार्य होती है जो कानून द्वारा स्थापित प्रक्रियाओं के माध्यम से सत्ता में आई है। राज्य और सरकार का गठन नियमों और प्रक्रियाओं का पालन करते हुए उचित रूप से किया गया है इसलिए लोगों को इसका पालन करना चाहिए। यह लोकप्रिय विश्वास ही राज्य को वैधता प्रदान करता है। मैक्स वेबर ने सबसे पहले एक व्यवस्थित सिध्दांत दिया जिसके द्वारा वैधता प्राप्त की जा सकती है। यदि सत्ता को लम्बे समय तक कायम रखना है तो उसे सार्वजनिक स्वीकृति मिलनी ही चाहिए।राजनीतिक सत्ता शासन करने के अधिकार की स्वीकृति पर आधारित है राजनीतिक शक्ति की नींव वैधता है।

वैधता को उस राजनीतिक स्थिति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें सत्ता धारक सत्ता पर अपनी पकड़ को उचित ठहराने में सक्षम होते हैं।

डोल्फ स्टर्नबर्जर ने इसे शासकीय शक्ति की नींव माना है जिसके अनुसार सरकार को यह चेतना रहती है कि उसे शासन करने का अधिकार है तथा दूसरी ओर शासितों द्वारा उस अधिकार को स्वीकार किया जाता है।

एच. जी. वेल्स के अनुसार, लोकतान्त्रिक राजनीति की स्थिरता व्यवस्था न केवल आर्थिक विकास पर निर्भर करती हैं, बल्कि इस पर भी निर्भर करती है वैधता लोगों के विश्वास पर टिकी है। मौजूदा राजनीतिक संस्था को लोगों की सहमती ही वैध बनती है।

जहाँ लोग परिवर्तन के लिए सहमत होते हैं वहाँ सरकारें अपनी वैधता खो देती हैं और राजनीतिक संस्थाएं परिवर्तित हो जाती हैं परिवर्तन के संकट के परिणामस्वरूप वैधता का संकट उत्पन्न होता है।

सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं की प्रभावशीलता वैधता पर निर्भर करती है, लेकिन लोकतंत्रीय व्यवस्था में वैधता का महत्त्व सर्वाधिक है।लोकतंत्र जन सहमती पर आधारित शासन होता है, अतः लोकतंत्र में भय और आतंक के आधार पर जनता से आज्ञा पालन करा पाना कठिन हो जाता है। एस. एम . लिपसेट " किसी विशिष्ट लोकतंत्र की स्थिरता न केवल आर्थिक विकास पर ही, अपितु वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था की वैधता और क्षमता पर भी निर्भर करती है।"वैधता के अंतर्गत राजनीतिक व्यवस्था के सामान्य जन को यह विश्वास होता है कि सत्ता धारक की सत्ता और उसका प्रयोग सामान्य स्वीकृत नियमों पर आधारित है।

डेविड एप्टर ने कुछ कारन बताये है जिनकी वजह से वैधता को खोया जा सकता है -

1 राजनीति के कुछ महत्वपूर्ण सदस्य यदि सरकार से अपना समर्थन वापस ले लें तो वैधता समाप्त हो सकती है।

2 एक नए जागरूक राजनीतिक समूह के उदय के कारण भी वैधता समाप्त हो सकती है।

3 राजव्यवस्था के राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण सदस्यों को राजनीतिक व्यवस्था द्वारा हटाये जाने के कारण वैधता समाप्त हो सकती है।

वैधता की विशेषताएं

1 वैधता राजनीतिक रूप से सत्ता की कार्यात्मकता पर निर्भर करती है।

2 वैधता लोगों की दायित्व पालन करने की भावना पर निर्भर करती है।

3 प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक वैधता की अवधारणा की प्रत्योज्यता होती है।

4 वैधता सरकार के आदर्श प्रकार पर निर्भर करती है।

5 वैधता विश्वास विकसित करने व्यवस्था है।

6 वैधता में प्रभाव भी शामिल होता है।

7 वैधता सम्बंधित मूल्यों पर निर्भर करती है।

8 वैधता शक्ति को सत्ता में परिवर्तित करने का गुण है।

9 वैधता विशाल सामाजिक स्वीकृति पर आधारित है।

वैधता को प्राप्त करने व स्थिर रखने के उपाय

1 नई परिस्थितियों के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन किया जाये।

2 देश की स्थापित परम्पराओं की रक्षा की जाये।

3 जिस विधान के आधार पर शक्ति ग्रहण की गयी हो उसकी रक्षा की जाये।

4 वैधता बनाये रखने के लिए नेतृत्व में चमत्कारक गुण होना चाहिए।

5 लोकतान्त्रिक ढाचे में सशस्त्र सेनाओं को राजनीतिक सत्ता के अधीन होना चाहिए।

वैधता का स्तर हर स्थिति में अलग-अलग होता है यह राज्य के प्रदर्शन पर निर्भर करता है। हालाँकि कानून है कि राज्य की आज्ञा का पालन सभी को करना होता हर जो आज्ञा का पालन नहीं करते हैं उनके खिलाफ दंडात्मक करवाई की जा सकती है। कई विद्वानों का मत है कि कोई भी स्जसन-प्रणाली सम्पूर्ण जनता की दृष्टि से पूर्ण रूप से वैध नहीं हो सकती है। अत्यत लोकप्रिय शासन-प्रणाली के अंतर्गत भी थोड़े बहुत विरोध के स्वर सुनाई देते है।वैधता को मापना आसन नहीं है परन्तु यदि राजनीतिक प्रणाली के अंतर्गत कानूनों का उल्लंघन नहीं हो रहा हो, हिंसा की घटनाएँ नही हो रही हैं और असहमति-आन्दोलन नहीं हो रहे हों तो वैधता को मापा जा सकता है। किसी प्रणाली में शासन और प्रशासन में फैला हुआ भ्रष्टाचार उसकी वैधता को समाप्त कर सकता है। यह भी संभावना रहती है कि लोग कुछ नेताओं के पार्टी अपनी आस्था न रखें पर राजनीतिक प्रणाली की वैधता में उनका भरोसा रहे। यदि पत्रकार, बुद्धिजीवी व न्यायाधीश सतर्क और ईमानदारी से काम करें तो राजनीतिज्ञों व अधिकारीयों के भ्रष्टाचार में नियंत्रण रहता है और वैधता भी सुरक्षित रहती है।

अभ्यास प्रश्नः-

(1.) शक्ति की अवधारणा सर्वप्रथम किसने दी।

a. मैकियावली b.लासवेल

c. कार्ल मार्क्स d. बेकर

(2.) शक्ति के स्रोतों के सम्बन्ध में एक ठीक है-

(a) ज्ञान (b) साधन

(c) निपुणता (d) उपर्युक्त सभी

(3.) जिसकी लाठी उसकी भैंस कौन सी शक्ति का रूप है-

(a) ज्ञान (b) साधन

(c) निपुणता (d) उपर्युक्त सभी

(4.) सत्ता का निम्न आधार है

(a) संविधान (b) बल

(c) अनैतिकता (d) उपरोक्त सभी

(5) लैटिन शब्द 'लेगितिमस' का अर्थ है :

(a) वैध (b) हानिकारक

(b) प्राधिकरण (d) शक्तिशाली

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर राजनीति में शक्ति की भूमिका को देखते है कि प्रायः शक्ति को बल-प्रयोग की धारणा से साथ मिला दिया जाता है। आधुनिक राजनीति-चिन्तन के इतिहास का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि निकोलो मेकियावली और हॉब्स के समय से लेकर बीसबी सदी के अनुभवमूलक सिदान्तकारों तक शक्ति की अवधारणा ऐसी क्षमता के रूप में की गई है कि एक मनुष्य,दूसरे मनुष्य से उसकी इच्छा के विरूद्व आज्ञापालन कैसे करा सकता है? यदि हम दूसरों लोगों से आज्ञापालन कराने या कोई कार्य कराने में उनकी सहमति भी प्राप्त कर ले तो शक्ति की भूमिका ओर प्रभावशाली हो जाती है।

सहमति प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय वैधता है। शासक वर्ग जनता की सहमति प्राप्त करने के लिए 'विचारधारा' का सहारा लेता है। वह आपने आदेश को इस तरह से पेश करता है जैसे वो सर्व-हित के लिए किया गया हो जबकि वह अपने स्वार्थ पर टिका होता है। जैसे अरस्तू ने दास-प्रथा को

उचित ठहराने के लिए यह तर्क दिया कि की दास में सदगुण की कमी पायी जाती है। अतः वह स्वामी से सदगुण का लाभ ले सकता है।

12.6 शब्दावली

लोकमत:- सार्वजनिक महत्व के किसी विषय पर जनता की आम राय,विचार या मत जिसका पता लगाया जा सके।

दबासमूहः- ऐसा संगठन जो अपने सदस्यों के किन्हीं संकीर्ण हितों की रक्षा के लिए सरकार को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है।

विचारधारात्मक शक्तिः- प्रचलित या प्रस्तावित व्यवस्था को सर्वोत्तम व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करके या उसे लोगों की दृष्टि में उचित ठहराकर उसके लिए लोगों की सहमति और समर्थन प्राप्त करने की क्षमता।

12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.b 2. b 3. b 4. a 5.a

12.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.डॉ0वी0एल साह व डॉ नीता बोरा, राजनीतिक विज्ञान का परिचय, अंकित प्रकाशन हल्द्वानी।

2.ओम प्रकाश गाबा,राजनीतिक सिद्वान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स नोएडा।

3.डॉ पुष्पेश पाण्डे व डॉ विजय प्रकाश पन्त, राजनीतिक सिद्वान्त,जगदम्बा पब्लिसिंग कम्पनी नई दिल्ली।

4. डॉ.पुखराज जैन व डॉ. बी. एल. फडिया ,आधुनिक राजनीतिक सिध्दांत, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

12.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. वीरकेश्वर प्रसाद -राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, ज्ञानदा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली

2.डी0डी0 राफेल - राजनीतिक दर्शन की समस्यायें, मैकमिलन लन्दन

12.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1- शक्ति से आप क्या समझते है? इसके स्रोतों का वर्णन कीजिए।

2- शक्ति को परिभाषित कीजिए। इसके विभिन्न प्रकारों की विवेचना कीजिए।

3- सत्ता को परिभाषित कीजिए। सत्ता के प्रकार बताइयें।

4- सत्ता से आप क्या समझते हैं? इसके कार्य और विशेषताएँ बताइये।

5- वैधता क्या है? वैधता को परिभाषित करते हुए , उसकी आवश्यकता पर प्रकाश डालिए ।

इकाई-13: लोकतन्त्र का अर्थ, परिभाषा एवं औचित्य की विविध अवधारणाएँ

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 लोकतन्त्र का परिचय
13.3 लोकतन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
13.3.1 लोकतंत्र का व्यापक अर्थ
13.4 लोकतंत्र के प्रकार
13.5 लोकतंत्र की लहरें
13.5 लोकतंत्र की विशेषताएं
13.6 लोकतंत्र का औचित्य
13.7 लोकतंत्र के दोष
13.8 विकासशील देशों में लोकतंत्र की समस्याएं
13.9 सारांश
13.7 शब्दावली
13.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
13.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
13.11 निबन्धात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई में हमने शक्ति, सत्ता और वैधता के अर्थ इसकी विशेषता के साथ ही इसके अन्य विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया। इस इकाई में हम लोकतन्त्र के अर्थ को समझने का प्रयास करेगें और विभिन्न दार्शनिकों और राजनीतिक विचारकों के दृष्टिकोणों को एकीकृत करते हुए लोकतंत्र को समझने का प्रयास किया जायेगा। लोकतंत्र के सैद्धांतिक, ऐतिहासिक, और समकालीन आयामों का अध्ययन किया जायेगा। लोकतंत्र, राजनीति विज्ञान का एक आधारभूत विषय है , लोकतंत्र शासन की एक ऐसी प्रणाली है, जिसके केंद्र में जनता की भागीदारी और उनकी इच्छा का प्रतिनिधित्व होता है।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के अंतर्गत -

1 लोकतन्त्र के अर्थ को समझ सकेंगे।

2.लोकतन्त्र के प्रकारों पर प्रकाश डालेंगे।

3. लोकतन्त्र की विशेषता पर चर्चा करेंगे।

3.लोकतन्त्र के व दोषो को समझ सकेंगे ।

5.लोकतन्त्र की वर्तमान समय में उपयोगिता।

13.2 लोकतन्त्र का परिचय

लोकतन्त्र वर्तमान युग की सबसे लोकप्रिय अवधारणा है। सत्ता और जनता के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने वाली एक प्रणाली के रूप में लोकतन्त्र सभी देशों में एक अनिवार्य, अपरिहार्य एवं नितान्त वांछित आवश्यकता के रूप में है। विश्व के सभी राष्ट्र चाहे उनकी शासन पद्धतियां कुछ भी क्यों न हो अपने को लोकतन्त्र की ही संज्ञान देते हैं। प्रायः प्रत्येक राजनीतिक पद्धति लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों को अपना रही है। सत्ता में जनसहभागिता सुनिश्चित करने वाली यह व्यवस्था सार्वजनिक सप्रंभुता की द्योतक है। आज मानव शक्ति को अन्मुक्त करने के लिए कोई विचारवाद इतना प्रबल नहीं है जितना कि लोकतन्त्र। वास्तव में अब यह विचारवाद न रहकर मानव धर्म बना गया है।

इतिहास के क्रम में द्वितीय विश्वयुद्ध में इटली तथा जर्मनी (धुरी के राष्ट्रों) के पतन के पश्चात् मित्र राष्ट्रों (अमेरिका,ब्रिटेन एवं फ्रांस) की विजय ने लोकतंत्र को पुनः प्रतिष्ठा दी जो कि 1920 से 1930 तक यूरोप, एशिया तथा अमेरिका के कई देशों में अधिनायकता के फलस्वरूप न ही गई थी। विश्व में आज लोकतंत्र काफी सम्मान का पात्र है। विश्व में चारों ओर लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का ही बोलबाला है। यह बात उल्लेखनीय है कि 1939 में यूनेस्को ने जो अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की उससे ज्ञात होता है कि विश्व के अधिकांश विद्वान लोकतंत्र को उचित और आदर्श राजनीतिक और सामाजिक संगठन समझते हैं।

प्लेटो से लेकर वर्तमान तक राजनीति विज्ञान में लोकतंत्र (जनतंत्र अथवा प्रजातंत्र) सर्वाधिक चर्चित विषय रहा है। वर्तमान समय को साधरण आदमी का युग माना जाता है, जो लोकतंत्र का एक अत्यन्त उपयोगी अवयव है। लोकतंत्र का एक अत्यनत उपयोगी अवयव है। लोकतंत्र कतिपय शाश्वत वरीयताओं, पर आधारित है, जिनको डॉल, डेविड ईस्टन, हेरॉल्ड लासवेल आदि सभी व्यवहारवादी राजनेताओं ने परम मूल्य के रूप में अपनाया। वे आनुभाविक, सन्दर्भ में इसके लगातार सत्यापन के पक्ष में हैं, किन्तु समानताओं के होते हुए भी, पैराक्लीज के एथेन्स तथा टॉमस जकरसन और एण्ड्रयू जैम्सन के प्रजातंत्र से आज का प्रजातंत्र नितानत भिन्न है। इनको एक दूसरे का पर्यायवाची समझना अनुचित है। वर्तमान समय का प्रजातंत्र राज्य प्रधान है और इसमें अनेक मिश्रित विचारधाराओं का समावेश है जैसे राष्ट्रीय प्रजातन्त्र, समाजवादी प्रजातन्त्र, जनवादी प्रजातन्त्र, मूलभुत या पचांयत प्रजातन्त्र आदि। प्रजातन्त्र के ऐतिहासिक तथा शास्त्रीय स्वरूप में वर्तमान युग के सन्दर्भ में पर्याप्त परिवर्तन हो जाने से अनेक राजनीतिशास्त्रियों ने नये नाम सुझाये है। राबर्ट ए. डहल उसे लोकप्रिय शासन या बहुतन्त्र कहा है तो लोवेस्टीन ने पोलोक्रेसी कहना उचित समझा है। अन्य विद्वानों ने उसे दलीय तन्त्रं, जनतन्त्र, निर्वाचित बहुमत, लोकतन्त्र आदि नामों से पुकारा है। हिन्दी भाषा मे जनतन्त्र आर्थिक प्रजातन्त्र के लिए तथा लोकतन्त्र राजनितिक प्रजातन्त्र के लिए प्रयोग किया जाता है। इन विभिन्न नामों के प्रयोग से प्रजातन्त्र के स्वरूप में अनिश्चयात्मकता , अस्पष्टता , भ्रान्ति आदि वैचारिक कठिनाइयाँ पैदा हो गयी है। इसके साथ ही पश्चिमी ओर अमेरिकी प्रजातंत्र में यह एक जीवन-प्रणाली बनकर राज्य व्यवस्थाओं में समा गया है। सारटोरी ने इस अवसान के कारण वर्तमान अवस्था को प्रजातन्त्रात्मक भ्रान्ति का युग कहा है

13.3 लोकतन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

आज लोकतन्त्र शासन का श्रेष्ठतम रूप बन गया है। लोकतन्त्र शब्द अंग्रेजी भाषा के डेमोक्रेसी शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, जो दो यूनानी शब्दों से मिलकर बना है- डेमोस और क्रेटोस । डेमोस का अर्थ जनता और क्रेटोस का अर्थ है सरकार या शासन । इस प्रकार शब्द की उत्पत्ति के दृष्टिकोण से प्रजातन्त्र से अभिप्राय है जनता का शासन कुछ लोग इसे लोकतन्त्र, कुछ प्रजातंत्र से और कुछ जनतंत्र के नाम से पुकारते हैं। साधारणतया लोकतंत्र से अभिप्राय उस शासन व्यवस्था से है जिसमें जनता शासन करती है, वही सरकार का निर्माण करती है, शासन का संचालन करती है तथा सरकार के प्रति उत्तरदायी भी होती है। शासन की सत्ता जनता के हाथों में रहती है, जिसका प्रयोग वह या तो स्वयं करती है या अपने प्रतिनिधियों द्वारा कराती है। महात्मा गाँधी के शब्दों में लोकतंत्र वह कला एवं विज्ञान है। जिसके अन्तर्गत जनसाधारण के विभिन्न वर्गों के भौतिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक

संसाधनों को सभी के समान हित की सिद्धि के लिए नियोजित किया जाता है। इसी संदर्भ में जवाहर लाल नेहरू का दृष्टिकोण है कि लोकतंत्र का आशय सहिष्णुता है, न केवल उन लोगों के प्रति जिनसे सहमति हो वरन् उनके प्रति भी जिनसे असहमति हो।

लोकतंत्र की विद्धानों ने अनेक प्रकार से परिभाषाएं की हैं-

प्राचीन युग में यूनानी लोग लोकतंत्र को बहुरक्षकों का शासन मानते थे। प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक हिरोडोटस के अनुसार- ''लोकतंत्र उस शासन व्यवस्था का नाम है, जिसमें राज्य की सर्वोच्च सत्ता सम्पूर्ण जनता के हाथों में निवास करती है।''

सीले के शब्दों में ''प्रजातंत्र वह शासन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का एक भाग होता है।''

डायसी के अनुसार-'' प्रजातंत्र वह शासन का स्वरूप है जिसमें शासन प्रबन्ध करने वाली संस्था समूचे राष्ट्र का एक अप्रेक्षाकृत बड़ा भाग होती है।''

लेविस का मत है कि-''वस्तुतः प्रजातंत्र वह सरकार में है, जिसमें सम्पूर्ण राष्ट्र की बहुसंख्यक जनता सप्रभुशक्ति के प्रयोग में हिस्सा लेती है।''

हॉल के अनुसार-''प्रजातंत्र राजनीतिक संगठन का वह स्वरूप है जिसमें जनमत का नियत्रण रहता है।''

आशीर्वादम के शब्दों में ''हमारा विश्वास है कि प्रजातंत्र मानवता के प्रति हमारे उत्साह की व्यावहारिक अभिव्यक्ति है।''

ऑस्टिन के अनुसार-''प्रजातंत्र वह शासन है, जिसमें शासन की अंतिम शक्ति जनता के अधिकांश भाग को प्राप्त होती है।''

अब्राहम लिंकन के अनुसार-''लोकतंत्र जनता का जनता के द्वारा और जनता के लिए (स्थापित) शासन प्रणाली है।''

लार्ड जेम्स ब्राइस "लोकतंत्र - ''ऐसा शासन है जिसमें लोग अपनी इच्छा को वोट के रूप में व्यक्त करते हैं।''

शुम्पीटर - "लोकतंत्र निर्णय लेने वाली ऐसी संस्थागत पद्धति है जिसमें सत्ताधारियों को जनता के मतों के लिए प्रतियोगितात्मक संघर्ष के बाद निर्णय लेने की शक्ति मिलती है।"

इस प्रकार शुम्पीटर लोकतंत्र निर्वाचित नेताओं का एक शासन तंत्र मानते है। अर्थात् उनके अनुसार लोकतंत्र राजनेताओं का शासन है।

बर्नाड क्रिक के अनुसार "सार्वजनिक मामलों की दुनिया में लोकतंत्र शायद सबसे स्वच्छंद शब्द (Promiscuous Word) है।"

20वीं सदी में विचारधारात्मक (Ideological) विभिन्नताओं की आँधी में विकासशील नवोदित देशों के लिए लोकतंत्र के परिशुद्ध एवं सूक्ष्म रूपों को समझने की आवश्यकता है। सारटोरी की पुस्तक Democratic Theory-1958 ने इस कारण वर्तमान अवस्था को 'प्रजातंत्रात्मक भ्रान्ति का युग' (Age of Democratic Confusion) कहा है। उससे मुक्त होने की आवश्यकता है ताकि लोकतंत्र के राजनीतिक प्रयोग तथा उसके अन्तर्निहित सिद्धांत को समझा जा सके।

इतिहासकार एच. जी. वेल्स ने 20वीं सदी को 'लोकतंत्र का युग' कहा है।

उपर्युक्त परिभाषाओं में सर्वाधिक लोकप्रिय व मान्य परिभाषा अब्राहम लिंकन की है, जिसे उन्होने अपने गोटसवर्ग के भाषण में कहा था कि लोकतंत्र की विविध परिभाषाओं का मूल अभिप्राय यह है कि लोकतंत्रीय प्रणाली में शासन या सत्ता का अंतिम सूत्र जनसाधारण के हाथों में रहता है ताकि सार्वजनिक नीति जनता की इच्छा के अनुसार और जनता के हित साधन के उद्देश्य से बनाई जाए और कार्यान्वित की जाय।

13.3.1 लोकतंत्र का व्यापक अर्थ

लोकतंत्र बहुआयामी अर्थ लिए हुए है। यह मात्र शासन-व्यवस्था अथवा सरकार का एक रूप मात्र नहीं है, अपितु यह समाज और आर्थिक व्यवस्था का भी एक प्रमुख रूप है। हर्नशॉ के शब्दों में "प्रजातंत्र केवल सरकार का स्वरूप नहीं है, बल्कि राज्य और समाज का भी स्वरूप है।"गिडिंग्स ने इस सन्दर्भ में कहा-"प्रजातंत्र केवल शासन का ही नाम नही है, वरन् राज्य का भी एक रूप है तथा समाज के रूप का भी एक नाम है या फिर तीनों का सम्मिश्रण है।" प्रजातंत्र के नैतिक स्वरूप का वर्णन करते हुए डा0 बेनीप्रसाद ने कहा है कि -"लोकतंत्र जीवन का एक ढंग है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का महत्व उतना ही है जितना अन्य किसी के सुख का साधन मात्र नहीं समझा जा सकता। "मैक्सी ने लोकतंत्र का व्यपक अर्थ करते हुए लिखा है-"बीसवीं सदी में

लोकतंत्र से तात्पर्य एक राजनीतिक नियम, शासन की विधि व समाज के ढांचे से ही नहीं है, वरन् यह जीवन के उस मार्ग की खोज है जिसमें मनुष्यों की स्वतंत्र एवं ऐच्छिक बुद्धि के आधार पर उनमें अनुरूपता और एकी करण लाया जा सके।"

इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में लोकतंत्र के विभिन्न रूप परिलक्षित होते हैं-

1. लोकतंत्र का राजनीतिक स्वरूप-लोकतंत्र का प्रत्यक्ष सम्बन्ध शासन-प्रणाली से होता है। इस अर्थ में लोकतंत्र सरकार का वह संगठन है जो कि जनता के द्वारा निर्मित नियंन्त्रित एवं संचालित होता है। वास्तव में लोकतंत्र में शासन की सत्ता की बागडोर जनता में ही निहित होती है। जनता अपनी सत्ता का प्रयोग स्वयं या अपने प्रतिनिधियों द्वारा करती है। शासन व्यवस्था पर अंतिम अधिकार एवं निर्णय जनता का ही होता है शासन शासितों का हित समान ही होता है। लोकतंत्र के राजनीतिक स्वरूप का अर्थ यही है कि राज्य के प्रत्येक वयस्क स्त्री एवं पुरूष को मतदान का अधिकार प्राप्त हो। प्रत्येक व्यक्ति को शासन की निंदा करने का अधिकार हो तथा समाचार पत्र एवं प्रेस की भूमिका स्वतंत्र एवं निष्पक्ष हो। जनता व सत्ता के मध्य सम्बन्ध समन्वय पूर्ण होने चाहिए।

2.लोकतंत्र का सामाजिक स्वरूप- लोकतांत्रिक समाज समता में फलता एवं फूलता है। समानता की भावना ही लोकतांत्रिक समाज की एक विशिष्ट विशेषता होती है। यह सिद्धान्त जन्म,जाति,वर्ण,चरित्र तथा योग्यता इत्यादि के भेदों से परे प्रत्येक मनुष्य के समान नैतिक गुण और आत्मिक गौरव पर बल देता हुआ समाज में सामाजिक तथा सांस्कृतिक समानता की स्थापना करता है। यह समाज के प्रत्येक सदस्य को अपने व्यक्तित्व के विकास अवसर उपलब्ध कराता है। इस प्रकार, जिस समाज में विचारों,अधिकारों,भावानाओं और आदेशों की समानता होती है। उसे ही लोकतांत्रिक समाज कहा जा सकता है।

क्रोजियर के कथनानुसार "मनुष्य की भौतिक एवं सामाजिक दशाओं की समानता लोकतंत्र का सार है। " आर्शीवार्दम के शब्दों में- "प्रजातांन्त्रिक समाज वह है, जिसमें समानता तथा भ्रातृत्व की भावना सम्भवता वर्तमान रहती है। " अतः सामाजिक दृष्टि से लोकतंत्र का अर्थ सामाजिक समानता के रूप में जाना जाता है।

3. लोकतंत्र का नैतिक स्वरूप- लोकतंत्र का स्वरूप नैतिक भी है। यह स्वरूप एक आदर्श एवं आध्यात्मिक जीवन की कल्पना करता है, जिसके अन्तर्गत घृणा, स्वार्थ, द्वेष, ईर्ष्या इत्यादि बुरी प्रवृत्तियों का नाम नही रहना चाहिए। मनुष्यों में प्रेम, देश-प्रेम, सहयोग, भ्रातृत्व इत्यादि गुणों की

वृद्धि करके नागरिकों में नैतिकता का विकास होना चाहिए। लोकतंत्र की सफलता के लिए राष्ट्रीय एकता तथा लोगों में उच्च नैतक मूल्यों के प्रति निष्ठा नितान्त जरूरी है। प्रजातंत्र के नैतिक स्वरूप का वर्णन करते हुए जैकरसन ने लिखा है "प्रजातंत्र शासन इस विश्वास पर आधारित है कि अधिकांश जनता स्वशासन की योग्यता रखती है तथा साधारण व्यक्ति के अन्दर भी इतनी योग्यता होती है कि वह ऐसे शासकों का निर्वाचन करे, जो सामाजिक हित को दृष्टि में रखकर कार्य करे।

3. लोकतंत्र का आर्थिक स्वरूप-आर्थिक स्वरूप से आशय है आर्थिक समानता से है। आर्थिक स्वतंत्रता और समानता ही वास्वविक प्रजातंत्र का आधार मानी जाती है। भूखे व्यक्ति के लिए लोकतंत्र का कोई महत्व नहीं हो सकता। इस कारण आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना आवश्यक है। आर्थिक लोकतंत्र से आशय है ऐसी व्यवस्था से होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी भौतिक सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित साधन उपलब्ध हो और जहाँ पर किसी का शोषण न किया जाये। यह कहा भी जाता है कि आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक लोकंत्र सामान्य मनुष्यों को अपनी इच्छाओं की पूर्णता में सहायता नहीं दे सकता। राजनीतिक शक्ति आर्थिक शक्ति की दासी है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि समाज में धन का वितरण इस तरह होना चाहिए कि अधिक से अधिक व्यक्ति उसका उपभोग कर सकें और सभी लोगों को भोजन, वस्त्र, शिक्षा आदि की पर्याप्त सुविधाएं प्राप्त हो। सच्चे अर्थों में लोकतंत्र की स्थापना तभी सम्भव है।

5. जीवन का एक रूप-लोकतंत्र जीवन का एक रूप भी है। यह जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण अपनाता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति का सम्मान होता है तथा उसकी आन्तरिक नैतिक एवं आध्यात्मिक क्षमता का विकास किया जाता है। जिससे व्यक्ति की गरिमा में बढ़ोतरी होती है और उसका नैतिक स्तर ऊपर उठता है।

उर्पयुक्त विभिन्न व्यापक दृष्टिकोणों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि लोकतंत्र एक ऐसी शासन प्रणाली और सामाजिक व्यवस्था का सिद्वान्त है जिसकी एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति होती है और जिसका एक आर्थिक आधार होता है और जिसमें सामाजिक, राजनीतिक और दैनिक व्यवहार के सारे सांस्कृतिक मापदंड निहित होते हैं। संक्षेप में लोकतंत्र एक विशेष प्रकार का शासन है सामाजिक व्यवस्था का एक सिद्वान्त है, एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति है। इसका सही अर्थ अपने कर्त्तव्यों का उचित निर्वहन है।

13.4 लोकतंत्र के प्रकार

प्रत्यक्ष और प्रतिनिधि लोकतंत्र लोकतांत्रिक शासन के दो प्रमुख मॉडल हैं। बेंजामिन बार्बर ने स्ट्रॉन्ग डेमोक्रेसी में प्रत्यक्ष लोकतंत्र की वकालत की, जिसमें नागरिक सीधे नीति-निर्माण में भाग लेते हैं। दूसरी ओर, जोसेफ शुम्पीटर ने कैपिटलिज्म, सोशलिज्म एंड डेमोक्रेसी में प्रतिनिधि लोकतंत्र को एक प्रतिस्पर्धी प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया, जिसमें मतदाता नेताओं का चयन करते हैं।

प्रत्यक्ष लोकतंत्र

प्रत्यक्ष लोकतंत्र में देश का शासन वहां के नागरिकों के द्वारा स्वयं चलाया जाता है, इस कार्य के लिए प्रतिनिधियों का चयन नहीं किया जाता है। प्रत्यक्ष लोकतंत्र प्राचीन यूनानी नगर राज्यों में प्रचलित था, वहां सारे नागरिक समय-समय में एकत्र होकर अपने लिए नीतियाँ बनाते थे। प्राचीन यूनानी नगर राज्यों विशेष रूप से एथेंस में स्वतंत्रजन एक बड़ी सभा के रूप में इकठ्ठा होते थे, कानून पारित करते थे और उन्हें कार्यान्वित करते थे, राजदूतों से मिलते थे और न्याय करने के लिए 'जूरी' के रूप में संगठित होते थे। वे खुली सभाओं में मिलते थे और सभी मसलों पर वाद-विवाद और विचार-विमर्श करते थे। इसके अलावा, वे दंडाधिकारी (magisterial) और न्यायिक पद भी धारण करते थे और विवादों का निपटारा भी करते थे। सभी नागरिक सभा के सदस्य होते थे और सभा के द्वारा ही सभी फ़ैसले लिए जाते थे। चुनावों द्वारा या 'ड्रॉ' निकालकर पदों को भरा जाता था। कोई भी पदाधिकारी स्थायी रूप से किसी पद पर नहीं रहता था। इसके पीछे मुख्य उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि कम-से-कम अल्पकालिक पद ज़्यादा-से-ज्यादा लोगों को मिले। इस मॉडल में मुख्य बात यह थी कि यह नागरिकों की राजनीतिक जवाबदेही और राजनीतिक गतिविधि के उच्च स्तर को सुनिश्चित करता था। इस समय नागरिकता के साथ सहभागिता जुड़ी थी और नागरिकता को एक पवित्र कर्तव्य माना जाता था। साथ ही, यह नागरिकों का पूर्ण-कालिक काम था। राजनीतिक सहभागिता का उद्देश्य राज्य का सामान्य हित (common good) सुनिश्चित करना था। यह सामान्य हित व्यक्तिगत हितों से स्वतंत्र था और इसे उनकी तुलना में प्राथमिकता भी मिली हुई थी। सामान्य हित को पाने के लिए यह ज़रूरी था कि नागरिक अपने निजी हितों को एक तरफ रखकर खुद को पूरी तरह से समुदाय से जोड़ें और समुदाय के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूरी तरह निभाएँ। इसमें यह बुनियादी विचार शामिल था कि पूरे समुदाय के लिए उत्तम जीवन (good life) का एकमात्र, सहभागी और तात्विक विचार हो सकता है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने वाली है कि तत्कालीन व्यवस्था में केवल स्वतंत्रजन ही नीति निर्माण प्रक्रिया में भाग ले सकता था। स्त्रियाँ व दास इसमें

प्रतिभागी नही होते थे। गणतंत्रवादी रोम में एथेंसवादी लोकतंत्र की कुछ विशेषताएं पाई जाती थी। नागरिक जीवन में लोकप्रिय सहभगिता की अवधारणा और सामुदायिक कर्तव्य की भावना। इसमें यह विचार भी शामिल था की व्यक्तिगत हित की जगह सार्वजानिक हित अधिक महत्वपूर्ण है।

18 वीं शताब्दी में ज्यां जाक रूसो ने प्रत्यक्ष लोकतंत्र को सराहा उन्होंने प्रत्यक्ष लोकतंत्र के लिए कुछ जरुरी शर्ते बतायी है।

1.राज्य छोटा हो जिसके नागरिक आसानी से एकत्र हो सकें, और उसमें हर नागरिक बाकी सबको जनता हो।

2 उसमें लोगों के तौर तरीके सीधे-सादे हों।

3 लोगों की प्रतिष्ठा और संपत्ति भुत हद तक बराबर हो।

3 विलासिता कहीं न हो या बहुत कम हो।

यदि आज के राज्यों को देखें तो उनकी जनसँख्या इतनी अधिक होती है और क्षेत्रफल इतना फेला होता है की सभी नागरिकों को एक जगह में एकत्र करना नामुमकिन होता है । वर्तमान में, प्रत्यक्ष लोकतंत्र स्विट्जरलैंड में पाया जाता है। हालांकि, स्विट्जरलैंड में भी पूरी तरह से प्रत्यक्ष लोकतंत्र नहीं है, बल्कि एक अर्ध-प्रत्यक्ष लोकतंत्र है, जहां नागरिक विधायी प्रक्रिया में सीधे तौर पर शामिल होते हैं, लेकिन प्रतिनिधि सरकार भी मौजूद है।

प्रतिनिधि लोकतंत्र : आज के दौर में लोकतंत्र को प्रतिनिधि लोकतंत्र के द्वारा लागू किया जा सकता है। इसमें जनता अपने प्रतिनिधियों को निश्चित अवधि के लिए शासन करने के लिए चुनती है, शासन-काल में उनकी गतिविधियों की निगरानी करती है और यदि प्रतिनिधि सही तरह से अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन नही कर रहा हो तो उसे पद से हटा सकती है।

प्रतिनिधि लोकतंत्र की प्रचलित पद्धति के अनुसार प्रतिनिधि के चुनाव का अधिकार वयस्क नागरिकों को ही होता है, और चुनाव साधारणतः बहुमत के आधार पर होता है। परंतु जब कोई प्रतिनिधि चुन लिया जाता है तब वह केवल बहुमत का प्रतिनिधि नहीं रह जाता जिसका समर्थन पाकर उसने चुनाव जीता है, बल्कि अपने निर्वाचन क्षेत्र के सभी मतदाताओं या सभी नागरिकों का प्रतिनिधि बन जाता है, और उन सबके हितों का प्रतिनिधित्व करना उसका कर्तव्य हो जाता है। बहुमत और अल्पमत के परस्पर-विरोधी हितों में सामंजस्य (Reconciliation) स्थापित करना

उदार लोकतंत्र (Liberal Democracy) की ज़रूरी शर्त है। कुछ आधुनिक राज्यों में अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में प्रत्यक्ष लोकतंत्र का पुट देने के लिए परिपृच्छा (Referendum), उपक्रम (Initiative) और प्रत्याह्वान (Recall) की पद्धति अपनाई जाती है। उदाहरण के लिए, आस्ट्रेलिया, डेन्मार्क, फ़्रांस, इटली, स्विट्जरलैंड, इत्यादि में सांविधानिक संशोधन के लिए परिपृच्छा की पद्धति अपनाई जाती है। परिपृच्छा को जनमतसंग्रह (Plebiscite) भी कहा जाता है। इसमें प्रस्तावित क़ानून के लिए सीधे जनता की राय ली जाती है। उपक्रम के अंतर्गत जनता स्वयं विधानमंडल से कोई क़ानून बनाने का प्रस्ताव कर सकती है। यह पद्धति स्विट्जरलैंड में प्रचलित है। वहां 50,000 नागरिक मिलकर संघीय संविधान(Federal Constitution) में संशोधन या आमूल परिवर्तन का प्रस्ताव रख सकते हैं। प्रत्याह्वान की पद्धति के अंतर्गत यह व्यवस्था रहती है कि यदि जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों या अधिकारियों का व्यवहार संतोषजनक न हो तो जनता उनकी पदावधि (Term of Office) समाप्त होने से पहले उन्हें पद से हटाकर उनकी जगह नए प्रतिनिधि चुन सकती है। कुछ भी हो, इन पद्धतियों का प्रयोग सभी देशों और सभी परिस्थितियों में संभव नहीं।

फिर, यह भी सर्वविदित है कि प्रतिनिधि लोकतंत्र में आम चुनाव के समय विभिन्न राजनीतिक दल अपना-अपना चुनाव घोषणापत्र (Election Manifesto) जारी करते हैं, जिसमें उनकी नीति और कार्यक्रम की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की जाती है। जो दल चुनाव जीत जाता है- विशेषतः जिस दल को विधानमंडल में बहुमत प्राप्त होता है - वह यह मान सकता है कि उसकी नीति और कार्यक्रम पर जनता ने अपनी स्वीकृति की छाप लगा दी है। कुछ भी हो, यह तरीक़ा सब परिस्थितियों में कारगर नहीं होता। यदि चुनाव में किसी एक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो तो अनेक दल 'न्यूनतम साझा कार्यक्रम' (Common Minimum Programme) के आधार पर मिली-जुली सरकार (Coalition Government) चला सकते हैं। ऐसी हालत में किसी विशेष मुद्दे पर जनादेश (Mandate) की व्याख्या की समस्या पैदा हो सकती है। इस समस्या के समाधान के लिए यदि संविधान में परिपृच्छा की व्यवस्था कर दी जाए तो इससे लोकतंत्र को सुदृढ़ करने में सहायता मिलेगी।

सी.बी. मैकफर्सन की पुस्तक, "लोकतंत्र की वास्तविक दुनिया", लोकतंत्र के विभिन्न मॉडलों (पश्चिमी-उदारवादी, साम्यवादी और तीसरी दुनिया) और एक-दूसरे पर उनके प्रभावों की जांच करके इन जटिलताओं का पता लगाती है। इस किताब में उन्होंने लोकतंत्र के चार प्रकार बताये है -

1 संरक्षणवादी लोकतंत्र

2 विकासात्मक लोकतंत्र

3 साम्यवादी लोकतंत्र

3 सहभागी लोकतंत्र

13.5 लोकतंत्र की लहरें

सेमुअल पी. हण्टिगटन (U.S.A.) ने अपनी प्रसद्धि पुस्तक 'The Third Wave: Democratization in the Late Twentiets (20th) Century- (1991) में लोकतन्त्र की तीन लहरें बताई है-

(i) प्रथम लहर 1828-1926 तक

प्रथम दीर्घ लहर थी, इस लहर में पश्चिम यूरोप व USA में लोकतन्त्र की स्थापना हुई। इस लहर में पश्चिमी देशों में औद्योगिकीकरण व उदारवादी राज्य के साथ लोकतन्त्र का विकास हुआ। प्रथम लहर के दौरान ब्रिटेन जैसे देशों में सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार को मान्यता मिली व सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाया गया।

प्रथम प्रतिलोम लहर - (First Anti Tide) - द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व जर्मनी, इटली, पुर्तगाल आदि में लोकतंत्र की जगह तानाशाही आयी। नाजीवाद, फासीवाद व साम्यवाद के आने से लोकतंत्र को नुकसान हुआ।

(ii) द्वितीय लहर 1933 - 1962 तक

यह लहर द्वितीय विश्व युद्ध (1939-1935) के उपरान्त दिखाई दी। इस लहर में IIIrd World में उन देशों में लोकतंत्र आया जो उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद से पीड़ित थे।

द्वितीय लहर में इटली व पश्चिमी जर्मनी जैसे पश्चिमी यूरोपीय देशों में फासीवाद व नाजीवाद की जगह लोकतान्त्रिक प्रणालियों का पुनर्गठन हुआ। वहीं भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, इण्डोनेशिया जैसे नव आजाद हुए एशियाई देशों व गुलामी की जंजीरों से मुक्त हुए घाना, तंजानिया जैसे अफ्रीकन देशों में लोकतन्त्र आया।

प्रथम लहर में पश्चिमों देशों में जो लोकतन्त्र आया वह रूढ़िवाद, सामाजिक पद सोपानियता (Hierarchical Society) व निरकुंश राजतन्त्रों के खिलाफ आया। यहाँ औद्योगिकरण व आर्थिक विकास के फलस्वरूप लोकतन्त्र का विकास हुआ। यहाँ लोकतन्त्र का उद्देश्य राज्य की शक्ति को

क्षीण करना व नागरिक समाज (Civil Society) की शन्ति को बढ़ाना था जबकि द्वितीय लहर में विकासशील देशों की स्थिति इससे विपरीत थी। यहाँ लोकतन्त्र को इसलिए अपनाया गया ताकि आर्थिक विकास को बढ़ावा दिया जा सके। यहाँ नागरिक समाज की तुलना में राज्य की भूमिका मुख्य व अग्रिम बनी रही।

दूसरी प्रतिलहर (Second Anti-Tide) - 1960 के दशक में अधिकांश IIIrd world देशों में लोकतंत्र ढह गया।

(iii) तीसरी लहर (Third Wave) - (1973-1989):- तीसरी लहर के दौर में स्पेन, पुर्तगाल, पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों में व चिली में लोकतंत्र आया । इस लहर की शुरूआत 1973 में पुर्तगाल में अधिनायकवाद व तानाशाही की समाप्ति से मानी जाती है। पुर्तगाल में 'कार्नेशन क्रांति' ने वहाँ 1973 में अधिनायकवाद के स्थान पर लोकतन्त्र की स्थापना कर दी। उसके अगले ही साल 1975 में स्पेन में जनरल फ्रैंकों की मौत के साथ ही लोकतन्त्र की स्थापना का रास्ता साफ हो गया।

तीसरी लहर में जहाँ ग्रीस, पुर्तगाल व स्पेन में दक्षिणपंथी तानाशाही को पछाड़ लोकतन्त्र आया। वहीं इस लहर में सोवियत संघ से अलग हुए देशों व पूर्वी यूरोपीय देशों में लोकतन्त्र आया। यह लैटिन अमेरिका में जनरलों की वापसी व साम्यवादी व्यवस्थाओं के अवसान के कारण आया।

तृतीय लहर को उदारीकरण व भूमण्डलीकरण (L.P.G.) जैसी प्रवृत्तियों ने भी प्रभावित किया।

हंण्टिगंटन द्वारा वर्णित इस तीसरी लहर में दक्षिणी पूर्वी यूरोप, लैटिन अमेरिका, अफ्रीका व एशिया के लगभग 30 देशों में लोकतन्त्र आया। मुख्य प्रभाव पूर्वी यूरोप पर पड़ा। हण्टिगंटन में सोवियत संघ के बिखराव की चर्चा नहीं की है।

लोकतंत्र तीसरी लहर में एशिया में दक्षिण कोरिया, ताईवान व फिलीपिन्स में लोकतन्त्र आया।

सेवा गुनीटस्की (Seva Gunitsky) ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'From shocks to waves: Hegemonic Trasitions and Democratization in 20th Century" - 2013 में लोकतन्त्रीकरण की चर्चा की है।

सेवा गुनीटस्की जो कि टोरंटो विश्वविद्यालय (कनाडा) में अध्यापक है ने 2017 में लोकतंत्रीकरण पर 'Great powers and democratic Reforms in the 20th century" नामक पुस्तक लिखी है।

सेवा गुनीटस्की ने अपने लेख "Democratic Waves in Historical Perspective-Perspective on Polities-2018 में लोकतन्त्र की 13 लहरों (Thirteen waves) की चर्चा की है।

लेरी लेरी डायमंड की पुस्तक थर्ड विंडस(ll Winds: Saving Democracy from Russian Rage, Chinese Ambition, and American Complacency, Penguin Press, 2019)

में लोकतंत्र पर तीन खतरे बताये हैं

रुसी क्रोध

चीनी महत्वाकांक्षा

अमरीकी आत्म संतोष

अरब बसंत (Arab Spring) शब्द का प्रथम प्रयोग अमेरीकी विद्वान 'मार्क लिंच' ने फोरेन पॉलिसी जर्नल में लिखे अपने लेख में किया था। अरब बसंत के तहत मध्यपूर्व के यानि अरब की खाड़ी के मुस्लिम देशों में अहिंसक नागरिक क्रांति हुई थी। क्रांति की मांग लोकतांत्रिक शासन व स्वतंत्रताओं की व्यवस्था। इसका आगाज 2011 में ट्यूनिशिया से हुआ जहां बेन अली को अपना पद छोड़ना पड़ा। फिर मिश्र के होस्नी मुबारक व लीबिया के तानाशाह कर्नल गद्दाफी के शासन का भी अन्त हो गया।

अरब बसंत को अहमद इब्राहिम अबूशौक ने **'लोकतन्त्रीकरण की चौथी लहर'** (Fourth wave of Democra-tization) माना है। सेवा गुनीटस्की ने इसे 13वीं लहर माना है। वहीं लेरी डायमण्ड ने इसे 'लोकतंत्र का गलत आरम्भ' (False Start of Democracy) कहा है।

लोकतंत्र एक शासन व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था और जीवन पद्धति है इस सन्दर्भ में गिडिंग्स ने लिखा है कि "प्रजातंत्र केवल सरकार का ही नहीं वरन राज्य और समाज का रूप अथवा इन तीनों का मिश्रण भी है"

13.6 लोकतंत्र की विशेषताएं

लोकतंत्र, जिसे जनतंत्र भी कहा जाता है, एक ऐसी शासन व्यवस्था है जिसमें जनता की सर्वोच्चता होती है। यह शब्द ग्रीक भाषा के शब्दों ‘‘डेमोस’’ (जनता) और ‘‘क्रेटोस’’ (शासन) से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है ‘‘जनता का शासन’’। लोकतंत्र वह व्यवस्था है जिसमें लोग अपने प्रतिनिधियों को

चुनते हैं या स्वयं शासन में भाग लेते हैं। यह एक ऐसी प्रणाली है जो स्वतंत्रता, समानता, और न्याय के सिद्धांतों पर आधारित होती है। लोकतंत्र की प्रमुख विशेषताओं को विस्तार से समझने का प्रयास करते है, जो इसे अन्य शासन व्यवस्थाओं से अलग बनाती हैं।

1. जनता की संप्रभुता

लोकतंत्र की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है जनता की संप्रभुता। इसका अर्थ है कि सत्ता का अंतिम स्रोत जनता होती है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में सरकार जनता द्वारा, जनता के लिए, और जनता के हित में कार्य करती है। जनता को यह अधिकार होता है कि वह अपने प्रतिनिधियों को चुन सके और समय-समय पर उन्हें बदल सके। यह विशेषता सुनिश्चित करती है कि शासन जनता की इच्छा और आवश्यकताओं के अनुरूप हो। उदाहरण के लिए, भारत में प्रत्येक पांच वर्ष में होने वाले आम चुनाव जनता को यह अवसर प्रदान करते हैं कि वह अपनी सरकार चुन सके।

2. स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव

लोकतंत्र में स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव एक महत्वपूर्ण आधार हैं। यह व्यवस्था सुनिश्चित करती है कि प्रत्येक वयस्क नागरिक को बिना किसी भेदभाव के मतदान का अधिकार हो। चुनाव प्रक्रिया पारदर्शी होनी चाहिए, जिसमें कोई धांधली या दबाव न हो। भारत जैसे देशों में, स्वतंत्र निर्वाचन आयोग यह सुनिश्चित करता है कि चुनाव निष्पक्ष और स्वतंत्र रूप से संपन्न हों। इसके अलावा, मतदाताओं को विभिन्न दलों और उम्मीदवारों के बीच चयन करने की स्वतंत्रता होती है, जो लोकतंत्र की जीवंतता को दर्शाता है।

3. कानून का शासन

लोकतंत्र में कानून का शासन सर्वोपरि होता है। इसका अर्थ है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना भी प्रभावशाली क्यों न हो, कानून से ऊपर नहीं है। सभी नागरिकों के लिए कानून समान रूप से लागू होता है, और यह सुनिश्चित किया जाता है कि शासन व्यवस्था निष्पक्ष और पारदर्शी हो। कानून का शासन व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकारों की रक्षा करता है। उदाहरण के लिए, भारत का संविधान सभी नागरिकों को समानता और न्याय का अधिकार प्रदान करता है, और न्यायपालिका इसकी रक्षा करती है।

3. मौलिक अधिकार

लोकतंत्र में नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किए जाते हैं, जो उनकी स्वतंत्रता और गरिमा की रक्षा करते हैं। ये अधिकार आमतौर पर संविधान में निहित होते हैं और इसमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता का अधिकार, धर्म की स्वतंत्रता, और शिक्षा का अधिकार जैसे महत्वपूर्ण अधिकार शामिल होते हैं। ये अधिकार सुनिश्चित करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी राय व्यक्त कर सके, अपने धर्म का पालन कर सके, और बिना किसी भेदभाव के जीवन जी सके। भारत में, संविधान के भाग III में मौलिक अधिकारों का उल्लेख है, जो लोकतंत्र की रीढ़ हैं।

5. अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

लोकतंत्र में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एक महत्वपूर्ण विशेषता है। यह नागरिकों को अपनी राय, विचार, और विश्वासों को स्वतंत्र रूप से व्यक्त करने का अधिकार देता है। यह स्वतंत्रता प्रेस, मीडिया, और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के माध्यम से सुनिश्चित की जाती है। एक स्वस्थ लोकतंत्र में, लोग सरकार की नीतियों की आलोचना कर सकते हैं और अपने विचार बिना किसी डर के व्यक्त कर सकते हैं। हालांकि, यह स्वतंत्रता कुछ उचित प्रतिबंधों के साथ आती है ताकि सामाजिक शांति और एकता बनी रहे।

6. समानता का सिद्धांत

लोकतंत्र समानता के सिद्धांत पर आधारित है। इसमें सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक रूप से समान अवसर प्रदान किए जाते हैं। जाति, धर्म, लिंग, या आर्थिक स्थिति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाता। यह सिद्धांत सुनिश्चित करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज में सम्मान और समान अवसर प्राप्त हों। भारत जैसे देशों में, संविधान के अनुच्छेद 13 में समानता के अधिकार की गारंटी दी गई है, जो लोकतंत्र की इस विशेषता को मजबूत करता है।

7. स्वतंत्र न्यायपालिका

लोकतंत्र में स्वतंत्र न्यायपालिका एक महत्वपूर्ण स्तंभ है। यह सुनिश्चित करती है कि कानून का शासन बना रहे और नागरिकों के अधिकारों की रक्षा हो। न्यायपालिका सरकार के कार्यों की निगरानी करती है और यह सुनिश्चित करती है कि कोई भी शक्ति का दुरुपयोग न करे। भारत में,

सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय संविधान की रक्षा करते हैं और नागरिकों के मौलिक अधिकारों को सुनिश्चित करते हैं। स्वतंत्र न्यायपालिका लोकतंत्र की निष्पक्षता और पारदर्शिता को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

8. वकेंद्रीकरण और स्थानीय स्वशासन

लोकतंत्र में विकेंद्रीकरण एक महत्वपूर्ण विशेषता है, जो शक्ति को केंद्रीय स्तर से स्थानीय स्तर तक वितरित करता है। स्थानीय स्वशासन, जैसे कि पंचायती राज व्यवस्था, यह सुनिश्चित करती है कि जनता स्थानीय स्तर पर शासन में भाग ले सके। इससे न केवल जनता की भागीदारी बढ़ती है, बल्कि स्थानीय समस्याओं का समाधान भी अधिक प्रभावी ढंग से हो पाता है। भारत में 73वें और 73वें संवैधानिक संशोधन ने पंचायती राज और नगरपालिका व्यवस्था को मजबूत किया है।

9. राजनीतिक दलों की भूमिका

लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ये दल विभिन्न विचारधाराओं और नीतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और जनता को वैकल्पिक विकल्प प्रदान करते हैं। स्वस्थ लोकतंत्र में, राजनीतिक दल जनता की आवाज को सरकार तक पहुंचाने का कार्य करते हैं। इसके साथ ही, विपक्षी दल सरकार की नीतियों पर नजर रखते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उनकी आलोचना करते हैं। यह व्यवस्था लोकतंत्र को गतिशील और जवाबदेह बनाए रखती है।

10. जवाबदेही और पारदर्शिता

लोकतंत्र में सरकार जनता के प्रति जवाबदेह होती है। इसका अर्थ है कि सरकार को अपने कार्यों और नीतियों का हिसाब जनता को देना होता है। पारदर्शिता के माध्यम से, जनता को यह जानने का अधिकार होता है कि सरकार कैसे कार्य कर रही है और सार्वजनिक संसाधनों का उपयोग कैसे हो रहा है। भारत में, सूचना का अधिकार (RTI) अधिनियम 2005 ने पारदर्शिता को बढ़ावा दिया है, जिससे नागरिक सरकार के कार्यों की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

11. लचीलापन और परिवर्तनशीलता

लोकतंत्र एक लचीली शासन व्यवस्था है, जो समय के साथ बदलती परिस्थितियों के अनुरूप ढल सकती है। यह समाज की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुसार नीतियों और कानूनों में परिवर्तन की अनुमति देता है। उदाहरण के लिए, भारत में समय-समय पर संवैधानिक संशोधन किए गए हैं ताकि सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों को समायोजित किया जा सके। यह लचीलापन लोकतंत्र को जीवंत और प्रासंगिक बनाए रखता है।

12. सामाजिक समावेशन

लोकतंत्र सामाजिक समावेशन को बढ़ावा देता है। यह सुनिश्चित करता है कि समाज के सभी वर्ग, चाहे वे अल्पसंख्यक हों, महिलाएं हों, या आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग हों, उन्हें शासन में भाग लेने का अवसर मिले। भारत में, आरक्षण नीति और विभिन्न सामाजिक कल्याण योजनाएं इस विशेषता को मजबूत करती हैं। यह सामाजिक समावेशन लोकतंत्र को और अधिक समावेशी और न्यायपूर्ण बनाता है।

लोकतंत्र एक ऐसी शासन व्यवस्था है जो जनता की स्वतंत्रता, समानता, और अधिकारों को प्राथमिकता देती है। इसकी विशेषताएं, जैसे कि जनता की संप्रभुता, स्वतंत्र चुनाव, कानून का शासन, और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, इसे अन्य शासन व्यवस्थाओं से अलग बनाती हैं। भारत जैसे देश में, जहां विविधता और जटिलता बहुत अधिक है, लोकतंत्र ने समाज को एकजुट करने और सभी को समान अवसर प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हालांकि, लोकतंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि नागरिक कितनी जागरूकता और सक्रियता के साथ इसमें भाग लेते हैं। एक मजबूत और स्वस्थ लोकतंत्र के लिए, नागरिकों का शिक्षित, जागरूक, और सक्रिय होना आवश्यक है।

13.7 लोकतंत्र का औचित्य

लोकतंत्र का औचित्य इस बात में निहित है कि यह व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता, और गरिमा को सुनिश्चित करता है, साथ ही सामाजिक और राजनीतिक स्थिरता को बढ़ावा देता है। आइये लोकतंत्र

के औचित्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्लेषित करके , यह समझने का प्रयास करते हैं कि लोकतंत्र शासन व्यवस्था क्यों आधुनिक समाजों के लिए सबसे उपयुक्त और आवश्यक है।

1. जनता की संप्रभुता और भागीदारी

जहाँ सरकार होती है , वहां हमेशा यह खतरा रहता है कि सत्ताधारी सत्ता का दुरूपयोग कर सकता है इससे बचने का उपाय है की सत्ताधारी के हाथों में असीमित सत्ता न दी जाये। लोकतंत्र का सबसे बड़ा औचित्य ही यह है कि यह जनता के शासन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेने से सत्ता के दुरुपयोग की संभावना कम हो जाती है । यह व्यवस्था जनता को अपनी सरकार चुनने और उसकी नीतियों को प्रभावित करने का अधिकार देती है। स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों के माध्यम से, लोग अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं, जो उनकी इच्छाओं और आवश्यकताओं को शासन में प्रतिबिंबित करते हैं। यह प्रक्रिया सुनिश्चित करती है कि शासन जनता के प्रति जवाबदेह रहे। उदाहरण के लिए, भारत में प्रत्येक पांच वर्ष में होने वाले आम चुनाव जनता को अपनी सरकार बदलने का अवसर देते हैं, जिससे शक्ति का दुरुपयोग रोका जाता है।

2. स्वतंत्रता और समानता की गारंटी

लोकतंत्र व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समानता को बढ़ावा देता है, जो मानव गरिमा के लिए आवश्यक हैं। यह व्यवस्था प्रत्येक नागरिक को अभिव्यक्ति, धर्म, और जीवन की स्वतंत्रता प्रदान करती है। साथ ही, यह जाति, धर्म, लिंग, या आर्थिक स्थिति के आधार पर भेदभाव को समाप्त करने का प्रयास करता है। भारत के संविधान में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था, जैसे कि अनुच्छेद 13 (समानता का अधिकार) और अनुच्छेद 19 (अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता), लोकतंत्र के इस औचित्य को दर्शाते हैं। यह सुनिश्चित करता है कि समाज का प्रत्येक वर्ग सम्मान और समान अवसर प्राप्त करे।

3. न्याय और कानून का शासन

लोकतंत्र का एक अन्य महत्वपूर्ण औचित्य है कानून का शासन। यह व्यवस्था सुनिश्चित करती है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना भी प्रभावशाली हो, कानून से ऊपर नहीं है। स्वतंत्र न्यायपालिका नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करती है और सरकार के कार्यों की निगरानी करती है। यह शक्ति के दुरुपयोग को रोकता है और समाज में निष्पक्षता बनाए रखता है। भारत में सर्वोच्च न्यायालय और

उच्च न्यायालय संवैधानिक मूल्यों की रक्षा करते हैं, जो लोकतंत्र की मजबूती का प्रतीक है। यह निष्पक्षता और जवाबदेही लोकतंत्र को अन्य शासन व्यवस्थाओं, जैसे कि तानाशाही, से श्रेष्ठ बनाती है।

3. सामाजिक और राजनीतिक स्थिरता

लोकतंत्र सामाजिक और राजनीतिक स्थिरता को बढ़ावा देता है। यह विभिन्न विचारधाराओं, संस्कृतियों, और समुदायों को एक मंच पर लाता है, जहां वे अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं और समझौते के माध्यम से समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। लोकतंत्र में विपक्ष की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, जो सरकार की नीतियों की आलोचना करती है और वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। यह प्रक्रिया समाज में असंतोष को कम करती है और हिंसा या विद्रोह की संभावना को कम करती है। भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में, लोकतंत्र ने विभिन्न समुदायों को एकजुट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

5. विकास और प्रगति का आधार

लोकतंत्र विकास और प्रगति का आधार प्रदान करता है। यह जनता की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को शासन की नीतियों में शामिल करता है। लोकतांत्रिक सरकारें शिक्षा, स्वास्थ्य, और आर्थिक विकास जैसी योजनाओं को लागू करती हैं, जिनका उद्देश्य समाज के सभी वर्गों का उत्थान होता है। उदाहरण के लिए, भारत में विभिन्न कल्याणकारी योजनाएं, जैसे कि मनरेगा और आयुष्मान भारत, लोकतंत्र की जन-केंद्रित प्रकृति को दर्शाती हैं। इसके अलावा, लोकतंत्र नवाचार और रचनात्मकता को प्रोत्साहित करता है, क्योंकि लोग अपने विचार स्वतंत्र रूप से व्यक्त कर सकते हैं।

6. वैश्विक स्वीकार्यता और सहयोग

आधुनिक विश्व में लोकतंत्र को वैश्विक स्तर पर सबसे स्वीकार्य शासन व्यवस्था माना जाता है। यह अंतरराष्ट्रीय सहयोग और शांति को बढ़ावा देता है। लोकतांत्रिक देश आमतौर पर एक-दूसरे के साथ बेहतर संबंध रखते हैं, क्योंकि उनकी शासन व्यवस्था समान मूल्यों पर आधारित होती है। भारत जैसे लोकतांत्रिक देश ने वैश्विक मंचों, जैसे कि संयुक्त राष्ट्र, में अपनी मजबूत उपस्थिति दर्ज की है। यह लोकतंत्र की वैश्विक स्वीकार्यता और इसके औचित्य को दर्शाता है।

7. लचीलापन और अनुकूलनशीलता

लोकतंत्र की एक और विशेषता इसका लचीलापन है, जो इसे समय के साथ बदलती परिस्थितियों के अनुरूप ढालने में सक्षम बनाता है। यह व्यवस्था समाज की नई चुनौतियों, जैसे कि तकनीकी प्रगति या सामाजिक परिवर्तन, के लिए नीतियों और कानूनों में बदलाव की अनुमति देती है। भारत में संवैधानिक संशोधनों, जैसे कि 73वें और 73वें संशोधन (पंचायती राज और नगरपालिका), ने स्थानीय स्वशासन को मजबूत किया है। यह लचीलापन लोकतंत्र को दीर्घकालिक और प्रासंगिक बनाता है।

8. नागरिकों में जागरूकता और सशक्तिकरण

लोकतंत्र नागरिकों में जागरूकता और सशक्तिकरण को बढ़ावा देता है। यह लोगों को अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति जागरूक करता है। सूचना का अधिकार (RTI) जैसे कानून नागरिकों को सरकार के कार्यों की जानकारी प्राप्त करने और उसे जवाबदेह बनाने में सक्षम बनाते हैं। इसके अलावा, लोकतंत्र में शिक्षा और प्रेस की स्वतंत्रता नागरिकों को सूचित और जागरूक बनाए रखती है, जो एक स्वस्थ शासन व्यवस्था के लिए आवश्यक है।

लोकतंत्र का औचित्य इसकी जन-केंद्रित प्रकृति, स्वतंत्रता और समानता की गारंटी, कानून के शासन, और सामाजिक स्थिरता को बढ़ावा देने की क्षमता में निहित है। यह शासन व्यवस्था न केवल व्यक्ति की गरिमा और अधिकारों की रक्षा करती है, बल्कि समाज को प्रगति और विकास की ओर ले जाती है। भारत जैसे विविधतापूर्ण और जटिल देश में, लोकतंत्र ने विभिन्न समुदायों को एकजुट करने और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हालांकि, लोकतंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि नागरिक कितनी जागरूकता और सक्रियता के साथ इसमें भाग लेते हैं। एक मजबूत लोकतंत्र के लिए, नागरिकों का शिक्षित और जागरूक होना आवश्यक है, ताकि वे अपने अधिकारों का उपयोग कर सकें और शासन को जवाबदेह बना सकें। इस प्रकार, लोकतंत्र न केवल एक शासन व्यवस्था है, बल्कि एक जीवन शैली है जो मानवता के उत्थान का आधार बनती है। आधुनिक युग में लोकतंत्र की एक विडम्बना यह है कि विश्व के कई बड़े-बड़े राष्ट्रों में लोकतंत्र और पूंजीवाद को साथ-साथ चलाने की कोशिश की जाती है। परिणाम यह होता है कि राजनितिक स्तर पर जिन आदर्शों की प्रतिष्ठा की जाती है, आर्थिक स्तर पर उनके विरोधी आदर्शों को लागू किये जाते है। हेरल्ड जे. लास्की ने ए ग्रामर ऑफ़ पॉलिटिक्स में इस

असंगति के बारे में लिखा है। सच्चे लोकतंत्र की स्थापना के लिए समाज के आर्थिक आधार को भी राजनीतिक आधार की तरह व्यापक बनाना होगा। महात्मा गाँधी ने भी इस सन्दर्भ में लिखा है " लोकतंत्र वह कला एवं विज्ञान है जिसके अंतर्गत जनसाधारण के विभिन्न वर्गों के भौतिक, आर्थिक और आध्यात्मिक संसाधनों को सबके सामान्य हित की सिद्धि के लिए नियोजित किया जाता है।

13.8 लोकतंत्र के दोष -

लोकतंत्रीय शासन प्रणाली से लोगों की बहुत अपेक्षाएं है परन्तु कुछ व्यवहारिक परेशानियों के चलते लोकतंत्र की सफलता की राह में बाधाएं आती है और लोकतंत्रीय शासन प्रणाली को भी आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है। कई विचारकों ने लोकतंत्र को भीड़तंत्र की संज्ञा दी है।

1.नागरिकों में जागरूकता और शिक्षा की कमी

लोकतंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि नागरिक कितने जागरूक और शिक्षित हैं। हालांकि, कई बार जनता में राजनीतिक जागरूकता और शिक्षा का अभाव देखा जाता है। अशिक्षित या कम जागरूक मतदाता भावनात्मक अपील, प्रलोभन, या प्रचार के प्रभाव में आकर मतदान करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप अयोग्य या भ्रष्ट नेताओं का चयन हो सकता है। भारत में, हालांकि साक्षरता दर में सुधार हुआ है, फिर भी कई मतदाता नीतियों और उम्मीदवारों की योग्यता को पूरी तरह समझे बिना मतदान करते हैं। यह लोकतंत्र की गुणवत्ता को प्रभावित करता है और गलत नेतृत्व को बढ़ावा दे सकता है।

2. धनबल और बाहुबल का दुरुपयोग

लोकतंत्र में धन और शक्ति का दुरुपयोग एक गंभीर दोष है। चुनावों में धन का अत्यधिक उपयोग, जैसे कि वोट खरीदना, प्रचार में भारी खर्च, और भ्रष्टाचार, निष्पक्षता को कमजोर करता है। धनी उम्मीदवार या दल अपने संसाधनों का उपयोग करके मतदाताओं को प्रभावित कर सकते हैं, जिससे योग्य लेकिन कम संसाधन वाले उम्मीदवार पीछे रह जाते हैं। भारत में, कुछ क्षेत्रों में बाहुबल का उपयोग, जैसे कि मतदाताओं को डराना-धमकाना, भी देखा जाता है। यह लोकतांत्रिक प्रक्रिया की पारदर्शिता और विश्वसनीयता को नुकसान पहुंचाता है।

3. लोकलुभावन नीतियां और अल्पकालिक दृष्टिकोण

लोकतंत्र में सरकारें अक्सर अल्पकालिक और लोकलुभावन नीतियों पर ध्यान देती हैं ताकि अगले चुनाव में जीत हासिल की जा सके। दीर्घकालिक योजनाएं, जैसे कि पर्यावरण संरक्षण, बुनियादी ढांचे का विकास, शिक्षा सुधार, जो तत्काल परिणाम नहीं देतीं, उपेक्षित हो सकती हैं। भारत में, मुफ्त वितरण योजनाएं या सब्सिडी जैसी नीतियां कई बार केवल वोट प्राप्त करने के लिए लागू की जाती हैं, जो दीर्घकालिक आर्थिक स्थिरता को प्रभावित कर सकती हैं। यह अल्पकालिक दृष्टिकोण देश के समग्र विकास को बाधित करता है।

3. वोट बैंक की राजनीति

वोट बैंक की राजनीति लोकतंत्र का एक प्रमुख दोष है। राजनीतिक दल अक्सर जाति, धर्म, या क्षेत्रीय पहचान के आधार पर मतदाताओं को लुभाने की कोशिश करते हैं। यह समाज में विभाजन को बढ़ावा देता है और राष्ट्रीय हितों के बजाय संकीर्ण समूह हितों को प्राथमिकता देता है। भारत में, जाति-आधारित और सामुदायिक राजनीति ने कई बार सामाजिक एकता को कमजोर किया है। यह प्रथा लोकतंत्र की समावेशी भावना को कमजोर करती है और सामाजिक तनाव को बढ़ा सकती है।

5. सामाजिक और आर्थिक असमानता

लोकतंत्र समानता का सिद्धांत प्रचारित करता है, लेकिन व्यावहारिक रूप से यह सामाजिक और आर्थिक असमानता को पूरी तरह समाप्त नहीं कर पाता है । धनी और प्रभावशाली लोग राजनीतिक प्रक्रिया में अधिक प्रभाव डालते हैं, जबकि गरीब और हाशिए पर रहने वाले समुदायों की आवाज कम सुनी जाती है। भारत में, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीच मतदान और राजनीतिक भागीदारी में असमानता देखी जाती है। यह असमानता लोकतंत्र के समावेशी स्वरूप को कमजोर करती है और सामाजिक न्याय के लक्ष्य को प्रभावित करती है।

6. निर्णय लेने में देरी

लोकतंत्र में निर्णय लेने की प्रक्रिया धीमी हो सकती है। विभिन्न हितधारकों, जैसे कि संसद, विपक्ष, और जनता की राय को शामिल करने के कारण नीतिगत निर्णयों में देरी हो सकती है। इसके विपरीत, तानाशाही में निर्णय त्वरित हो सकते हैं, हालांकि वे जनता की इच्छा के अनुरूप नहीं होते। भारत में,

संसद में लंबी बहस और बाधाओं के कारण कई महत्वपूर्ण विधेयक लंबित रहते हैं, जो विकास प्रक्रिया को प्रभावित करता है। यह धीमी प्रक्रिया लोकतंत्र की प्रभावशीलता को कम कर सकती है।

7. मीडिया और प्रचार का दुरुपयोग

लोकतंत्र में प्रेस की स्वतंत्रता एक महत्वपूर्ण विशेषता है, लेकिन इसका दुरुपयोग भी एक दोष के रूप में सामने आता है। कुछ मीडिया संगठन पक्षपातपूर्ण हो सकते हैं और सरकार या निश्चित दलों के पक्ष में प्रचार कर सकते हैं। भारत में, कुछ समाचार चैनल और सोशल मीडिया मंचों पर गलत सूचना और प्रचार की समस्या बढ़ी है, जो जनता को गुमराह कर सकती है। यह लोकतंत्र की विश्वसनीयता को कमजोर करता है और जनता के बीच अविश्वास पैदा करता है।

8. विपक्ष की नकारात्मक भूमिका

लोकतंत्र में विपक्ष की भूमिका सरकार की जवाबदेही सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण है, लेकिन कई बार विपक्ष केवल आलोचना और अवरोध में व्यस्त रहता है। यह रचनात्मक नीति निर्माण को प्रभावित करता है। भारत में, संसद में विपक्ष के हंगामे और अवरोध कई बार महत्वपूर्ण विधायी कार्यों में देरी का कारण बनते हैं, जो शासन की प्रभावशीलता को कम करता है।

9. लोकतंत्र की आर्थिक लागत

लोकतंत्र को बनाए रखने में भारी आर्थिक और प्रशासनिक लागत आती है। स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव आयोजित करने, प्रचार करने, और शासन व्यवस्था को चलाने में भारी संसाधनों की आवश्यकता होती है। भारत में, निर्वाचन आयोग द्वारा आयोजित आम चुनाव एक जटिल और महंगी प्रक्रिया है, जो सार्वजनिक संसाधनों का बड़ा हिस्सा खर्च करती है। यह लागत विशेष रूप से विकासशील देशों के लिए बोझिल हो सकती है।

हालांकि लोकतंत्र, स्वतंत्रता और समानता के सिद्धांतों पर आधारित है, फिर भी इसमें कई दोष हैं जो इसके प्रभावी कार्यान्वयन में बाधा डालते हैं। अज्ञानता, धन और शक्ति का दुरुपयोग, वोट बैंक की राजनीति, और निर्णय लेने में देरी जैसे दोष लोकतंत्र की गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं। भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में, इन दोषों का प्रभाव और भी स्पष्ट दिखाई देता है। फिर भी, इन दोषों को कम करने के लिए शिक्षा, जागरूकता, और संस्थागत सुधार जैसे कदम उठाए जा सकते हैं। एक

मजबूत लोकतंत्र के लिए नागरिकों की सक्रिय भागीदारी, स्वतंत्र संस्थानों की मजबूती, और पारदर्शिता को बढ़ावा देना आवश्यक है। लोकतंत्र के दोषों को स्वीकार करते हुए, हमें यह भी समझना चाहिए कि यह तानाशाही जैसे अन्य शासन रूपों की तुलना में अधिक समावेशी और जन-केंद्रित है। इन दोषों को दूर करने के लिए निरंतर सुधार और नागरिक जागरूकता ही लोकतंत्र को और प्रभावी बना सकती है।

13.9 विकासशील देशों में लोकतंत्र की समस्याएं

दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात ऐशिया और अफ्रीका में अनेक देश औपनिवेशिक शासन की जकड़न से बाहर निकले। स्वतंत्र हुए देशों में अधिकतर ने लोकतांत्रिक शासन पद्धति को अपनाया। कई देशों को लोकतंत्र की स्थापना करने में अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ा और कुछ देश तो सैनिक शासन या तानाशाही की राह पर चल पड़े और कुछ देशों ने एकदलीय शासन अपनाया।

विकासशील देशों के सामने कुद समस्याऐं समय-समय पर उत्पन्न होती रहती है जो विकासशील देशों के लोकतंत्र को प्रभावित करती है। इनमें से एक, जातीय समूहों का सामाजिक,आर्थिक और राजनीतिक विकास भिन्न-भिन्न स्तर तक हुआ है। जातीय विविधता की झलक रानीतिक संगठन में साफ दिखायी पड़ती है। एक बात तो स्पष्ट तौर पर देखी जाती है कि जातीय समूहों को प्रभावशाली समूह के हाथों जो भेदभाव, भले ही काल्पनिक हो या वास्तविक झेलना पड़ता है। और इससे लोकतंत्र में इनकी आस्था कमजोर हो जाती है।

दूसरे अधिकांश देश आर्थिक रूप से बहुत पिछड़े हैं जिसके कारण सरकार से विकास की अपेक्षा ज्यादा रहती है। कई देशों में एक दलीय व्यवस्था है या कम से कम एक दल का प्रभुत्व है। प्रभावशाली दल, स्वाधीनता संघर्ष में कुर्बानियों या प्रभावशाली नेतृत्व के सहारे आधुनिकता और विकास के नाम पर अपना औचित्य सिद्ध करता है। तीसरे, इन देशों में उदारवादी लोकतंत्रों की तुलना में, आर्थिक और सामाजिक गतिविधियों में शासन का हस्तक्षेप बहुत अधिक होता है। अर्थव्यवस्था के नियमन में शासन की अपेक्षाकृत अधिक दखलंदाजी आर्थिक विसंगतियों को दूर करने के लिए जरूरी है। ये विसंगतियां औपनिवेशिक शासन की देन है।

अभ्यास प्रश्न-

1. यूनानी शब्द डेमोस का अर्थ क्या है?

2. लोकतन्त्र जनता का जनता के द्वारा और जनता के लिए स्थापित शासन हैं। किसने कहा ?

3. 20वीं सदी को 'लोकतंत्र का युग' किसने कहा है?

13.6 सारांश

इस इकाई में हमने लोकतंत्र के अर्थ, परिभाषाओं और लोकतंत्र के प्रकार का अध्ययन किया साथ ही लोकतंत्र की लहरों, विशेषताओं और औचित्य का अध्ययन भी इस इकाई में किया। इस इकाई में विकासशील देशों में लोकतंत्र के संचालन में आने वाली समस्याओं का भी अध्ययन किया है। सत्ता में जनसहभागिता सुनिश्चित करने वाली यह व्यवस्था सार्वजनिक सप्रंभुता की द्योतक है।

वर्तमान युग को लोकतंत्र का युग माना जाता है। किन्तु आज लोकतंत्र चारों ओर से चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। स्पष्ट होता है कि जो परिस्थितियां लोकतंत्रात्मक प्रणाली के मजबूती में सहायक है वो नहीं मिल पाने के कारण लोकतंत्र के मूल्यों सुरक्षित रखने और उन्हें व्यवहार में प्रत्येक मनुष्य के लिए अर्थपूर्ण बनाने में अनेक कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। अतः लोकतांत्रिक समाज में इन जटिलताओं के कारण लोकतंत्र की सफलता की आवश्यक शर्तों को सर्वमान्य ढंग से लागू करना सम्भव नहीं।

13.7 शब्दावली

विकेंद्रीकरण - सत्ता, अधिकार, या निर्णय लेने की शक्ति को एक केंद्रीय स्थान या प्राधिकरण से हटाकर विभिन्न स्तरों पर वितरित करना।

उदारीकरण- किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में लगे प्रतिबंधों को हटाना या कम करना।

भूमण्डलीकरण- एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न देशों के बीच आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और तकनीकी संबंध बढ़ते हैं।

परिपृच्छा (Referendum)- विशिष्ट राजनितिक मुद्दे पर जनमत संग्रह करना।

उपक्रम (Initiative)- स्विट्ज़रलैंड में प्रत्यक्ष लोकतंत्र का एक साधन है। यह नागरिकों को स्विस संघीय संविधान में परिवर्तन का प्रस्ताव रखने की अनुमति देता है।

प्रत्याह्वान (Recall)- रिकॉल चुनाव (जिसे रिकॉल जनमत संग्रह, रिकॉल याचिका या प्रतिनिधि रिकॉल भी कहा जाता है) एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा मतदाता किसी निर्वाचित अधिकारी को हटा सकते हैं।

13.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.जनता 2. अब्राहम लिंकन 3. एच. जी. वेल्स

13.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ज्ञान सिंह सन्धु -- राजनीति के सिद्धान्त, ग्रन्थ विकास, जयपुर

2.डॉ0वी0एल साह व डॉ नीता बोरा, राजनीतिक विज्ञान का परिचय, अंकित प्रकाशन हल्द्वानी।

3.ओम प्रकाश गाबा,राजनीतिक सिद्वान्त की रूपरेखा, मजूर पेपर बैम्स नोएडा।

4.डॉ पुष्पेश पाण्डे व डॉ विजय प्रकाश पन्त, राजनीतिक सिद्वान्त, जगदम्बा पब्लिसिंग कम्पनी नई दिल्ली।

13.10 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. राजनीति के सिद्धान्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय

2- जे.सी.जौहरी एवं सीमा चौधरी आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिकेशन प्रा0 लि0 नयी दिल्ली

13.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1.लोकतंत्र से आप क्या समझते हैं? लोकतंत्र के प्रकारों की चर्चा करते हुए लोकतंत्र की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

2. लोकतंत्र के औचित्य की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

3. लोकतंत्र के दोषों को रेखांकित करते हुए, विकासशील देशों में लोकतंत्र की समस्याओं की विवेचना कीजिये ?

इकाई - 14 लोकतंत्र की विविध अवधारणाएं

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 परिचय

14.4 लोकतंत्र के सैद्धांतिक आधार

14.5 लोकतंत्र सम्बन्धी विभिन्न सिद्धांत/अवधारणा

14.5.1 लोकतंत्र का परम्परिक उदारवादी दृष्टिकोण

14.5.2लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गवादी सिद्धान्त

14.5.3लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त

14.5.4मार्क्सवादी दृष्टिकोण

14.5.5लोकतंत्र का सहभागितामूलक लोकतंत्र का सिद्धांत

14.5.6 लोकतंत्र का विचाराणात्मक सिद्धांत

14.6 सारांश

14.7शब्दावली

14.8अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

14.9संदर्भग्रन्थसूची

14.10सहायक/उपयोगीपाठ्यसामग्री

14.12निबन्धात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना -

इससे पूर्व की इकाई में हम लोकतंत्र के अर्थ, उसके विकास यात्रा लोकतंत्र के प्रकार को विस्तार से समझा। हमने लोकतंत्र के औचित्य पर विचार किया । हम समझ सके कि लोकतांत्रिक समाज और लोकतांत्रिक शासन आपके जीवन को प्रभावित करते हैं। इस इकाई में हम लोकतंत्र के विभिन्न अवधारणाओं को समझने का प्रयास करेंगे। लोकतंत्र की अवधारणाएं आज की दुनिया में राजनीति की जटिलता और महत्व को समझने के लिए आवश्यक हैं।

14.2 उद्देश्य-

1. लोकतंत्र के परम्परिक उदारवादी दृष्टिकोण समझने में सक्षम होंगे।
2. लोकतंत्र के विशिष्ट वर्गवादी सिद्धांत को समझ सकेंगे।
3. लोकतंत्र के बहुलवादी सिद्धांत को समझ सकेंगे।
4. लोकतंत्र के मार्क्सवादी सिद्धांत को समझ पाएंगे।
5. लोकतंत्र के सहभगितामूलक सिद्दांत को समझने में सक्षम होंगे।
6. लोकतंत्र के विचारानात्मक सिद्धांत को समझ पाएंगे।

14.3 परिचय

आज के युग में लोकतंत्र की प्रभावशीलता और उसकी सीमाओं पर व्यापक बहस हो रही है। लोकतंत्र की अवधारणा प्राचीन यूनान, विशेष रूप से एथेंस, में अपनी जड़ें रखती है, जहां प्रत्यक्ष लोकतंत्र का प्रारंभिक रूप विकसित हुआ। प्लेटो ने रिपब्लिक (पुस्तक VIII) में लोकतंत्र की आलोचना करते हुए इसे भीड़तंत्र (mob rule) के रूप में देखा जो अराजकता और अनुशासनहीनता को बढ़ावा देता है। उनके अनुसार, लोकतंत्र दार्शनिक शासकों के अभाव में समाज को अस्थिर करता है। दूसरी ओर, अरस्तू ने पॉलिटिक्स (पुस्तक IV) में लोकतंत्र को शासन के एक रूप के रूप में विश्लेषित किया, जो सामान्य जनता के हितों को प्राथमिकता देता है, लेकिन इसे मध्यम वर्ग के संतुलन के साथ संयमित करने की आवश्यकता पर बल दिया। प्राचीन एथेंस में केवल पुरुष नागरिक ही मतदान कर सकते थे, जो आधुनिक लोकतंत्र की समावेशी प्रकृति से भिन्न है। मध्ययुग में, लोकतंत्र की अवधारणा कहीं पीछे छुट गयी, लेकिन पुनर्जागरण और प्रबोधन काल ने इसे पुनर्जीवित किया। 17वीं और 18वीं सदी में, सामाजिक अनुबंध सिद्धांत ने आधुनिक लोकतंत्र

की नींव रखी। आधुनिक लोकतंत्र प्रतिनिधि शासन, संवैधानिकता, और मौलिक अधिकारों पर आधारित हैं।

14.4 लोकतंत्र के सैद्धांतिक आधार

लोकतंत्र का सैद्धांतिक आधार सामाजिक अनुबंध सिद्धांत पर टिका है, जो शासन की वैधता को जनता की सहमति से जोड़ता है। जॉन लॉक ने 'टू ट्रीटाइज ऑफ गवर्नमेंट' में तर्क दिया कि सरकार का गठन व्यक्तियों की स्वतंत्रता और संपत्ति की रक्षा के लिए होता है। उनकी अवधारणा व्यक्तिगत अधिकारों और सीमित शासन पर केंद्रित थी। इसके विपरीत, जीन-जैक्स रूसो ने द सोशल कॉन्ट्रैक्ट में "सामान्य इच्छा" (General Will) की अवधारणा प्रस्तुत की, जो सामूहिक हितों को व्यक्तिगत इच्छाओं से ऊपर रखती है। रूसो का मानना था कि सच्चा लोकतंत्र तभी संभव है जब नागरिक सामान्य इच्छा के लिए अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं का समर्पण करें। यह विचार प्रत्यक्ष लोकतंत्र के लिए प्रेरणा देता है, लेकिन बड़े समाजों में इसे लागू करना जटिल है। लॉक का दृष्टिकोण उदार लोकतंत्र की नींव बना, जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता और प्रतिनिधि शासन पर जोर देता है। रूसो की अवधारणा ने फ्रांसीसी क्रांति को प्रभावित किया, लेकिन इसने सामूहिकता के नाम पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सीमित करने के जोखिम भी उठाए। उदाहरण के लिए, रूसो की सामान्य इच्छा स्विट्जरलैंड जैसे छोटे लोकतंत्रों में जनमत संग्रह के रूप में देखी जा सकती है।

सामाजिक अनुबंध सिद्धांत का केंद्र बिंदु यह है कि सरकार की वैधता शासितों की सहमति पर आधारित होनी चाहिए। इसका मतलब है कि सरकार को लोगों की इच्छा के अनुसार काम करना चाहिए और उनके अधिकारों का सम्मान करना चाहिए। सामाजिक अनुबंध सिद्धांत यह भी बताता है कि सरकार को व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए, जैसे कि जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति का अधिकार। यदि सरकार इन अधिकारों की रक्षा करने में विफल रहती है, तो लोगों को सरकार का विरोध करने और उसे बदलने का अधिकार है। सामाजिक अनुबंध सिद्धांत यह भी बताता है कि सरकार को कानून के शासन के तहत काम करना चाहिए, जिसका अर्थ है कि सभी को कानून के सामने समान माना जाना चाहिए, और सरकार को भी कानून का पालन करना चाहिए। सामाजिक अनुबंध सिद्धांत लोकतंत्र के लिए एक दार्शनिक आधार प्रदान करता है, क्योंकि यह बताता है कि सरकार की वैधता शासितों की सहमति पर आधारित होनी चाहिए। इसका मतलब है कि लोकतंत्र, जिसमें लोग अपने शासकों को चुनते हैं, सरकार का एक वैध रूप है। संक्षेप में, सामाजिक अनुबंध सिद्धांत आधुनिक लोकतंत्र को इस विचार से समर्थन देता है कि सरकार लोगों की सहमति से बनती

है, व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करती है, कानून के शासन के तहत काम करती है, और इसलिए, एक वैध सरकार है।

14.5 लोकतंत्र सम्बन्धी विभिन्न सिद्धांत/अवधारणा

आधुनिक विश्व के अधिकांश राज्य लोकतांत्रिक होने का दावा करते हैं। यहां तक कि एक बार हिटलर ने लोकतांत्रिक शासन की बात करते हुए अपने शासन को 'जर्मन लोकतंत्र' कहना पसंद किया था। कहीं पर लोकतंत्र को राज्य का रूप माना गया है तो कहीं पर इसे समाज और जीवन का ढंग कहा गया है। ऐसी स्थिति में स्वीकार करना होगा कि लोकतंत्र सम्बन्धी विचारों में आजकल बहुत अन्तर आ गया है। अतःयह वैचारिक अन्तर लोकतंत्र के सिद्वान्तों, आदर्शों एवं मूल्यों में भी दृष्टव्य है। इस कारण लोकतंत्र के अनेक दृष्टिकोण सामने आए हैं जो इस प्रकार है- (1) लोकतंत्र का पारम्परिक उदारवादी दृष्टिकोण (2) लोकतंत्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्वान्त (3) लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्वान्त (4) लोकतंत्र का मार्क्सवादी दृष्टिकोण (5) लोकतंत्र का समाजवादी दृष्टिकोण।

14.5.1 लोकतंत्र का परम्परिक उदारवादी दृष्टिकोण

पारंपरिक उदारतावादी सिद्वान्त को प्रतिष्ठित, लोकप्रिय सिद्वान्त भी कहा जाता है। यह सिद्वान्त पिछली करीब तीन शताब्दियों में विकसित हुआ और यह किसी एक दर्शन, लेखन आन्दोलन का परिणाम न होकर अमेरिका,इग्लैण्ड तथा अन्य पश्चिमी देशों के राजनीतिक आन्दोलन व्यवहार तथा चिंतन का परिणाम है। आधुनिक युग के आरम्भ के साथ ही इस सिद्वान्त का विकास देखा जा सकता है। 'पुर्न जागरण' तथा धर्मसुधार के सांस्कृतिक ताकि धार्मिक आन्दोलनों ने व्यक्ति के मूल्य को सर्वोच्च मानते हुए व्यक्ति को ही अपने चिंतन का केन्द्र-बिन्दु स्वीकार किया। हॉब्स ने इसी आधार पर 17 वी0 शताब्दी में लोकतंत्र के महत्वपूर्ण नियम को स्पष्ट किया। हॉब्स ने कहा कि राज्य सरकार तथा अन्य मानवीय संस्थाएं व्यक्तियों के आपसी समझौते के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुई है। इस समय अंग्रेज विचारक जान लॉक ने इग्लैण्ड की गौरव क्रांति (1688) के अवसर पर यह विचार व्यक्त किया कि मनुष्य के कुछ प्राकृतिक अधिकार होते हैं जिनहे उनसे कोई नहीं छीन सकता; इनमें जीवन स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकारों के सिद्वान्त के आधार पर सरकार के खिलाफ बगावत को उचित ठहरा कर सीमित सरकार के लोकतांत्रिक सिद्वान्त को स्थापित किया।

अठारहवीं शताब्दी में व्यक्ति के अधिकारों और स्वतंत्रताओं को संरक्षण रखने के लिए तथा सरकार को निरंकुश होने से बचाने के लिए मांटेस्क्यूय ने शक्तियों के पृथकरण का सिद्वान्त दिया। रूसों ने

लोकतंत्र की आत्मा के स्वरूप में 'सामान्य इच्छा' का सिद्वान्त प्रतिपादित किया। रूसों ने जनता द्वारा राजनीति में प्रत्यक्ष हिस्सा लेने को लोकतंत्र की मुख्य विशेषता माना। मैबले, दिदरों,हैलविशियस,होलबैकविद्वानों ने व्यक्तियों की 'जन्मसिद्ध समानता' के विचार को प्रतिपादित करके लोकतंत्र को एक ओर नवीन आधार-स्तम्भ प्रदान किया। अमेरिका तथा फ्रांस की क्रान्तियों ने राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्ति के माध्यम से लोकतंत्र को व्यवाहारिक रूप देने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया।अमेरिका के क्रान्तिकारियों जेकरसन, मेडीसन के प्रयासों से अमेरिकी संविधान उदारवादी लोकतंत्र के राजनीतिक घोषणापत्र के रूप में उभरकार सामने आया। आर्थिक स्तर पर एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस जैसे अर्थशास्त्रियों ने राज्य के हस्तक्षेप को अस्वीकार करते हुए सीमित सरकार के विचार को आर्थिक आधार प्रदान किया। सबके साथ ही धार्मिक क्षेत्रों में राज्य की दखलंदाजी को भी उदारवादी लेखकों ने विरोध किया और इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा विकसित हुई।

19वीं0 शताब्दी में बेंथम,जेम्स मिल, जे.एस.मिल ने उपयोगितावादी दार्शनिकों ने "अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख" के आधार पर लोकतंत्र का समर्थन किया। इस परिपेक्ष्य में सर्वप्रथम बेथम ने प्रतिनिधी सरकार तथा वयस्क मताधिकार के चिारों को पेश किया। बेथम ने गुपत मतदान, संसद की अवधि एक साल प्रेस तथा विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता,मतदान को कारगर बनाने के लिए शिक्षा के महत्व पर जोर दिया। बेथम ने लोकतंत्र को एक उपयुक्त शासन व्यवस्था,कानून व्यवस्था, समाज में बनाये रखने के लिए एकमात्र शासन विधि बताया। मेकरसन के शब्दों में इन्होने रक्षात्मक लोकतंत्र की आधारशिला रखी।

जे0एस0 मिल ने लोकतंत्र के नैतिक पहलू की ओर ध्यान केन्द्रित किया साथ ही लोकतंत्र को मानवीय विकास का एकमात्र साधन माना। मिल ने मतदान की शक्ति को केवल शासितों को नियन्त्रित करने की ही शक्ति नहीं माना। उन्होंने इस शक्ति को जनता के राजनीति में हिस्सा लिए जाने का उचित माध्यम माना। उनका दृढ़ विश्वास था कि अधिकार एवं स्वतंत्रता के माध्यम से जनता दायित्वों का अच्छी तरह अनुपालन करती है। मिल के विचारों के आधार पर ही टी.एच. ग्रीन तथा 20वीं शताब्दी में लिंजसे, हॉबहाउस, बार्कर, लास्की, मैकाइवर, डेवी पैनोक आदि ने लोकतंत्र के विकासवादी पक्ष को मजबूत किया तथा उक्त सिद्वान्त को नवीन दिशा प्रदान की। इनके प्रयासों से बीसवी सदी में वयस्क मताधिकार मिला तथा राजनीति में जनता की भगीदारी उभरकर सामने आया । बीसवीं शताब्दी में पूंजीवादी व्यवस्था की आवश्यकता यह थी कि राज्य आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप

न करे। इसके परिणाम स्वरूप पूंजवादी अर्थव्यवस्था उदारवादी कल्याणवादी लोकतंत्रीय सरकार में बदल गई।

20वीं0 शताब्दी में लोकतंत्र उदारवादी सिद्वान्त के विकास में लास्की का महत्वपूर्ण योगदान है। लास्की ने जनता को अधिक से अधिक शिक्षित तथा योग्य बनाये जाने पर जोर दिया और लोकतन्त्र के आदर्श एवं संस्थाओं की विस्तृत व्याख्या की। राज्य की निरंकुश प्रभुसत्ता के कानूनी सिद्वान्त पर प्रहार करते हुए उन्होंने सत्ता को विभिन्न समूहों एवं संस्थाओं में विभाजित करने का बहुलवादी दृष्टिकोण दिया। लास्की ने सम्पुर्ण समाज के आर्थिक, समाजिक ,नैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों तक इसके विस्तार का सुझाव दिया। उसने लोकतन्त्रीय सरकार को जनता के आर्थिक हितों को संरक्षक बनाकर लोकतन्त्र को एक विस्तृत आकार प्रदान किया।

इस सिद्वान्त के अनुसार लोकतंत्र से आशय मात्र शासन व्यवस्था से न होकर ऐसी शासन विधि से है जिसके द्वारा नागरिक राज्य कार्यों में अपनी भागीदारी को सुनिश्चित करते हैं अपनी योग्यताओं एवं सक्षमताओं का अधिकतम विकास करते हुए स्वस्थ समाज के निर्माण की आधारशिला बन सकने का प्रयास अपने हितों की पूर्ति के लिए करते हैं। लोकतंत्र का मुख्य ध्येय व्यक्ति का चहुमुखी विकास एवंम् सर्वकल्याण करना है। मिल ने इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है- समाज की सभी जरूरतों को केवल वही सरकार पूर्णरूपेण संतुष्ट कर सकती है। जिसमें सभी लोग हिस्सा ले, छोटे-से-छोटे कार्य में भी जनता का भाग लेना महत्वपूर्ण माना जाता है। प्रत्येक स्थान में जनता का भाग इतना अधिक होना चाहिए जितना समाज का सामान्य कल्याण अनुमति दे और इससे अधिक अच्छी बात कोई नहीं हो सकती कि सबको राज्य की सम्प्रभुत्ता में हिस्सा मिलें । अतः प्रजातन्त्र में राजनितिक निर्णय मे जनता का योगदान को आवश्यक माना गया चाहे वह प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष।

उदार लोकतन्त्र सिद्धांत के लक्षण

उदार लोकतन्त्र के सिद्वान्त को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न तरह से स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए उदार लोकतन्त्र के कुछ विशिष्ट लक्षणों पर प्रकाश डाला राबर्ट सी0 बोन ने उदार लोकतन्त्र के, लिए कुछ लक्षणों को आवश्यक माना -

(1) नीति -निर्माताओं के निर्वाचन में सहभागिता, (2) भावीनीति-निर्माताओं के दो या दो से अधिक प्रतियोगी समूहों में से पसन्द के विकल्प (3) मताधिकार की पूर्ण समानता (4)प्रतिनिधित्व की अधिकतम एकरूपता (5)मतदाताओं को पसन्द तथा वैध राजनीतिक समूहों को राजनीतिक

गतिविधियों की पूर्ण स्वतंत्रता (6) निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा लम्बे विचार-विमर्श के बाद बहुमत से नीति निर्णयों का निर्धारण (7)समय-समय पर नियमित सुझावों के माध्यम से निर्वाचित प्रतिनिधियों का मतदाताओं के प्रति उत्तरादायित्व।

एलेन बाल ने उदारवादी लोकतंत्र के निम्नलिखित लक्षण बताये हैं

(1) एक से अधिक राजनीतिक दल होते हैं। दल राजनीतिक सत्ता के लिए एक-दूसरे से खुलकर प्रतियोगिता कर सकते हैं (2) सत्ता के लिए प्रतियोगिता छिपाव-दुराव नही बल्कि खुलकर होती है। यह प्रतियोगिता स्थापित तथा स्वीकृत प्रतियोगिता के आधार पर होती है। (3) राजनीतिक सत्ता से जुड़े हुए पदों पर चुनाव या नियुक्तियाँ अपेक्षाकृत खुले रूप में होती हैं। (4) व्यापक मताधिकार पर आधारित चुनाव समय-समय पर होते रहते हैं। (5) सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने के लिए प्रभावक गुटों को कार्य करने का अवसर मिलता है। ट्रेड यूनियनों तथा अन्य संघों पर सरकार का कड़ा नियंत्रण नहीं होता है। (6) अभिव्यक्ति तथा धर्म की स्वतंत्रता और स्वेच्छाचारी ढंग से बन्दी न बनाए जाने, आदि की नागरिक स्वतंत्रताएं सरकार द्वारा मान्य होती हैं और सरकार उनकी रक्षा करती है।(7) स्वाधीन न्यायपालिका होती है(8) टेलीविजन,रेडियो, अखबार जेसे जनसमपर्क माध्यमों पर सरकार का एकाध्किार नहीं होता है। इन्हे कुछ सीमाओं में रहकर सरकार की आलोचना करने की भी स्वतंत्रता होती है।

पीटर एच0 मर्कल ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिकल कण्टीन्यूटी एण्ड चेन्ज' में उदार लोकतंत्र के चार लक्षणों को आधारभूत माना है (1) विचार-विमर्श द्वारा शासन (2) बहुमत का शासन(3) अल्पसंख्याकों के अधिकारों को मान्यता (4) संविधानिक सरकार।

परम्परागत उदारवादी लोकतंत्र विशेषताएं-

लोकतंत्र के परम्परागत उदारवादी दृष्टिकोण की विशेषताएं निम्नांकित हैं-

(1) व्यक्ति एक राजनीतिक प्राणी है। उसमें विवेक होता है जिससे वह अपना हित-अहित में सोचने की क्षमता को रखता है। इस आधार से सब व्यक्ति समान है।

(2) शासन का संचालन जनता द्वारा होना चाहिए। शासन कार्यों में जनता अवश्य भागीदारी ले। इससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है।

(3) जनता निर्वाचन प्रणाली के द्वारा चुनाव में अपने प्रतिनिधियों को चुनकर उनको नियंतत्रित करते हुए शासन के कार्यों ने हिस्सा ले सकती है। सरकार का निर्माण बहुमत द्वारा ही होना चाहिए तथा जनता की इच्छा ही सरकार की शक्ति का आधार हो।

(4) प्रतिनिधियों को सदैव इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि राजनीतिक सत्ता जनता की अमानत है अतः उसे हमेशा जनहित तथा सामान्य कल्याण सम्बन्धी निर्णय लेने चाहिए।

(5) लोकतंत्र का उद्देश्य सामान्यहित का संरक्षण करना एवं व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना होना चाहिए।

(6) लोकतंत्रीय सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी रहे। जनता का सरकार पर नियंत्रण अवश्य स्थापित हो।

(7) सरकार सीमित होनी चाहिए।

(8) सरकार का मुख्य कर्त्तव्य जनता के अधिकारों की रक्षा करना है जनता को अधिक से अधिक शिक्षित होना चाहिए तभी वह जागृत रखकर अपने अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ हो सकती है।

(9) जनता को वाद-विवाद, लिखने-बोलने अपने विचारों की अभिव्यक्ति तथा संगठित होकर काम करने के अधिकार की स्वतंत्रता अवश्य होनी चाहिए तथा समय-समय पर राज्य के कार्यो के बारे में जनता को सरकार द्वारा अधिक-से अधिक अवगत कराया जाना चाहिए।

10. सरकार को जनता की महत्ता को समझकर जनता को सरकार द्वारा पूरी इज्जत दी जानी चाहिए।

मूल्यांकन -

अन्य सिद्वान्तों की भांति लोकतन्त्र का यह परम्परावादी व प्रतिष्ठित सिद्वान्त भी आलोचनाओं से घिरा हुआ है। सुप्पीटर ने इस सिद्वान्त की आलोचना की। सुम्पीटर ने इस सन्दर्भ में कहा कि सामान्य हित या सामान्य इच्छा का पता लगा पाना असंम्भव है।''इस सिद्वान्त के अन्य दोष निम्नवत है--

1. राजनीतिक समानता जैसी कोई वस्तु नही होती। प्रत्येक समाज में विशिष्ट वर्ग का अस्तित्व सदैव मुक्त बना रहता है।

2. राजनीति में जनता की भागीदारी लोकतन्त्र को सफल नहीं बनाती। बल्कि उसे असफल बना देती है जिससे लोकतन्त्र भीड़तन्त्र में परिवर्तित हो जाता है।

3. यह सिद्वान्त लोकतन्त्र में व्यक्ति की भूमिका को महत्वपूर्ण मानता है तथा सम्पूर्ण व्यवस्था के सन्तुलन पर ध्यान नहीं देता।

4. इसे अव्यावहारिक एंव काल्पनिक कहा गया क्योंकि इस सिद्वान्त की मान्यता है कि व्यक्ति सरकार द्वारा नीति-निर्धारण की जटिल प्रकियाओं में सक्रिय योगदान कर सकता है जबकि साधारण व्यक्ति नीति निर्धारण जैसी जटिल प्रक्रिया को नहीं समझ सकता।

5. यह सिद्धान्त कोरा आर्दशवादी सिद्धान्त है क्योंकि यह जीवन की वास्तविकताओं पर ध्यान नहीं देता है।

इन दोषों के कारण ही लोकतन्त्र के इस सिद्धान्त को अनेक लेखकों ने संशोधित कर विशिष्टवर्गीय तथा बहुलवादी सिद्धान्तों का निरूपण किया है।

14.5.2 लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गवादी सिद्धान्त

लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गवादी सिद्धान्त मूल रूप से समाजशास्त्र के क्षेत्र में व्याख्या देने हेतु विकसित किया गया है इसके द्वारा यह बोध होता है कि समाजिक सगंठन के अन्दर व्यक्ति किस तरह का व्यवहार करते है ? बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दौर में इटली के दो सुविख्यात समाज वैज्ञानिकों- विल्फ्रेड पैरेटो (1848-1923) और गीटानो मोस्का (1858-1941)ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि किसी भी समाज या संगठन का अन्तर्गत प्रमुख निर्णय सिर्फ गिने-चुने लोग ही करते है, चाहे उस संगठन का बाहरी रूप कैसा भी क्यों न हो। ''इसी सन्दर्भ में एक ओर जर्मन समाजवैज्ञानिक राबर्ट मिशेल्स (1876-1936) ने 'अल्पतन्त्र का लौह नियम' का प्रतिपादन करते हुए यह विचार व्यक्त किया कि अधिकांश व्यक्ति स्वभाव से जड़, आलसी और दब्बू प्रवृति वाले होते है जो अपना शासन स्वयं चलाने में असमर्थ होते है। इसलिए नेतागढ़ अपनी वाकपटुता,अनुनय-विनय आदि के बल पर लोगों की भावनाओं से खिलवाड़ करके सत्ता पर आधिकार स्थापित कर लेते है। समाज में चाहे कोई भी शासन प्रणाली क्यों न अपनाई जाए,वह अवश्य ही अल्पतन्त्र या गिने-चुने लोगों के शासन का रूप धारण कर लेती है। इन समाज वैज्ञानिक सिद्धान्तों ने लोकतन्त्र की सम्भावनाओं को चुनौती दी तथा इस समस्या पर नये सिरे से विचार करने की प्रेरणा दी है। अनेक राजनीतिशास्त्रियों ने इस चुनौती को स्वीकार करते हुए उदार लोकतन्त्र की अभिनव व्याख्या पेश की जिसमें विशिष्टवर्गीय

सिद्धान्त को उपयुक्त स्थान दिया गया। इन लेखकों के द्वारा जो विचार प्रस्तुत किये गये है,उन्हें सामूहिक रूप से 'लोकतन्त्र का विशिष्टवर्गवादी सिद्धान्त' कहकर सम्बोधित किया जाता है। इनमें जोसफ ए0शू0पीटर, आरो, सारटोरी, मैंन्हाइम के विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सभी के मतों का पृथक-पृथक उल्लेख निम्नवत है।

1.मैंन्हाइम के विचार

कार्ल मैंन्हाइम ने अपनी विख्यात कृति "आइडियोलोजी एंड यूटेपियाः इन इंटोडक्शन टू द सोश्योलाजी ऑफ नॉलिज" विचारधारा और कल्पनालोक ज्ञान के समाज विज्ञान का परिचय 1929 में यह लिखाः लोकतन्त्रीय व्यवस्था में जब समाज नीति-निर्माण का कार्य विशिष्ट वर्ग को सौप देता है तो इस प्रकार का लोकतन्त्र शून्य हो जाता है। जनसाधारण एक निश्चित अन्तराल के पश्चात वोट डालकर अपनी आकांक्षाओं को प्रकट कर देते है। अपने मताधिकार के बल पर वे नेताओं को बहुमत के हित में निर्णय करने के लिए बाहय कर सकते है। विशिष्टवर्ग के शासन और लोकतन्त्रीय शासन के मध्य सामंजस्य स्थापित के करने के लिए मैन्हाइम ने सुझाव दिया है कि नेताओं का चुनाव योग्यता के आधार पर ही होना चाहिए तथा विशिष्टवर्ग और जनसाधारण के मध्य दूरी कम की जानी चाहिए।

2. जोसेफ ए. शुम्पीटर के विचार

जोसेफ ए. शुम्पीटर ने अपनी प्रसिद्ध कृति "कैपिटलिज्म सोशलिज्म एंण्ड डेमोक्रेसी पूंजीवाद, समाजवाद और लोकतन्त्र" के अन्तर्गत यह तर्क प्रस्तुत किया कि किसी भी शासन पद्धति की पहचान उसकी संस्थाओं से होती है जिसमें यह देखा जाता है तथा उन्हें अपने पद से कैसे हटाया जाता है। इस दृष्टि से लोकतन्त्रीय प्रणाली अन्य शासन प्रणालियों से अपनी अलग पहचान बनाती है। इस बात एक कटु सत्य है कि लोकतन्त्र में राजनीतिक निर्णय 'नेताओं के द्वारा किये जाते है, जनसाधारण के द्वारा नहीं किए जाते है परन्तु जनसाधारण से वोट प्राप्त करने के लिए वहां नेताओं में खुली प्रतियोगिता होती है। अतः अन्य शासन प्रणालियों की अप्रेक्षा लोकतन्त्र की विशेषता यह है कि इसमें राजनीतिक नेता असीम सत्ता का प्रयोग नहीं कर सकते । इसके विपरीत यहां नेता राजनीतिक बाजार में अधिकाधिक ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए अधिक से अधिक आकर्षक नीतियों एंव कार्यक्रमों को पेश करने की चेष्टा करते है। इस तरह लोकतन्त्र में जनसाधारण को अपनी पसन्द की नीतिया एवं कार्यक्रम को चुनने का अवसर प्राप्त हो जाता है। अन्य शासन प्रणालियों में यह सम्भव नहीं है।

3.रेमंद आरों का विचार

रेमोंद आरो ने अपनी पुस्तक ''सोशल स्टक्चर एंड द रूलिग क्लास'' (समाजिक संरचना और अन्य शासक-वर्ग1950) के अन्तर्गत यह तर्क प्रस्तुत किया कि लोकतन्त्र और शासन -प्रणालियों के विशिष्ट वर्गों में मूलभूत अन्तर देखने को मिलता है। सोवियत प्रणाली और लोकतन्त्र में अन्तर करते हुए आरों ने लिखा है कि जहां सोवियत तरह के समाज मे एक ही विशिष्ट वर्ग को शासन में एकाधिकार प्राप्त होता है उदार लोकतन्त्र में इस प्रकार का नहीं होता यहाँ विशिष्ट वर्ग की बहुलता तथा शासन में नियन्त्रण एवं संन्तुलन की ऐसी व्यवस्था पाई जाती है जिसमें यहाँ असीम सत्ता का प्रयोग संभव नहीं होता। उदार लोकतन्त्र में सम्पूर्ण शासन लोगों के सुलह-समझौते के आधार पर चलता है और शासक सदैव यह महसूस करते रहते है जब तक वे जनमत का आदर करते रहेगे कि जब तक वे जनमत के प्रति संवेदनशील रहेंगे और जब तक वे जनता के दिल से जगह बना सकेंगे। तभी तक वे सत्ता में रह सकेगे। अन्यथा कोई दूसरा विशिष्ट वर्ग उनका स्थान सभालने के लिए निरन्तर तत्पर रहता है।

4.सारटोरी के विचार

ज्योवानी सारटोरी ने अपनी चर्चित पुस्तक 'डेमोक्रेटिक थ्योरी लोकतन्त्रीय सिद्धान्त" 1958 के अन्तर्गत यह तर्क दिया कि लोकतन्त्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत विशिष्ट वर्ग महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। यह विशिष्ट वर्ग चुनाव क्षेत्र में उतरकर परस्पर संर्घष करते है। विशिष्ट वर्ग के अस्तित्व को लोकतन्त्र की अपूर्णता कदापि नहीं समझना चाहिए। चूंकि जनसाधारण अपने आप शासन चलाने में असमर्थ होते है इसलिए शासन सचमुच सुयोग्य नेताओं का कार्य है। अगर व्यक्तियों को सही नेतृत्व नहीं मिलेगा तो लोकतंत्र विरोधी विशिष्ट वर्ग उन्हें पथभ्रष्ट कर देगा। सारटोरी ने लोकतंत्र के अन्तर्गत नेताओं की भूमिका को विशेष महत्व प्रदान किया। उसके शब्दों में नेताओं को जनसाधारण की शिक्षा की जिम्मेदारी भी संभालनी चाहिए, क्योंकि जनसाधारण स्वयं उतना प्रबुद्ध नहीं होते।

लोकतंत्र के विशिष्ट वर्गीय दृष्टिकोण के लक्षण निम्नलिखित हैः-

(1) सरकार 'जनता के द्वारा' नहीं हो सकती, 'जनता के लिए' हो सकती है।

(2)लोकतंत्र वह है जहां जनता केवल चुनाव के द्वारा अपने विशिष्ट वर्ग को चुनती है।

(3) बिना विशिष्ट वर्ग के प्रजातंत्र नहीं हो सकता, केवल भीड़तंत्र हो सकता है।

(4) राजनीतिक निर्णय लेने का कार्य केवल विशिष्ट वर्ग का है, आम जनता का नहीं।

विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त की विशेषताएं-लोकतंत्र की सफलता के लिए विशिष्ट वर्ग में निम्नांकित विशेषताएं होनी चाहिएः-

1. लोकतात्रिक मूल्यों तथा लोकतंत्र के खेल में विशिष्ट वर्गों का विश्वास एवं आस्था।

2. विशिष्ट वर्ग की नियुक्ति समाज के विभिन्न वर्गों, में से होनी चाहिए।

3. जनता विशिष्ट वर्ग के मामलों में अधिक हस्तक्षेप न करें।

4. विशिष्ट वर्ग को योग्यता एवं अनुभव अच्छा होना चाहिए।

5. विशिष्ट वर्गों की जनता से अधिक पूरी न हो, बल्कि उनमें आपसी तालमेल तथा विचारों का आदान-प्रदान बना रहे।

6. विशिष्ट वर्गों में सत्ता के लिए प्रतियोगिता हो जो चुनाव के द्वारा ही व्यक्त हो।

7. विशिष्ट वर्ग को विस्तृत होना चाहिए ताकि योग्य एवं क्षमतावान व्यक्ति इसमें प्रवेश पा सके।

विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त का मूल्यांकन

लोकतंत्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त व्यावहारिक रूप में सत्य के नजदीक होने के कारण महत्वपूर्ण है। किन्तु फिर भी इसके प्रमुख आलोचक हुए जिनमें डकंन तथा ल्यूक्स,डेविस, बाटॅमोर, गोल्ड स्मिथ,वाकट, बैकरेक, पैट्समेन, प्लामनाज आदि ने इस सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधार पर की-

(1) यह सिद्धान्त अपना विश्वास जनता में रखकर नेताओं के विशिष्ट वर्ग में रखता है। जिस कारण यह लोकतंत्र को जनसाधारण से दूर रखना चाहता है।

(2) यह सिद्धान्त रूढ़िवादी है। यह सिद्धान्त परिवर्तन का विरोधी है तथा मौजूदा व्यवस्था का समर्थक है।

(3) यह सिद्धान्त, लोकतंत्र का उद्देश्य मानव का विकास तथा कल्याण न मानकर मानव का उदे्दश्य लोकतंत्र का स्थायित्व तथा कार्य-कुशलता मान लेता है।

(4) यह सिद्धान्त लोकतंत्र को राजनीतिक व्यवस्था मात्र स्वीकार करता है तथा इसके महत्वपूर्ण पहलू सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक को नजर अंदाज कर देता है।

(5) यह सिद्धान्त विचारधारा एवं मूल्यों को महत्वपूर्ण नहीं मानता।

(6) यह सिद्धान्त नेताओं को विशेष महत्व देता है तथा सफल लोकतंत्र के लिए अच्छी जनता को इतना महत्वपूर्ण नहीं मानता जितना कि अच्छे नेताओं का।

(7) यह सिद्धान्त राजनीतिक समानता का विरोधी है तथा असमानताओं का मूलभूत मानना है।

(8) विशिष्ट वर्ग की उच्च योग्यता का आधार क्या होना चाहिए इस विषय ने यह सिद्धान्त पूर्णतः अस्पष्ट है।

(9) यह सिद्धान्त जनमत को नगण्य मानता है तथा इस बात से इनकार करता है कि जनमत सरकार को बनाता है। इसके विपरीत यह साबित करने की कोशिश करता है कि सरकार एवं शासक विशिष्ट वर्ग ही जनमत को तैयार करते हैं।

(10) यह सिद्धान्त जनता के प्रति सरकार के उत्तरादायित्व को स्वीकार करता है, क्योंकि सक्रिय, योग्य, क्षमतावान विशिष्ट वर्ग के लोग अयोग्य तथा निष्क्रिय मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी कैसे हो सकते हैं?

14.5.3 लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त

लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त लोकतंत्र के विशिष्ट वर्गवादी सिद्धान्त के साथ निकटता से संलग्न है। जोसेफ शुम्पीटर और रेमोंद आरों जैसे विचारकों ने उदार समाज में विशिष्ट वर्गों की बहुलता की चर्चा की थी। इस दृष्टि से उनके चिंतन में लोकतंत्र के बहुलवादी सिद्धान्त की ओर रूझान का संकेत मिलता है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही यह स्वीकार किया जाने लगा था कि राजनीति में व्यक्ति अकेला नहीं, बल्कि समान हितों वाली संस्थाओं एवं समूहों के माध्यम से भाग लेता है। इसके साथ ही सरकारी निर्णयों में सम्पूर्ण समाज के विभिन्न दवाब समूहों की भूमिका को भी महत्वपूर्ण माना गया। एफ.ए.बेंटली ने ‘द प्रॉसेस ऑफ गवर्नमेंट(शासन प्रक्रिया) 1908 में यह विचार व्यक्त किया कि लोकतंत्र एक प्रकार का राजनीतिक खेल है जिसमें भिन्न-भिन्न तरह के समूह भाग लेते हैं। इसके

पश्चात् डेविड टूमैन ने 'द गवर्नमेंटल प्रासेस (शासकीय प्रक्रिया)1951 में यह व्याख्या प्रस्तुत की कि लोकतंत्रीय सरकार सार्वजनिक दवाब का केन्द्र-बिन्दु होती है, इसका मुख्य कार्य ऐसी नीतियों का निर्माण करना है जिनमे इन समूहों की सबसे प्रमुख सामान्य माँग की झलक मिलती है। टूमैन ने इस पुस्तक में बहुलवादी समाजों की राजनीति में विभिन्न गैर-रानीतिक सामाजिक-आर्थिक समूहों की भूमिका को सराहा और इन्हें लोकतंत्र के स्वरूप को बनाए रखने में सहायक माना।

समकालीन राजनीति सिद्धान्त के अन्तर्गत रार्बट डॉल ने अपनी पुस्तक 'ए प्रिंफेस टू डेमोक्रेटिक थ्योरी' में लोकतंत्रीय प्रक्रिया के ऐसे प्रतिरूप को जन्म दिया है जिसे उसने बहुलतंत्र कहा है। इस सकंल्पना के अनुसार लोकतंत्रीय समाज में नीति निर्माण की प्रक्रिया वाह्य रूप से देखने में चाहे कितनी ही केन्द्रीकृत क्यों न प्रतीत हो वास्तव में यह अत्यन्त विकेन्द्रीकृत प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत अनेक स्वायत समूह आपस में परस्पर समझौता या सौदेबाजी करते हैं। अतः सार्वजनिक नीति उन सब समूहों की परस्पर क्रिया का परिणाम होती है जो उससे सम्बन्ध रखने वाले विषय में अभिरूचि का दावा करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार नीति-निर्माण में सरकार की भूमिका बहुत कम रह जाती है। क्योंकि वह विभिन्न स्वायत्त समूह को केवल सहमति की स्थिति तक पहुँचने में सहायता प्रदान करती है।

लोकतंत्र के बहुलवादी सिद्धान्त की एक मुख्य विशेषता यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार राजनीति में विशिष्ट वर्ग की भूमिका का महत्व घट जाता है।

सिद्धान्त के आधारः- इस सिद्धांत के प्रमुख आधार निम्नवत हैं-

(1) इस सिद्धान्त का पहला आधार यही है कि व्यक्ति रानीति में हिस्सा संस्थाओं एवं सगठनों के माध्यम से लेता है।

(2) सरकार के विभिन्न अगों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका में सत्ता का विभाजन होना चाहिए तथा सरकार के प्रत्येक अंग ऐसी स्थिति में होने चाहिए कि वह दूसरे पर अंकुश ला सकें।

(3) लोकतंत्र के बहुलवादी सिद्धान्त का एक आधार यह है कि जन साधारण को राज्य की अवज्ञा का अनुपालन करना चाहिए क्योंकि राजनीति निर्धारण में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(4) सरकार व जनता के मध्य दूरी को कम करने के लिए विभिन्न जन सगठनों को महत्व दिया जाना चाहिए।

सिद्धान्त का मूल्यांकनः- लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त लोकतंत्र के परम्परावादी सिद्धान्त एवं लोकतंत्र के विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त का समिश्रण है। इन सिद्धान्तों की तुलना में यह सिद्धान्त अधिक प्रगतिशील एवं आशाजनक हैं। इस सिद्धान्त की आलोचना विभिन्न आधारों पर की गई है। इसमें मुख्य एवं पहला आधार यह है कि यह सिद्धान्त दवाब की राजनीति को बढ़ावा देता है जिसके फलस्वरूप सरकार कमजोर हो रही है क्योंकि सरकार दृढ़ नीतियो को बनाने तथा महत्वपूर्ण निर्णय लेने में सक्षम नहीं रहती। अपनी खामियों को छिपाने के लिए सरकार को विभिन्न दवाब समूहों के प्रति समझोंतावादी रवैया अपनाना पड़ता है। दूसरा यह सिद्धान्त व्यक्ति के नैतिक मूल्यों और विवेकशील प्रकृति को मान्यता नही देता तथा व्यक्ति को सगठनों एवं समूहों के सदस्य के रूप में मान्यता देता है।

14.5.4 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण दोनों ही ‘लोकतंत्र का समर्थश्न करते हैं। दोनों ही लोकतंत्र को जनता का शासन मानते हैं और इस धारणा को स्वीकार करते हैं कि जनता को शासन चलाने का अधिकार मिलना चाहिए। किन्तु जब व्यवहार के धरातल पर शासन चलाने की बात आती है तो दोनों में मतभेद पाया जाता है। मार्क्सवाद के समर्थक, लोकतंत्र के सिद्धान्त या लक्ष्य को प्रमुख ध्यान देते हैं। इसकी मुख्य वजह यह है कि शासन जनसाधारण के हित में कार्य करे उसमें जनता का शोषण न हो और यह तभी सम्भव हो सकता है जब समाज धनवान और निर्धन वर्गों में बटाँ न रहे।

दूसरे शब्दों में, उदारवादी विचारक लोकतंत्र और पूंजीवाद की संस्थाओं में कोई विरोध नही देखते हैं। परन्तु मार्क्सवादी विचारक समाज की आर्थिक संरचना को सरे सामाजिक सम्बन्धों का आधार मानते हुए यह तर्क देते हैं कि जब तक समाज की संरचना लोकतंत्रीय नहीं होगी, तब तक राजनीतिक स्तर पर लोकतंत्र केवल आडंबर बना रहेगा। अतः वे लोकतंत्र की सार्थकता के लिए समाजवाद को अनिवार्य समझते हैं। वे उदार लोकतंत्र का बुर्जुवा लोकतंत्र की संज्ञा देते है

लोकतंत्र की मार्क्सवादी आलोचनाः-(1) उदार लोकतंत्र केवल पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षा करता है। क्योंकि उदार लोकतंत्र की राजनीतिक संस्थाएं पूंजीवाद की नींव पर टिकी होती है। पूंजीवादी व्यवस्था पूंजीपति वर्ग के हितों को बढ़ावा देती है और उसमें कामगारों की निरन्तर

शोषण होता है अतः उदार लोकतंत्र की राजनीतिक संस्थाऐं भी पूंजीपति वर्ग के हितो को बढ़ावा देती है। उदार लोकतंत्र 'सबके हित का साधन का आडम्बर रचाकर केवल पूंजीपति वर्ग का हित साधन करने वाली संस्थाओं,नियमों, कानूनों इत्यादि का वैधता प्रदान करता है। लोकतंत्र के अन्तर्गत आर्थिक शक्ति के साथ-साथ विचारधारात्मक शक्ति भी पूंजीपति वर्ग के हाथ में होती है। अतः कामगर वर्ग के शोषण को रोकने का कोई उपाय नहीं रह जाता।

(2) उदार लोकतंत्र समाज के वर्ग विभाजन को स्थायित्व प्रदान करता है क्योंकि जब समाज 'धनवान' और 'निर्धन' वर्गों में बटाँ रहता है तो उदार लोकतंत्र इस आर्थिक विभाजन को स्थायित्व प्रदान करने के लिए तत्पर रहता है। वह बुजुर्वा समाज के उन मूल्यों को बढ़ावा देता है जो समाज के आर्थिक विभाजन को बैधता और मान्यता प्रदान करते है, लेनिन ने लिखा है ''पूंजीवादी समाज का लोकतंत्र मुठ्ठी-भर लोगों का लोकतंत्र है, यह धनवान लोगों का लोकतंत्र है, मार्क्स ने पँजीवादी लोकतंत्र के सार-तत्व को बहुत अच्छी तरह समझा है क्योंकि उसने लिखा है कि इसमें शोषित वर्गों को कुद वर्षों के अतंराल से यह निर्णय करने की अनुमति दी जाती है कि शोषक वर्गों के कौन-कौन से प्रतिनिधि संसद में जाकर उनका प्रतिनिधित्व और दमन करेंगें।

अतः मार्क्सवाद के अनुसार उदार लोकतंत्र की संस्थाएं वर्ग-शोषण की परंम्परा को तोड़ने में असमर्थ है इसके विपरीत यह ऐसा साधन है जो शोषक वर्ग को निरन्तर सतारूढ़ रखने में सहायता देता है ताकि वह लगातार अपनी स्वार्थपूर्ति करता है।

14.5.5 लोकतंत्र का सहभागितामूलक लोकतंत्र का सिद्धांत-

सहभागिता मूलक लोकतंत्र मूलतः लोकतंत्रीय प्रक्रिया में साधारण नागरिकों की सहभागिता पर बल देता है। सहभागितामूलक लोकतंत्र का सिद्धांत प्रतिनिधि लोकतंत्र प्रतिरूप को चुनौती देते हुए जनसाधारण की राजनीतिक सहभागिता को लोकतंत्र का बुनियादी लक्षण मानता है। इस सहभागिता के अंतर्गत कोई व्यक्ति सार्वजनिक नीतियों और निर्णयों के निर्माण, निरूपण और कार्यान्वयन की प्रक्रिया में सक्रीय भाग लेते हैं यह किसी भी प्रकार की राजनीतिक, सरकारी अधिकारी या साधारण नागरिक की गतिविधि हो सकती है। यह साधारण नागरिक की लोकतान्त्रिक प्रक्रिया में सहभागिता पर बल देता है। लोकतंत्र में नागरिक सहभागिता को आंकने के लिए अधिकांश अध्ययनों में मतदान में भाग लेने वाले नागरिकों को सहभागी मान लिया जाता है, कहीं राजनितिक दलों के प्रचार में हिस्सा लेने वालों को सहभागी माना जाता है । एक अलग तरीका यह भी है जिसमें समुदाय के सदस्य किसी सामूहिक उद्देश्य को पूरा करने के लिए मिल जुलकर काम करते है। इसके

अतिरिक यदि कोई नागरिक अपनी व्यक्तिगत या सार्वजनिक मामले को सुलझाने के लिए प्रतिनिधियों से संपर्क करता है या कोई व्यक्ति जुलूस, विरोध-प्रदर्शन , हड़ताल, धरने या बहिष्कार की गतिविधियों में शामिल होता है तो यह एक प्रकार से राजनीतिक सहभागिता की अभिव्यक्ति है।

लोकतंत्रीय सहभागिता सरकार और नागरिकों के बीच सक्रीय परस्पर-क्रिया की मांग करती है। जब एक पक्ष क्रिया करता है तो दूसरा पक्ष उसका प्रतिउत्तर देता है। लोकतान्त्रिक सहभागिता के लिए सरकार या नागरिक पहल कर सकते है। जिसके लिए परम्परागत और गैर परम्परागत तरीके जैसे- हित समूह, उपक्रम, प्रत्यावाहन, सार्वजानिक सुनवाई, सलाहकार परिषद, परिप्रेच्छा, सविनय अवज्ञा, राजनितिक हिंसा आदि अपनाये जा सकते है।

आज के प्रतिनिधि लोकतंत्र में समस्याएं दिखाई देती हैं ,आम नागरिकों में राजनीतिक मुद्दों की समझ का अभाव देखा जा रहा है। यह अज्ञानता केवल तथ्यों की कमी नहीं है, बल्कि नीतिगत मामलों की जटिलता को समझने की क्षमता का अभाव है। चुनावी प्रक्रिया में नागरिकों की घटती भागीदारी एक गंभीर चिंता का विषय है। यह उदासीनता केवल मतदान तक सीमित नहीं है, बल्कि राजनीतिक चर्चा और सामुदायिक गतिविधियों से भी दूरी बनाने में प्रकट होती है।प्रतिनिधियों की जवाबदेही का संकट देखने को मिलता है, निर्वाचित प्रतिनिधि अक्सर अपने मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी नहीं दिखते। चुनाव के बाद वे जनता से कटकर अपनी नीतियां बनाते हैं। शक्ति के केंद्रीकरण और जनभागीदारी की कमी के कारण भ्रष्टाचार और शक्ति के दुरुपयोग की घटनाएं बढ़ रही हैं। ये समस्याएं मुख्यतः इसलिए उत्पन्न होती हैं क्योंकि अधिकांश नागरिकों को केवल चुनाव के समय ही राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने का अवसर मिलता है। दैनिक राजनीतिक निर्णयों में जनता की कोई भूमिका नहीं होती है। सामान्यतः सत्ता और जनता के बीच एक व्यापक खाई बन जाती है।

ज्यां जाक रूसो ने 18वीं सदी में ही इस समस्या को पहचाना था। रूसो का मत था कि वास्तविक लोकतंत्र तभी संभव है जब नागरिक सार्वजनिक निर्णयों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लें। उन्होंने कहा था, "संप्रभुता हस्तांतरित नहीं की जा सकती।"रूसो के सामान्य इच्छा का सिद्धांत के अनुसार, जब नागरिक सामूहिक रूप से निर्णय लेते हैं, तो वे व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर सामान्य कल्याण के बारे में सोचते हैं। राजनीतिक सहभागिता व्यक्ति के नैतिक विकास में योगदान देती है और उसे बेहतर नागरिक बनाती है।

आधुनिक समय में बड़े राष्ट्र-राज्यों में रूसो के सिद्धांतों को लागू करने के लिए दो मुख्य रणनीतियां अपनाई जा रही हैं। विकेंद्रीकरण (Decentralization) को अपनाकर ,स्थानीय स्वशासन को

मजबूत बनाना, भारत में पंचायती राज व्यवस्था इसका उदाहरण है। निर्णय लेने की शक्ति को जमीनी स्तर तक पहुंचाना और स्थानीय समुदायों को अपनी समस्याओं के समाधान का अधिकार देना। जनमत संग्रह (Referendum) की प्रक्रिया जिसमें महत्वपूर्ण नीतिगत मुद्दों पर सीधे जनता से राय लेना, डिजिटल प्लेटफॉर्म के माध्यम से आसान मतदान, नागरिकों को नीति निर्माण में प्रत्यक्ष भागीदारी का अवसर देकर भी यह रणनीति अपनायी जा सकती है। स्विट्जरलैंड में इसका व्यापक प्रयोग किया जाता है।

नागरिक सहभागिता को सही बताते हुए राजनीतिक सिद्धांत तीन तर्क देता है: नैमित्तिक दृष्टिकोण, विकासात्मक दृष्टिकोण, सामुदायिक दृष्टिकोण

नैमित्तिक दृष्टिकोण (Instrumental View) का मतलब है कि नागरिक राजनीतिक सहभागिता को एक साधन के रूप में देखते हैं, न कि अपने आप में एक लक्ष्य के रूप में। इस दृष्टिकोण के अनुसार लोग राजनीति में इसलिए भाग लेते हैं क्योंकि इससे उनके व्यक्तिगत या समूहिक हितों की रक्षा होती है। प्रत्येक व्यक्ति राजनीतिक गतिविधि में भाग लेने से पहले इसकी लागत और लाभ का आकलन करता है। इस दृष्टिकोण में सहभागिता का मूल्य उसके परिणामों से तय होता है, न कि सहभागिता की प्रक्रिया से। राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के लिए समय निकालना, सभाओं, बैठकों, और प्रदर्शनों में शामिल होना, राजनीतिक मुद्दों का अध्ययन करना इसके अंतर्गत आता है।

नैमित्तिक दृष्टिकोण सहभागितामूलक लोकतंत्र की समझ में एक महत्वपूर्ण योगदान देता है। यह मानव स्वभाव की वास्तविकताओं को पहचानते हुए राजनीतिक सहभागिता के लिए व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। हालांकि इसकी सीमाएं भी हैं, लेकिन अन्य दृष्टिकोणों के साथ संयोजन करके एक संतुलित और प्रभावी लोकतांत्रिक व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है।भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में, जहां विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लोग रहते हैं, नैमित्तिक दृष्टिकोण एक व्यावहारिक समाधान प्रदान कर सकता है। यह दृष्टिकोण न केवल राजनीतिक सहभागिता बढ़ाने में मदद कर सकता है, बल्कि लोकतांत्रिक संस्थानों को मजबूत बनाने में भी योगदान दे सकता है।

विकासात्मक दृष्टिकोण के अनुसार सहभागिता की प्रक्रिया नागरिकों की नैतिक, सामाजिक और राजनितिक सजगता को बढाती है।

सामुदायिक दृष्टिकोण के अंतर्गत नागरिक सहभागिता सामान्य हित को बढ़ावा देती है।

सहभागितामूलक लोकतंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि हम कितनी कुशलता से विभिन्न दृष्टिकोणों को संयोजित करते हैं और नागरिकों की वास्तविक जरूरतों और प्रेरणाओं को समझते हैं। नैमित्तिक दृष्टिकोण इस यात्रा में एक महत्वपूर्ण पड़ाव है, जो हमें एक अधिक प्रभावी और जवाबदेह लोकतांत्रिक व्यवस्था की दिशा में ले जा सकता है।

14.5.6 लोकतंत्र का विचाराणात्मक सिद्धांत-

लोकतंत्र का विचाराणात्मक सिद्धांत 1990 के दशक की शुरुआत में लोकप्रिय हुआ। विचाराणात्मक लोकतंत्र का सिद्धांत लोकप्रिय प्रभुसत्ता और उदार लोकतंत्र से जुड़ें विचारों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास है। लोकप्रिय प्रभुसत्ता के समर्थक लोकप्रिय शासन की मांग करते हैं जबकि उदार लोकतंत्र के समर्थक नागरिक स्वतंत्रताओं को लोकतंत्र का आधार-तत्व मानते हैं। लोकतंत्र का विचाराणात्मक सिद्धांत इन दोनों तत्वों को मिलकर राजनितिक विचार-विमर्श को बढ़ावा देना चाहता है। लोकतंत्र का विचाराणात्मक सिद्धांत की दृष्टि में नागरिक स्वतंत्रता और राजनितिक समानता वहीं तक महत्वपूर्ण हैं जहाँ तक ये विभिन्न व्यक्तियों को तर्कसम्मत विचार के माध्यम से अपने जीवन को मनचाहा रूप देने में सहायता करती है लोकप्रिय शासन इसलिए महत्वपूर्ण है कि वह सार्वजानिक महत्व के मुद्दों पर सार्वजानिक विचारणा को बढ़ावा देता है।

जहाँ उदार लोकतंत्र में राजनीतिक प्रक्रिया में व्यक्ति अपने हित के लिए एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते है। वहीं विचाराणात्मक लोकतंत्र में राजनीति को ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखता है जिसमें विभिन्न व्यक्ति अपनी अपनी सूझ -बूझ के अनुसार तर्कसंगत नीति अपनाने के लिए एक-दूसरे को समझाने-बुझाने का प्रयत्न करते हैं। विचाराणात्मक लोकतंत्र का मत है कि सार्वजनिक उत्तरदायित्व से संबंधी संस्थाओं को लोगों के जीवन को प्रभावित करने वाले सार्वजनिक मुद्दे पर विचार-विमर्श को बढ़ावा देना चाहिए।जैसे नेताओं को अपने निर्णयों के औचित्य को जनता के सामने रखना चाहिए और उन्हें यह विश्वास दिलाना चाहिए कि निर्णय उनके लिए हितकर है। विचाराणात्मक लोकतंत्र नागरिकों के अलग अलग हितों में स्वाभाविक सामंजस्य को बढ़ावा देना चाहता है।

अभ्यास प्रश्न

1. लोकतंत्र भीड़तंत्र (mob rule) के रूप में देखा

2.सामान्य इच्छा" (General Will) की अवधारणा किसने प्रस्तुत की

3.जीवन स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकारों को प्राकृतिक अधिकार की संज्ञा दी

4."अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख" के आधार पर लोकतंत्र का समर्थन किया।

5.अल्पतन्त्र का लौह नियम किसने प्रतिपादन किया

6.लोकतंत्र एक प्रकार का राजनीतिक खेल है जिसमें भिन्न-भिन्न तरह के समूह भाग लेते हैं

7.लोकतंत्र का कौन सा दृष्टिकोण लोकतंत्र की सार्थकता के लिए समाजवाद को अनिवार्य समझते हैं।

8.लोकतंत्र का कौन सा सिद्धांत प्रतिनिधि लोकतंत्र को चुनौती देते हुए जनसाधारण की राजनीतिक सहभागिता को लोकतंत्र का बुनियादी लक्षण मानता है।

14.6 सारांश

लोकतंत्र की अवधारणा किस प्रकार प्राचीन यूनान से विकसित हुई और प्राचीन यूनानी विचारकों ने लोकतंत्र को किस तरह देखा हमने जाना कि 17वीं और 18वीं सदी में, सामाजिक अनुबंध सिद्धांत ने आधुनिक लोकतंत्र की नींव रखी। सामाजिक अनुबंध सिद्धांत आधुनिक लोकतंत्र को इस विचार से समर्थन देता है कि सरकार लोगों की सहमति से बनती है, व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करती है, कानून के शासन के तहत काम करती है और इसलिए एक वैध सरकार है। लोकतंत्र की विभिन्न अवधारणाओं क अंतर्गत सबसे पहले लोकतंत्र का पारम्परिक उदारवादी दृष्टिकोण को समझा पारंपरिक उदारवादी दृष्टिकोण लोकतंत्र को एक ऐसी शासन प्रणाली के रूप में देखता है जो व्यक्तियों की स्वतंत्रता और समानता पर जोर देती है, जिसमें कानून का शासन, सार्वभौमिक मताधिकार और नागरिक अधिकारों की सुरक्षा शामिल है। यह दृष्टिकोण सरकार की शक्तियों को सीमित करने और व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करने पर केंद्रित है। हमें पढ़ा कि लोकतंत्र का विशिष्ट वर्गवादी सिद्धांत, जिसे अभिजन सिद्धांत भी कहा जाता है, यह मानता है कि लोकतांत्रिक समाजों में भी वास्तविक शक्ति कुछ चुनिंदा, विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के हाथों में केंद्रित होती है, जिन्हें अभिजन वर्ग कहा जाता है। यह सिद्धांत इस विचार को खारिज करता है कि लोकतंत्र में जनता का शासन होता है और इसके बजाय, यह तर्क देता है कि अभिजन वर्ग, अपनी बेहतर योग्यता, संसाधनों और प्रभाव के कारण, राजनीतिक निर्णय लेने और समाज को चलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मार्क्सवादी सिद्धांत के अंतर्गत जाना कि मार्क्सवादी लोकतंत्र के सिद्धांत और लक्ष्य को प्रमुख स्थान देते हैं।

इनका मानना है कि लोकतंत्र को मापने की कसौटी यह है कि शासन जनसाधारण के हित में कार्य करे और किसी भी प्रकार से जनता का शोषण न हो यह तभी संभव है जब समाज अमीर और गरीब में न बंटा हो।

पारंपरिक प्रतिनिधि लोकतंत्र की कमियों को देखते हुए, सहभागितामूलक लोकतंत्र एक महत्वपूर्ण विकल्प के रूप में उभरा है। सहभागिता मूलक लोकतंत्र मूलतः लोकतंत्रीय प्रक्रिया में साधारण नागरिकों की सहभागिता पर बल देता है। सहभागितामूलक लोकतंत्र का सिद्धांत प्रतिनिधि लोकतंत्र प्रतिरूप को चुनौती देते हुए जनसाधारण की राजनीतिक सहभागिता को लोकतंत्र का बुनियादी लक्षण मानता है। वहीं विचाराणात्मक लोकतंत्र राजनीति को ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखता है जिसमें विभिन्न व्यक्ति अपनी अपनी सूझ -बूझ के अनुसार तर्कसंगत नीति अपनाने के लिए एक-दूसरे को समझाने-बुझाने का प्रयत्न करते हैं।

14.7 शब्दावली

लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गवादी सिद्धान्त--इसके द्वारा यह बोध होता है कि किसी भी समाज या संगठन का अन्तर्गत प्रमुख निर्णय सिर्फ गिने-चुने लोग ही करते है, चाहे उस संगठन का बाहरी रूप कैसा भी क्यों न हो।

लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त-- बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही यह स्वीकार किया जाने लगा था कि राजनीति में व्यक्ति अकेला नहीं, बल्कि समान हितों वाली संस्थाओं एवं समूहों के माध्यम से भाग लेता है। इस सिद्धांत के अनुसार लोकतंत्र एक प्रकार का राजनीतिक खेल है जिसमें भिन्न-भिन्न तरह के समूह भाग लेते हैं।

सार्वजानिक सुनवाई - इस प्रक्रिया में सर्वजनिक अधिकारी वर्ग किन्हीं विशेष विषयों पर जनता के विचार जानने का प्रयत्न करते है। ये विचार मौखिक या लिखित रूप से आमंत्रित किये जा सकते हैं ।

लोकप्रिय संप्रभु- सरकार की शक्ति लोगों से आती है और जनता ही सरकार के कामकाज में अंतिम निर्णय लेने वाली होती है।

नागरिक स्वतंत्रताएं

विचारणा - इस प्रक्रिया में लोग अपनी समस्याओं पर अपने सहचरों और अपने नेताओं के साथ विचार-विमर्श करके अपने लक्ष्य और अपनी मांगें निर्धारित कर सकते हैं।

14.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.प्लेटो 2.जीन-जैक्स रूसो 3.जॉन लॉक 4.बेन्थम 5.राबर्ट मिशेल्स 6.मार्क्सवादी सिद्धांत 7.सहभागितामूलक लोकतंत्र

14.9 संदर्भग्रन्थसूची

1. ज्ञान सिंह सन्धु -- राजनीति के सिद्धान्त, ग्रन्थ विकास, जयपुर

2.डॉ0वी0एल साह व डॉ नीता बोरा, राजनीतिक विज्ञान का परिचय, अंकित प्रकाशन हल्द्वानी।

3.ओम प्रकाश गाबा,राजनीतिक सिद्वान्त की रूपरेखा, मजूर पेपर बैम्स नोएडा।

4.डॉ पुष्पेश पाण्डे व डॉ विजय प्रकाश पन्त, राजनीतिक सिद्वान्त, जगदम्बा पब्लिसिंग कम्पनी नई दिल्ली।

5.राजीव भार्गव व अशोक आचार्य, राजनीति सिद्धांत एक परिचय, इंडिया बाइंडिंग हाउस, नई दिल्ली.

14.10 सहायक/उपयोगीपाठ्यसामग्री

1. राजनीति के सिद्धान्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयननिदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय

2-जे.सी. जौहरी एवं सीमा चौधरी, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिकेशन प्रा0 लि0 नयी दिल्ली

14.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. लोकतंत्र के मार्क्सवादी सिद्धांतों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये?
2. लोकतंत्र के विशिष्ट वर्गवादी सिद्दांत की विस्तृत व्याख्या कीजिये।
3.लोकतंत्र के बहुलवादी सिद्धांत की व्याख्या कीजिये।
4.लोकतंत्र के पारंपरिक उदारवादी लोकतंत्र की विशेषता और लक्षण बताते हुए विस्तृत व्याख्या कीजिये।
5. लोकतंत्र के सहभागिता मूलक सिद्धांत और विचाराणात्मक सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।